CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1729

ज्ञान जगत
समन्वय विशेषांक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नेकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाश चन्द्र जी शास्त्री
प्राचार्य, श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी
द्वारा भेंट

जैन जगत

समन्वय विशेषांक

रजत जयंती अंक

वर्ष : २६, अंक ३ (वीर निर्वाण संवत २४९७) मई १९७२

वार्षिक मूल्य : ६ रुपये इस अंक का मूल्य : ५ रुपये

सम्पादक :
रिषभदास रांका
प्रवन्ध सम्पादक :
चन्दनमल 'चांद'
मुद्रणव्यवस्था :
श्रीचन्द सुराना 'सरस', आगरा

भारत जैन महामण्डल
१५/A [illegible] सर्किल, दूसरा माला,
फो[illegible]म्बई-१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्या ? कहां ? किसका ?

लेख :

सांस्कृतिक समन्वय करें	४	आचार्य विनोबा भावे
जैन एकता : दिशा दर्शन	१२	आचार्य श्री तुलसी
धर्म और सम्प्रदाय	१५	उपाध्याय अमर मुनि
समन्वय दशा और दिशायें	२७	डा० नरेन्द्र भानावत
धर्म एवं बदलते हुए मूल्य	३३	डा० नथमल टाटिया
जैन एकता के प्रयत्न	५८	मुनि श्री नथमल
क्या मतभेद में मन भेद मिट सकते हैं ?	६२	साध्वी श्री जिनप्रभा
धार्मिक मतभेद क्यों ?	६६	श्री उदय जैन शास्त्री
धर्म एवं धर्मान्धता	७४	महासती उमराव कुंवर 'अर्चना'
सब धर्मों का एक मंच....	९२	मुनि श्री नेमिचन्द्र
धर्म और सम्प्रदाय	१०३	श्री सुदर्शनसिंह
व्यष्टि से समष्टि की ओर	१०९	श्री विजयमुनि शास्त्री
ध्यान और उसकी भूमिका	११५	साध्वी श्री राजीमती
समन्वय के आधारभूत तत्त्व	१३३	साध्वी श्री मंजुला
....भारत के साधु संत	१३७	श्री अनवर आगेवान
अनेकान्तवाद....	१४१	प्रो० उमेशदत्त शुक्ल
भारत में सांप्रदायिक उन्माद....	१४७	शान्ता भानावत एम. ए.
बुनियादी एकता	१५१	श्री मणीन्द्रकुमार
विश्वविद्यालयों की भूमिका	१५६	श्रीमती राजम् पिल्ले
क्या जैन एक नहीं हो सकते ?	१६१	साध्वी श्री संघमित्रा
सम्प्रदायों का उद्भव और विकास	१६७	श्री अगरचंद नाहटा
अनेकांत और गांधीजी	१८५	डा० रामधारी सिंह 'दिनकर'
समन्वयमूलक 'संयुक्त जैन संसद'....	१९०	मुनि श्री नगराज डी० लिट्०
धर्म समन्वय की आदर्श परम्परा	२०२	श्री पुरुषोत्तम छगाणी
समन्वय सार्वकालिक सत्य की तलाश	२१२	श्री चम्पालाल एम० कोठारी
हम विश्व मान्य समन्वय के....	२१९	काका कालेलकर
धर्म क्या सिखाता है एकता या....	२२६	ज्योतिप्रसाद जैन
विश्व के धर्म....	२३२	अक्षयकुमार रांका
आत्म तत्व....एक मूल तत्व	२४१	पं० नरेन्द्रकुमार जैन भिसीकर
युवा शक्ति का समन्वय में योगदान	२४५	साध्वी प्रमुखा श्री कनकप्रभा जी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समन्वय में महिलाओं का योगदान २४८ प्रमिला हेमराज बोहरा
समन्वय का व्यावहारिक मार्ग २५१ सौ० मीना सावद्रा
धर्म और समाज में संगठन से···· २५५ भंवरलाल पोल्याका
दो पीढ़ियों का समन्वय २६१ रघुवर सी. शर्मा
समन्वयवादी उपादेय : अनेकांतवाद २६६ श्री रंजन सूरिदेव
सच्ची श्रद्धांजलि २७३ श्री शादीलाल जैन
धर्म में नयेमूल्यों का.... २७५ श्री चिमनलाल सी. शाह

कविता :

वंदना १ आचार्य हेमचन्द्र
योगी आनन्दघन जी
धर्म एक स्वर : एक आस्था ३ भगवान चौरसिया
तुम चन्दन ११ संत रैदास
गीत १४ कन्हैयालाल सेठिया
दो सूरजों के बीच ३१ रामदेव आचार्य
गीत ३२ वीरेन्द्र मिश्र
संग्रहण का ग्रहण ५७ भवानी प्रसाद मिश्र
चले नहीं कदम भर ९० डा० सुधा गुप्ता
कौन करेगा यहां समन्वय ? १३२ सरस्वती कुमार दीपक
गीत १४० नामवर
शान्ति १६४ प्रभाकर माचवे
जिया जाता है कैसे ? १६५ हरीश भादानी
रच लिए हमने भगवान १८५ ओम पुरोहित
सब देवन को गाओ १८६ संत तुकड़ो जी महाराज
टूटा हुआ आदमी २७२ चन्दनमल 'चाँद'

कहानी-एकांकी :

दिशा बोध २ 'मज्झिमनिकाय' से
आदर्श क्षमा २६ संकलन :
लहू का रंग ५१ हरमन चौहान
नरक की बस ९१ मुनि श्री छत्रमल जी
बागी मसीहा १७४ दीनदयाल 'कुन्दन'
शैतान और उसके चेले २१० डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री
चेतना १२१ राजेन्द्र नगावत

□□

पुस्तक सं० 9352
दिनांक..........

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्पादकीय

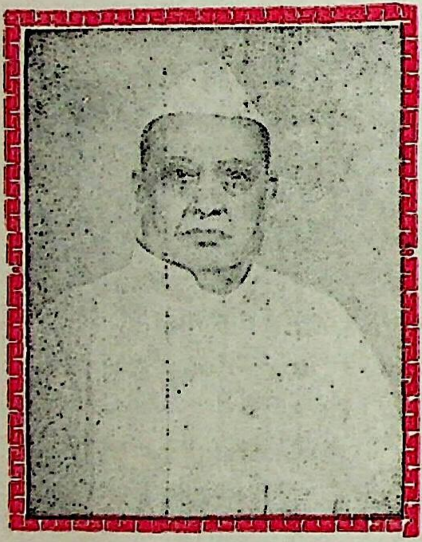

विविधता विशिष्टता और अनेकान्त दृष्टि

विश्व में अनेक धर्म हैं। उनमें विविधता, विशिष्टता पाई जाती है। यदि धर्मों के मूल उद्देश्य को गहराई से न समझकर, बाहरी रूप को देखा जाता है तो गलतफहमियां होती हैं जो झगड़े और वाद-विवाद में परिणत होती हैं तथा धर्म का उद्देश्य भुलाकर धर्म के नाम पर अधर्म किया जाता है। सभी प्राणियों को सुखपूर्वक जीने की शिक्षा देने वाले धर्म ने मानव जाति पर दुखों के पहाड़ ढाये और लाखों करोड़ों को मौत के घाट उतारा है। मानव-मानव को समान समझकर उसके साथ आत्मवत् व्यवहार करने की सीख देने वाले मानव में भेद की दीवारें खड़ी की, एक दूसरे का शोषण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी किया जुल्म और अन्याय किया। धर्म के बिलकुल विपरीत काम करने में धर्म का दुरुपयोग हुआ और हो रहा है। धर्म का उद्देश्य विफल होता देखकर कुछ चिन्तकों ने उसे अफीम की-गोली कहना शुरु किया। जिसे झुठलाना कठिन बनता जा रहा है। चिन्तकों के समक्ष यह प्रश्न है कि क्या इन धर्मों में मानवजाति की आज की समस्या सुलझाने की क्षमता है? और है तो उसका स्वरूप क्या हो सकता है?

यदि परम्परा का पूर्वाग्रह त्यागकर कोई सभी धर्मों के मूल तत्वों का अध्ययन करता है तो उसे सभी धर्मों में ऐसे कल्याणकारी तत्व दिखाई देते हैं, जिससे मानवीय समस्या सुलझे और मानव समाज सुख और शान्ति से रह सके। फिर प्रश्न होता है कि यदि सभी धर्मों में कल्याणकारी तत्व है तो फिर उसमें विविधता क्यों पाई जाती है? वास्तव में मानव जाति का धारण, पोषण, संरक्षण और सत्वसंशुद्धि होती रहे इसी दृष्टि से स्थापित धर्मों में जो विविधता और भिन्नता दिखाई देती है उसका कारण देश, काल और परिस्थितियां होती हैं। कल्याणकारी तत्वों का पालन उस देश और काल की परिस्थिति के अनुरूप होता है। एक ही धर्म के मानने वाले आज भी समान रूप से उसका आचरण करते हुए दिखाई नहीं देते वे भी अपनी-अपनी पात्रता और योग्यता के अनुसार उसे आचरण में लाते है तो भिन्न-भिन्न देशों में, काल में उसका अन्तर पड़े तो उसमें आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं। पर कठिनाई वहां होती है जब हर धर्म का अनुयायी अपनी परम्परा के मान्य पुरुष के कथन को एकमात्र कल्याणकारी मार्ग मानकर उसके पालन का दूसरों से आग्रह करता है। अपनी परम्परा को एकान्त रूप से कल्याणकारी मानने लगता है। यह अपनी परम्परा के प्रति एकान्त निष्ठा सभी झगड़ों के मूल में होती है।

यदि अपनी परम्परा के प्रति एकान्तनिष्ठा अनिष्टकारी है तो उन धर्म चिन्तकों या संस्थापकों ने अपने अनुयायियों को अपनी परम्परा के प्रति एक निष्ठ रहने का आदेश क्यों दिया? क्या इस अनिष्ट को वे नहीं जानते थे? वे इस अनिष्ट से अपरिचित थे? ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन प्रत्येक धर्म संस्थापक ने यही कहा है कि मेरी तरह धर्म की व्यवस्था करने वाले व मानव समाज में धर्म का प्रसार करने वाले, अनेक अवतार, पेगम्बर, तीर्थंकर और बुद्ध हो गये हैं। उन्होंने अपने समय में धर्म का जनता को उप-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देश देकर मार्गदर्शन किया है। आज के समय में मैं यह धर्म बता रहा हूं जो तुम्हारे लिए कल्याणकारी है, उसका निष्ठापूर्वक पालन करो। किसी भी धर्म या कर्त्तव्य का निष्ठापूर्वक पालन किये विना उसका उचित फल प्राप्त नहीं हो सकता इसलिए साधक को धर्मसाधना के प्रति एकनिष्ठ रहने का आदेश दिया गया पर उसमें कठिनाई यह हो गई कि अपनी. धार्मिक परम्परा के प्रति एकनिष्ठ आचरण करने की अपेक्षा वैसा आचरण दूसरा करें इस पर हर एक धर्मानुयायी अधिक जोर देने लगा। उसकी एकान्त दृष्टि ने धर्म के कल्याणकारी रूप को अनिष्टकारक बनाया।

धर्म संस्थापकों के व्यापक, कल्याणकारी रूप को अनिष्ट में परिवर्तित करने का काम अपने ही धर्म का प्रसार करने वाले उन धर्मों के अनुयायियों ने किया। धर्म के कल्याणकारी रूप को बनाये रखने के लिए प्रत्येक धर्म के प्रसारक अवतार, पैगम्बर या तीर्थंकरों ने सावधानी रखी थी। ऐसे सभी प्रमुख धर्मों में जैनधर्म भी एक है जिसकी परम्परा में अनेक तीर्थंकर हुए उनमें से अन्तिम तीर्थंकर महावीर ने इस एकान्तवाद की बुराई के प्रति सजग रहकर अपनी परम्परा को अनेकान्त की देन दी जिसमें उनके अनुयायी अपनी परम्परा के प्रति निष्ठा रखते हुए भी दूसरों के प्रति उदार और तटस्थ बने रहें।

इस अनेकान्त दृष्टि का अधिक विकास और व्यवस्थित रूप भले ही भगवान महावीर ने दिया हो, किन्तु उसका मूल प्राचीनकाल से चला आ रहा है। भगवान महावीर और उनके बाद के आचार्यों ने अनेकान्त दृष्टि का विकास किया। इसका विवेचन जैन साहित्य में पाया जाता है। अनेकान्त सत्य प्रकाशन की वह शैली है जो सत्य की पूर्णता और यथार्थता का दर्शन कराती है। जो पूर्ण होकर भी यथार्थ रूप से प्रतीत हो।

धर्मों में देश, काल, परिस्थिति आदि के कारण भेद उत्पन्न होते हैं। अनेकान्त दृष्टि उस भेद में से धर्मों की विशेषता को समझती है और व्यावहारिक तथा पारमार्थिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करती है। इसलिए जैन आचार्यों ने कहा है कि सभी दर्शनों का एकत्र होना ही जैनदर्शन है। अनेकान्त दृष्टि वाले से अपेक्षा यह रखी जाती है कि वह राग-द्वेष या पूर्व-संस्कारों के वशीभूत न होकर मध्यस्थभाव रखे। ऐसी माध्यस्थ दृष्टि जल्दी विकसित हो यह सम्भव, नहीं इसलिए, जब तक उसका पूर्ण विकास न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो तब तक अपने उद्देश्य के प्रति सावधान रहकर सत्य के प्रति जिज्ञासा रखी जाय। कैसा भी विरोधी या प्रतिकूल पक्ष हो, अपने पक्ष के प्रति दृढ़ता रखते हुए भी प्रतिपक्ष के विचारों के प्रति आदर रखना। अपने पक्ष के प्रति भी समालोचक की दृष्टि रखते हुये जहां जी उचित और ठीक जंचे उसे विवेक की कसौटी पर चढ़ा कर अपनाने का प्रयत्न करना। दूसरों के प्रति उदारता का अभ्यास कर अनुभव से गलती दिखाई दे उसे मिथ्या अभिमान न रखते हुए छोड़ना।

इसमें सन्देह नहीं कि इस अनेकान्त दृष्टि पर आचार्य समन्तभद्र, सिद्धसेन हरिभद्र, अकलंक, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, वादिदेव सूरि, हेमचन्द्र, यशोविजयजी जैसे प्रकाण्ड विद्वानों ने बहुत लिखा है और जो भारतीय साहित्य में बहुत बड़ी देन है। किन्तु इस साहित्य का उपयोग तत्वरूप में ग्रहण कर आचरण करने की अपेक्षा वाद-विवाद में श्रेष्ठ बताने में ही अधिक हुआ दिखाई पड़ता है। तभी महान तत्वों से सामाजिक और राष्ट्रीय समस्यायें सुलझाने के एवज में मन्दिरों, उपाश्रयों में, प्रवचनो में ही उसकी श्रेष्ठता के गीत गाये जाते हैं। सैकड़ों धर्मगुरु तथा पंडित अहिंसा, अनेकान्त की सूक्ष्म चर्चा तो करते हैं किन्तु वे स्वयं उन्हें अपनाते हों ऐसा नहीं लगता। यदि उनमें अनेकांत दृष्टि होती या वे अनेकांत दृष्टि को सर्वोत्तम मानते तो मन्दिर, तीर्थ, धार्मिक प्रथाओं, सामाजिक रूढ़ियों, वेषभूषा आदि बातों को लेकर आपस में नहीं लड़ते। वे अपनी समस्याओं के समाधान के लिये न्यायालय या उच्च न्यायालयों के दरवाजे नहीं खटखटाते। जैनी आपस में झगड़ों का हल अनेकांत से किये बिना हाथ में पोथियां लेकर अनेकान्त की सूक्ष्म व्याख्यायें करें उसका कोई उपयोग नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि जैनी अहिंसा और अनेकान्त को महान तत्व मानते हैं। अनेकांत और अहिंसा की चर्चा करने वाले ग्रन्थों ग्रन्थ भण्डारों उनके रचयिता की ही नहीं, जहां वे ग्रन्थ रचे गये उन स्थानों की भी पूजा करते हैं। वहाँ फूल ही नहीं सोना-चांदी तथा जवाहरात के ढेर लगा देते हैं। ऐसे कार्यों पर करोड़ों नहीं, अरबों का खर्च उन्होंने किया है, ऐसी उनकी तीव्र भावना रही है पर उन जैनियों के जीवन में वही पामरता दिखाई देती है जो अहिंसा व अनेकांत के पुजारी नहीं है। पर दूसरी ओर गांधीजी की अहिंसा और समन्वयशील व्यवहार के लिए उनके प्रतिपक्षी भी कायल होकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देश देकर मार्गदर्शन किया है। आज के समय में मैं यह धर्म बता रहा हूं जो तुम्हारे लिए कल्याणकारी है, उसका निष्ठापूर्वक पालन करो। किसी भी धर्म या कर्त्तव्य का निष्ठापूर्वक पालन किये बिना उसका उचित फल प्राप्त नहीं हो सकता इसलिए साधक को धर्मसाधना के प्रति एकनिष्ठ रहने का आदेश दिया गया पर उसमें कठिनाई यह हो गई कि अपनी धार्मिक परम्परा के प्रति एकनिष्ठ आचरण करने की अपेक्षा वैसा आचरण दूसरा करें इस पर हर एक धर्मानुयायी अधिक जोर देने लगा। उसकी एकान्त दृष्टि ने धर्म के कल्याणकारी रूप को अनिष्टकारक बनाया।

धर्म संस्थापकों के व्यापक, कल्याणकारी रूप को अनिष्ट में परिवर्तित करने का काम अपने ही धर्म का प्रसार करने वाले उन धर्मों के अनुयायियों ने किया। धर्म के कल्याणकारी रूप को बनाये रखने के लिए प्रत्येक धर्म के प्रसारक अवतार, पैगम्बर या तीर्थंकरों ने सावधानी रखी थी। ऐसे सभी प्रमुख धर्मों में जैनधर्म भी एक है जिसकी परम्परा में अनेक तीर्थंकर हुए उनमें से अन्तिम तीर्थंकर महावीर ने इस एकान्तवाद की बुराई के प्रति सजग रहकर अपनी परम्परा को अनेकान्त की देन दी जिसमें उनके अनुयायी अपनी परम्परा के प्रति निष्ठा रखते हुए भी दूसरों के प्रति उदार और तटस्थ बने रहें।

इस अनेकान्त दृष्टि का अधिक विकास और व्यवस्थित रूप भले ही भगवान महावीर ने दिया हो, किन्तु उसका मूल प्राचीनकाल से चला आ रहा है। भगवान महावीर और उनके बाद के आचार्यों ने अनेकान्त दृष्टि का विकास किया। इसका विवेचन जैन साहित्य में पाया जाता है। अनेकान्त सत्य प्रकाशन की वह शैली है जो सत्य की पूर्णता और यथार्थता का दर्शन कराती है। जो पूर्ण होकर भी यथार्थ रूप से प्रतीत हो।

धर्मों में देश, काल, परिस्थिति आदि के कारण भेद उत्पन्न होते हैं। अनेकान्त दृष्टि उस भेद में से धर्मों की विशेषता को समझती है और व्यावहारिक तथा पारमार्थिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करती है। इसलिए जैन आचार्यों ने कहा है कि सभी दर्शनों का एकत्र होना ही जैनदर्शन है। अनेकान्त दृष्टि वाले से अपेक्षा यह रखी जाती है कि वह राग-द्वेष या पूर्व-संस्कारों के वशीभूत न होकर मध्यस्थभाव रखे। ऐसी माध्यस्थ दृष्टि जल्दी विकसित हो यह सम्भव, नहीं इसलिए, जब तक उसका पूर्ण विकास न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो तब तक अपने उद्देश्य के प्रति सावधान रहकर सत्य के प्रति जिज्ञासा रखी जाय। कैसा भी विरोधी या प्रतिकूल पक्ष हो, अपने पक्ष के प्रति दृढ़ता रखते हुए भी प्रतिपक्ष के विचारों के प्रति आदर रखना। अपने पक्ष के प्रति भी समालोचक की दृष्टि रखते हुये जहां जी उचित और ठीक जंचे उसे विवेक की कसौटी पर चढ़ा कर अपनाने का प्रयत्न करना। दूसरों के प्रति उदारता का अभ्यास कर अनुभव से गलती दिखाई दे उसे मिथ्या अभिमान न रखते हुए छोड़ना।

इसमें सन्देह नहीं कि इस अनेकान्त दृष्टि पर आचार्य समन्तभद्र, सिद्धसेन हरिभद्र, अकलंक, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, वादिदेव सूरि, हेमचन्द्र, यशोविजयजी जैसे प्रकाण्ड विद्वानों ने बहुत लिखा है और जो भारतीय साहित्य में बहुत बड़ी देन है। किन्तु इस साहित्य का उपयोग तत्वरूप में ग्रहण कर आचरण करने की अपेक्षा वाद-विवाद में श्रेष्ठ बताने में ही अधिक हुआ दिखाई पड़ता है। तभी महान तत्वों से सामाजिक और राष्ट्रीय समस्यायें सुलझाने के एवज में मन्दिरों, उपाश्रयों में, प्रवचनो में ही उसकी श्रेष्ठता के गीत गाये जाते हैं। सैकड़ों धर्मगुरु तथा पंडित अहिंसा, अनेकान्त की सूक्ष्म चर्चा तो करते हैं किन्तु वे स्वयं उन्हें अपनाते हों ऐसा नहीं लगता। यदि उनमें अनेकांत दृष्टि होती या वे अनेकांत दृष्टि को सर्वोत्तम मानते तो मन्दिर, तीर्थ, धार्मिक प्रथाओं, सामाजिक रूढ़ियों, वेषभूषा आदि बातों को लेकर आपस में नहीं लड़ते। वे अपनी समस्याओं के समाधान के लिये न्यायालय या उच्च न्यायालयों के दरवाजे नहीं खट-खटाते। जैनी आपस में झगड़ों का हल अनेकांत से किये विना हाथ में पोथियां लेकर अनेकान्त की सूक्ष्म व्याख्यायें करें उसका कोई उपयोग नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि जैनी अहिंसा और अनेकान्त को महान तत्व मानते हैं। अनेकांत और अहिंसा की चर्चा करने वाले ग्रन्थों ग्रन्थ भण्डारों उनके रचयिता की ही नहीं, जहां वे ग्रन्थ रचे गये उन स्थानों की भी पूजा करते हैं। वहाँ फूल ही नहीं सोना-चांदी तथा जवाहरात के ढेर लगा देते हैं। ऐसे कार्यों पर करोड़ों नहीं, अरबों का खर्च उन्होंने किया है, ऐसी उनकी तीव्र भावना रही है पर उन जैनियों के जीवन में वही पामरता दिखाई देती है जो अहिंसा व अनेकांत के पुजारी नहीं है। पर दूसरी ओर गांधीजी की अहिंसा और समन्वयशील व्यवहार के लिए उनके प्रतिपक्षी भी कायल होकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उनकी प्रशंसा करते हैं। पर महावीर की उच्च अहिंसा और अनेकांत दृष्टि की ओर संसार का ध्यान नहीं जाता।

आज संसार विषम स्थितियों से गुजर रहा है। हर कहीं असन्तोष और हिंसा की आग भड़क रही है। विज्ञान ने हिंसा के ऐसे साधन निर्माण किये हैं जिससे कुछ ही क्षणों में भयानक विनाशलीला सम्पन्न की जा सकती है। यदि इस नाश से संसार को बचना है तो अहिंसा और अनेकांत के सिवाय दूसरा मार्ग नहीं दिखता। ऐसे समय हमें महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी का अवसर मिला है जिसमें भगवान महावीर के कल्याणकारी तत्वों का सम्यक् दर्शन हम दुनियां को करावें।

भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के महान-यज्ञ में हम भी कुछ योगदान दें इस दृष्टि से 'जैनजगत' ने इस समन्वय विशेषांक में देश के विद्वानों, संतों एवं आचार्यों एवं साहित्यकारों के विचार देने का प्रयत्न किया है। विशेषांक की सफलता का मूल्यांकन पाठक एवं विद्वत्वर्ग ही करेगा। हमें इस अंक की सामग्री जुटाने में लेखकों ने बहुत अच्छा योग दिया और वही योग इस अंक को सुन्दर बना सका। इसका आर्थिक प्रश्न हल करने में जिन विज्ञापनदाताओं का सहयोग प्राप्त हुआ हम उनके आभारी हैं।

इन दिनों मेरी ऐसी व्यस्तता रही कि मैं चाहकर भी इस विषय में कुछ विशेष नहीं कर पाया। मेरे साथी श्री चन्दनमल 'चांद', दीनदयाल 'कुन्दन' राजेन्द्र नगावत, भूपेन्द्र सी० कामदार एवं अक्षयकुमार रांका आदि का आभारी हूँ जिन्होंने इस अंक को सुन्दर एवं उपयोगी बनाने में अपनी शक्ति एवं योग्यता से सहयोग दिया।

प्रकाशन में श्री श्रीचन्द सुराणा 'सरस' ने परिश्रम किया जिसके परिणामस्वरूप यह अंक इतना अच्छा बन सका।

सबके श्रेय की सार्थकता इसी में है कि पाठक इस अंक का अधिक से अधिक लाभ उठावे। हम तो इसे भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के महान यज्ञ में अपना अल्प योगदान मानते हैं।

—रिषभदास रांका

★★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन जगत

रजत जयन्ती विशेषांक

अप्रेल १९७२

समन्वय अंक

भव बीजाङ्कुर जनना,
रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा,
हरो जिनो वा नमस्तस्मै।

—आचार्य हेमचन्द्र

वन्दना

राम कहो, रहमान कहो कोउ कान्ह कहो महादेवरी,
पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेवरी!
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृतिका रूप री!
तैसे खण्ड कल्पना रोपित आप अखण्ड स्वरूप री!
निज पद रमै राम सो कहिये रहिम कहे रहमान री!
करषै कर्म कान्ह सो कहिये ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री
इस विध साधो आप 'आनन्दघन' चेतनमय निष्कर्म री।

—योगी आनन्दघन जी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिशा बोध

धर्म आत्मा की दिव्यता है, जाति, वर्ण एवं कुल की सीमाएं उसके तेज को मन्द नहीं कर सकती।

भिक्षु आनन्द एक बार श्रावस्ती के राजपथ पर भ्रमण कर रहे थे। भयंकर धूप के कारण मारे प्यास से उनका गला सूख रहा था। एक गृहद्वार पर खड़ी तरुणी की ओर देखकर आनन्द ने पानी की याचना की।

तरुणी ने हाथ में जल का बर्तन लिया, पर सकुचाते हुए उसने नम्र दृष्टि से भिक्षु की ओर देखकर कहा--"पर भिक्षु ! मैं चण्डाल कन्या हूं।" उसके हाथ कांप रहे थे।

आनन्द के सांत्वना के स्वर में कहा—"सुभगे ! मैंने पानी माँगा था, जाति नहीं पूछी !" और तरुणी ने श्रद्धा के साथ भिक्षु को जल पिलाया।

चण्डाल कन्या आनन्द के समभाव से प्रभावित होकर तथागत के पास आई, उसने ज्ञान प्राप्त किया, और प्रव्रजित हो गई।

चण्डाल कन्या की प्रव्रज्या देखकर श्रावस्ती के उच्चवर्गीय लोगों में खलबली मच गयी। राजा प्रसेनजित भी कुछ भ्रांत और उत्तेजित हुए तथागत के पास आये। तथागत बुद्ध ने उनके हृदय का अन्धकार दूर करते हुए कहा—"कोई भी बड़ा मनुष्य आकाश से नहीं उतरता, और कोई भी मनुष्य पाताल से नहीं निकलता। स्वयं के आचार-विचार से ही सब छोटे-बड़े बनते हैं। कर्म, विद्या, शील और उत्तम जीवन इनसे ही मनुष्य शुद्ध होते हैं, गोत्र और धन से नहीं।"

बुद्ध के उपदेश से सब की भ्रांति दूर हट गई।

—मज्झिमनिकाय ३।४३।३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्म : एक स्वर : एक आस्था

गीत

हमारे लिए यह जरूरी नहीं
कि हम—
हिन्दु हों
बौद्ध हों
जैन हों
ईसाई हों—
या मुसलमान हों
जरूरी तो यह है
कि हम इन्सान हों।

मन्दिर का राम
गिरजे का मसीहा
जैनों का महावीर
बौद्धों का तथागत
या मस्जिद का ख़ुदा
एक ही रहें हैं सदा।

धर्म या मज़हब
अमृत का प्याला है
आबे-हयात है
इन्सान की पहली और आखिरी
जरूरीयात है।

इसलिए—
जरूरी यह है कि
आदमी-आदमी से प्यार करे
आदमी के लिए जिये
आदमी के लिए मरे।

□ भगवान चौरसिया
१४, बापू नगर,
अजमेर (राजस्थान)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

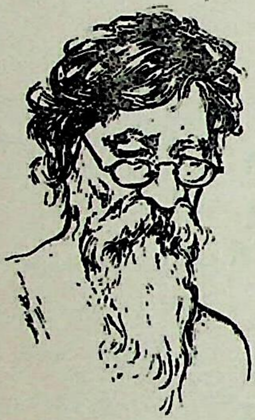

देह का सौन्दर्य समग्रता में ही है...
वस्त्र का सौन्दर्य उसकी अखण्डता में हैं।....समाज और राष्ट्र का सौन्दर्य उसकी एकता में है। एकता में, समग्रता में जो सौन्दर्य और मिठास है वह....

□ आचार्य विनोबा भावे

जाति-भेद और आर्थिक वैषम्य मिटा कर

सांस्कृतिक समन्वय करें

भारत का आकर्षक सौन्दर्य

हमारा यह भारत देश परम पवित्र प्रदेश है, ऐसा हमारे पूर्वज कहा करते थे। हम भी यही कहते हैं। यहा की मिट्टी के कण-कण में और यहां की हवा के अणु-परमाणु में कुछ अनिर्वचनीय चमत्कार भरा हुआ है, इसकी अनुभूति मुझे सदैव हुआ करती है। इस देश के चेहरों में मुझे जो सौन्दर्य, पावित्र्य माधुर्य और गाम्भीर्य देखने को मिलता है, उसे देखते रहने के लिए अगर मुझे अनेक जन्म लेने पड़ें, तो उसके लिए मैं तैयार हूँ :-

"न लगे मुक्ति धन सम्पदा,
भारतीयांचा संग देई सदा।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विश्व मानव सेवा ही हमारा लक्ष्य

मेरी दृष्टि में भारतीय और अन्य मानवों में किसी तरह का भेद नहीं है। इसके विपरीत ऋग्वेद की आज्ञा है कि हमें विश्वमानव की सेवा करनी हैं। गीता में भी "सर्वूभतहितेरताः" यह वचन पाया जाता है। महाभारत में वेदव्यास कहते हैं :—

"सर्वेषां यः सुहृत् नित्यं सर्वेषां च हिते रतः।
कर्मणा मनसा वाचा सकर्मं वेद नेतरः॥"

यानी जो सबके हित में मग्न रहे, जो मन, वचन और कर्म से सबका मित्र हो, जो विश्व मानव हो, उसके ही समझ में ही धर्म आता, दूसरों के नहीं। जिसे मानव के दर्शन से अभेद का अनुभव नहीं होता, वहां धर्म नहीं रहता। इसलिए मैंने भारतीय और अभारतीय यह भेद ही नहीं किया तथा "जय जगत" का नारा शुरु कर दिया है। "जय हिन्द, जय भारत, जय ग्रामदान" ये सभी नारे उसके पेट में आ जाते हैं। विशाल मानव दर्शन के एक अंग के रूप में ही भारतीयता निखर उठती है।

समग्रता में ही सौन्दर्य

देह का सौन्दर्य समग्रता में ही है। मैं अगर अपने अवयव अलग-अलग काट कर रखदूं, तो उसका सौन्दर्य जाता रहेगा। आंख, कान या नाक काट कर अलग रखने पर न तो वे सुन्दर दीखेंगे और न अपना-अपना काम ही कर पायेंगे। वे ही एक समग्र शरीर में रहते है और परस्पर सहकार करते है, तो सुन्दर और कार्यकारी हो पाते हैं। जब सारा गांव, समाज एक देह का अवयव बनकर रहेगा, तभी उसे स्वास्थ्य लाभ होगा, उसें सुख मिलेगा। किसी बुनकर द्वारा कुशलता से बुने किसी अखण्ड वस्त्र को फाड़कर चिन्दी-चिन्दी कर दी जाय तो उसमें क्या सौन्दर्य रह जायगा? इसी तरह दुनियां के या समाज के टुकड़े करेंगे तो उसका सौन्दर्य, उनकी मिठास जाती रहेगी। विशेषतः अब विज्ञान का युग आ जाने से जब मानव-मानव के सम्बन्ध निकट होंगे, तभी मानव और मानवता टिक पायेगी, अन्यथा वह टिक न सकेगी।

मानवों का नैकट्य : भारत की प्राचीन प्रक्रिया

भूदान और ग्रामदान से भले ही भारत की किसी समस्या का हल हो जाता हो, पर उसने सारे विश्व का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुनियां के सभी लोग........युरोप, अमेरीका तथा एशिया के विभिन्न देशवासी विनोबा जी से मिलना और उनके कार्य की जानकारी हासिल करना चाहते हैं। कारण आज सारे मानव निकट आ गये हैं। निकट आने की यह प्रक्रिया भारत के लिये नई नहीं है। यह भारतीय प्रक्रिया ही है। भारतीय जनता का विश्लेषण करने पर यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

जाति भेद का उद्गम भव्य दिव्य

ये जाति भेद क्या है, यह देखा जाय तो उसमें आपको दिव्य-भव्य सौन्दर्य देखने को मिलेगा। यह सच है कि अब हमें यह भेद मिटाना है। अब उसकी कोई आवश्यकता नहीं रही। अब हमें सारा भारत एक कर, सब मिलकर देश की सेवा करनी है। जातिभेद जानेवाला ही है और जा ही रहा है। चुनाव के कारण उसे थोड़ा सा प्रोत्साहन अवश्य मिल रहा है। लेकिन उसका भी उपाय करना पड़ेगा। फिर भी वह मिटेगा ही, कारण विज्ञान-युग में वह टिक नहीं सकता। किन्तु वह हिन्दुस्तान में किस तरह आया, इस ओर जब मैं ध्यान देता हूं, तो एक अद्भुत सौन्दर्य का दर्शन होता है।

एशिया सभी धर्मों का उद्गम स्थान

यहां हमारे सामने जो लोग बैठे हैं, उनके पूर्वज कहां से आये, इसका पता लगाया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि किसी के पूर्वज एशिया माइनर से, किसी के जापान से, किसी के आस्ट्रेलिया से, किसी के मेक्सिको से, किसी के अफ्रीका से, तो किसी के युरोप से आये हैं। कई लोग कहते हैं कि हिन्दुस्तान में ईसाई धर्म पोर्तुगीज, अंग्रेज और डचों के साथ आया। लेकिन यह घोर अज्ञान ही है। ईसा के बाद सिर्फ पचासवर्षों से मालाबार के किनारे पर ईसा के ११ शिष्यों में से एक सेण्ट थामस हिन्दुस्तान में आया। इंगलेण्ड में तो भारत में आने के पांच सौ वर्ष बाद ईसाई धर्म पहुंच पाया। ईसाई धर्म एशिया का धर्म है विश्व में जितने भी धर्म फैले उनका उद्गम स्थान एशिया ही है। यहां यहुदी आये, जिन्हें २२ सौ वर्ष हो गये। हिन्दुस्तान में ईस्माईल आये और महाराष्ट्र में वे बनी इस्माईल के नाम से प्रसिद्ध हुये। १३ सौ वर्ष पूर्व भारत में पारसी लोग आये। उनके बाद हूण, तातार, शक, यूनानी, तिब्बती, हिन्द एशियाई, मेक्सिकन सभी लोग आये।

भारत-मेक्सिको का घनिष्ट सम्बन्ध

अभी मैंने मेक्सिको का नाम लिया। इसके पीछे एक बड़ा ही रमणीय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इतिहास है। मेक्सिको से मुझे एक पत्र मिला है। उसमें वह लिखता है कि "इस देश की कृषि समस्या हल करने की दृष्टि से आपका कार्य दुनियां का क्रांतिकारी कार्य है, ऐसा मुझे लग रहा है इसीलिए मेरा ध्यान इसकी ओर आकृष्ट हो गया। आप हमें सलाह देंगे, इस आशा से यह पत्र लिख रहा हूं। वैसे देखा जाय तो मेक्सिको से मेरा कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं। फिर भी हिन्दुस्तान और मेक्सिको के बीच गहरी मित्रता है, वह मैं पहले ही जानता हूं। हिन्दुस्तान की संस्कृति का अध्ययन करते समय मुझे स्पष्ट हो गया कि उसका मेक्सिको से गहरा सम्बन्ध रहा।

प्राचीन हिन्दुस्तान के लोग दूर-दूर की यात्रा किया करते थे। आज ही जब छोटे जहाज में बैठा तो मैं मन ही मन ऋग्वेद का एक मंत्र कह रह था। जिस तरह कुछ समय पूर्व फ्रेंच, डच और अंग्रेज यहां आये, उसी तरह आर्य भी दूर देश में जाया करते थे।

सन: पर्षदति दुगर्पणि विश्वा,
नावेव सिन्धुं दुरितात्मानि।

अर्थात् हे अग्निदेव ! जिस तरह नौका द्वारा समुद्र पार किया जाता है; उसी तरह हम लोग भी आपकी कृपा से पार हो जाय। यानी उस समय नौका से समुद्र पार करना सम्भव था।

संस्कृत में सोने के लिए जिस तरह स्वर्ण, कांचन, हेम आदि शब्द पाये जाते है उसी तरह "माक्षिक" भी कहा जाता है। एक टीकाकार ने इस माक्षिक शब्द का अर्थ "मक्षिकाया: भवं माक्षिकम्" ऐसा किया है। किन्तु मक्खीं से कभी सोना नहीं होता। किन्तु मेक्सिको में सोना है, इसीलिये माक्षिक कहा जाता है तो वह ठीक बैठता है। वेद में सोने के लिए एक "पारूणम्" शब्द भी आता है। उसकी भी इसी तरह संगति बैठाई जा सकती है। बात यह है कि अमेरिका में "पेरू" नामक एक देश है, जिसे अंग्रेजी में "पारू" कहा जाता है। उस देश का सोना ही पारूणम् हो सकता है। इस तरह स्पष्ट है कि प्राचीन काल में हिन्दुस्तान के लोग ज्ञान-प्रसारार्थ इतने दूर-दूर जाया करते थे। सचमुच यह भारत का कितना वैभव और कितनी प्रतिभा है। आज के विज्ञान युग में तो सद्-विचारों का प्रचार और भी शीघ्र हो जायगा। आज विज्ञान युग के कारण हिस्दुस्तान और दुनियां के बीच दीवाल नहीं रह गयी है। इसलिए जिस तरह बाहर के विचार यहां आयेंगे उसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तरह यहां का हमारा सर्वोदय विचार भी विश्व भर मे फैल जायगा। इसी लिए हमें विज्ञान से तनिक भी भय नहीं।

जातिभेद का मूल सह-अस्तित्व भावना

सारांश हिन्दुस्तान ने एकता का वह शास्त्र ही बना लिया है। जातिभेद ही एकता का वह शास्त्र है। मेरा यह कहना जरा बेतुका-सा मालुम होगा, लेकिन वास्तविकता यही है वहां विभिन्न भाषाएं और विभिन्न आचार अपने-अपने क्षेत्र में खुद पनपते रहते हैं। हिन्दुस्तान सबको उदार आश्रय देता आ रहा है। पारसियों को ही देखिये। उनकी भाषा में देवताओं को 'असुर' कहा जाता है। 'अहुरमज़्द' याने बहुत बड़ा असुर अर्थात् देव। एक तरह के वे हमारे देवों को गाली ही देते हैं। लेकिन हमने उन्हें भी अपने यहां उदार आश्रय दिया। हमने उनसे कहा कि आप यहां अलग रहें और अपने आचार-विचारों का स्वतन्त्रता से पालन करें। और हम भी अलग रह कर अपने आचार-विचारों का पालन करेंगे। चाहते, तो हम उन्हें समुद्र में ढकेल देते, क्योंकि वे कोई शस्त्र लेकर नहीं आये थे। किन्तु हमने उन्हें उदारता से यहां रहने दिया। इसी का नाम 'सह-अस्तित्व' है। हमने उन्हें आचार-स्वातंत्र्य दिया, लेकिन यह कह दिया कि हम आपकी लड़की नहीं ब्याहेंगे और आप हमारी लड़की न ब्याहें। हम आपकी रसोई न खायेंगे और आप भी हमारी रसोई न खायें। सारांश, आज जो जातिभेद दीख रहा है, उसका मूल यही सह-अस्तित्व की भावना है।

दुनियां एक दूसरे के निकट आ रही है

आज सह-अस्तित्व का अर्थ वह माना जाता है कि जो देश जैसी राज्य-व्यवस्था, समाजव्यवस्था, अर्थव्यवस्था रखना चाहें रखें, लेकिन दूसरे देश पर उन्हें न लादें। किन्तु उस समय यही सह-अस्तित्व जातिभेद के रूप में यहां आया इस तरह उसका उद्देश्य बुरा नहीं, अच्छा ही रहा। फिर भी अब जबकि हम सब एक दूसरे के निकट आ गये हैं, उसकी जरूरत नहीं रही। विज्ञान से संस्कार निकट आ गये हैं। स्वामी विवेकानन्द के पास सिस्टर निवेदिता पहुंची। डा. ऐनी बीसेण्ट हिन्दुस्तान की सेवा करते हुये ही मरी। ५० वर्ष तक उन्होंने भारत की सेवा की। उन्होंने मांसाहार और अन्नाहार भी त्याग दिया। केवल दूध और फल के आहार पर ही रहीं। मरते समय किसी ने उनसे कहा कि "अब आप मुक्त हो जायेगी।" इस पर उन्होंने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहा—"नहीं, अगले जन्म में मैं हिन्दू होऊंगी और तव मुझे मुक्ति मिलेगी।" 'पांडिचेरी में श्री अरविन्द के वाद माताजी भी वैसी ही सेवा कर रही है। गांधीजी के निकट मीरा वहन आई और उन्होंने भी हिन्दुस्तान की ऐसी ही सेवा कीं। ऐसे अनेक लोग आये, आ रहे हैं और आयेंगे। आज भी डोनाल्ड़ ग्रुप वैंगलोर में काम कर रहे हैं और हम लोगों के साथ रहने वाली जर्मन लड़की हेमा का भी भारत की सेवा करने का संकल्प है। इस तरह आज दुनियां एक दूसरे के निकट आ रही है।

"जय जगत" ही हमारा मिशन

आप स्वतंत्र भारत के नागरिक हैं। आपको विश्व मानव वनना है। आप एक देश के नागरिक नही, सभी देशों के नागरिक हैं। सभी मानवों को एक करना है। 'जय-जगत' भारतीयों का मिशन है। वह पूरा हुये विना विश्व में शांति हो नहीं सकती। जैसे महाराष्ट्र और वंगाल का नागरिक अपने आप हिन्दुस्तान का नागरिक होता है, हिन्दुस्तान के हर प्रदेश का नागरिक अपने आप हिन्दुस्तान का नागरिक हो जाता है। जैसे ही किसी भी देश का नागरिक अपने आप विश्व का नागरिक होना चाहिए। भारत वह काम कर सकता है। वह हमारी संस्कृति का सन्देश है। महाराज मनु ने कहा है कि इस देश में जन्म लेनेवाले श्रेष्ठ पुरुष से विश्व को चारित्र्य की शिक्षा प्राप्त होगी। इन्होने यह भविष्यवाणी उस समय की, जब आज के विज्ञान का पता ही न था, रेडियो, टेलीफोन और हवाई जहाज नहीं थे। उस समय उन्होंने कहा कि अगर हम एक हो जाये, तो सेना पर एक कोड़ी खर्च न पड़ेगी।

एक बनो और नेक बनो

विहार के दौरे मैं मैंने भी एकवार कहा था—'एक बनो और नेक बनो'। अगर नेकी से रहें और एकता सध जाय तो भारत सारी दुनियां को एकता, शांति, स्वास्थ्य और सेवा का मिशन पूरा कर सकता है। इसके लिए एक ही वात करनी होगी। वह है, सामाजिक दृष्टि से एक होना और ऊँच नीच भाव त्याग सबको समान मानना। अब पुराने जमाने की रुचि समाप्त हो गयी। जबकि बड़ा आदमी ऊंची जगह पर बैठता था और छोटा नीचे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बैठता था। बचपन में आप जरीदार टोपी पहनते थे, तो आज भी वह शोभा दे सकती है ? इसलिए सारे भेदभाव भुला दीजिए। भगवान कृष्ण और सुदामा की सांदीपनी आश्रम में शिक्षा पाने की घटना पर ध्यान दीजिए और सबके लिए शिक्षा की व्यवस्था कीजिए।

आर्थिक एकता : सम्पत्ति का विभाजन

इसी तरह आर्थिक एकता भी आपको लानी चाहिए। आर्थिक एकता का अर्थ है, सम्पत्ति का विभाजन। इसका यह कार्य नहीं कि सबको एक सरीखा बना देना है। लेकिन भारत में कोई भी भूखा न रहना चाहिए। हमारी आवश्यकताएं पूरी होनी चाहिए। यह कहने पर कहा जाता है कि उत्पादन बढ़ाईए। लेकिन जो हैं, उसे भी बांटकर खाना चाहिए। मुझसे कुछ लोग कह रहे थे रि ग्रामदान दारिद्र्य का वितरण है। लेकिन परिवार में रहते है न ? आखिर वहां क्या करते है ? घर में ५ आदमी और अन्न ४ लोगों को लिए हो, तो क्या आप यह कहते हैं कि हम चार व्यक्ति खाकर खेत में जायेंगे और वहां उत्पादन कर लायेंगे, तब पांचवें को खिलायेंगे या जो है उसी में पांचो बांटकर खाते हैं ? फिर जो न्याय परिवार में लागू करते हैं, वही समाज में लागू क्यों नहीं करते ? इसलिए उत्पादन बढ़ाइये तब बांटकर खाइये यह विचार नास्तिक, अधार्मिक, नीति-विहीन और निराधार है। अगर बांट कर लें तो बहुतों की शक्ति, शौक और उत्साह काम आयेगा।

सांस्कृतिक एकता भी अनुपेक्षणीय

अब तीसरी बात सांस्कृतिक एकता, आध्यात्मिक एकता है। यहां अनेकविध संस्कारों वाले लोग रहते हैं। एक दूसरे से अच्छे-अच्छे संस्कार सीखे जाय और बुरे संस्कार छोड़े जाय। इस तरह नये-नये संस्कार दाखिल कर सांस्कृतिक शुद्धि करनी चाहिए।

सारांश, मैंने आपको अवतक तीन बातें कहीं—१. सांस्कृतिक समन्वय किया जाये। २. आर्थिक वैषम्य दूर किया जाय और ३. ऊंच-नीच का भाव, जाति भेद मिटाकर सबको समान प्रतिष्ठा दी जाये। तभी भारत एक होगा। उसकी नैतिक शक्ति बढ़ेगी। विश्व एक होगा और विश्व-शांति में भारत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सफल होगा—भारत का मिशन पूरा होगा।

भारत द्वारा विश्व शांति का दृढ़ विश्वास

इस गांव में मैं पुनः आना चाहता हूं, लेकिन पुनः कब आऊंगा, यह मैं नहीं जानता। इसीलिए यहां आने पर जांगर चोर न बनकर, थकान की परवाह न कर कुछ बातें प्रेम से बतलायी। भारत में प्रेम मेल और ऐक्य होना चाहिये। फिर और सब बातें करने की सामर्थ्य उसमें काफी है। मुझे विश्वास है कि भारत की ओर से ही दुनियां को शांति का सन्देश प्राप्त होगा, विश्व में शांति स्थापना का कार्य भारत ही कर पायेगा। इसी विश्वास के बल पर मैं इसी बुढ़ोती में पैदल घूम रहा हूं। इसके सिवा मेरे पास और कोई बल नहीं है।

जय जगत, जय समन्वय, जय एकता !

□□

तुम चन्दन, हम रेंड बापुरे,
निकट्ट तुम्हारे आसा।
संगत के परताप महातम,
आवै बास सुवासा।
जाति भी ओछी, काम भी ओछा,
ओछा कसब हमारा।
नीचे से प्रभु ऊँच कियो है,
कह रैदास चमारा।

—संत रैदास

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

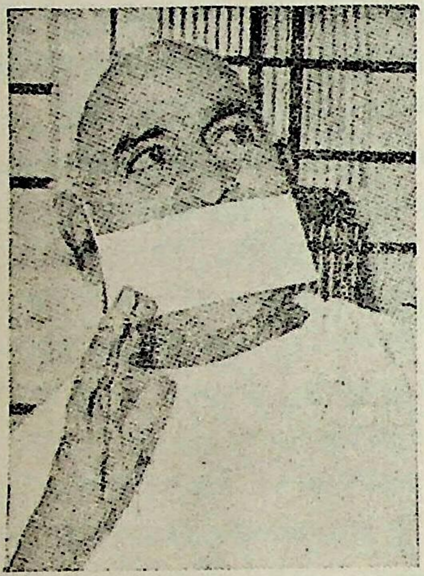

जैन एकता दिशा दर्शन

□ आचार्य श्री तुलसी

> समन्वय संगठन का लचीला धागा है, यह न अकड़न पैदा करता है और न व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन।

एक तर्क है कि भारतीय धर्म व्यक्तिवादी है। वह व्यक्तिवादी है इसीलिए भारत में सामुदायिकता पनप नहीं सकी। इस तर्क के विपरीत मैं देखता हूं कि यहां धर्म के नाम पर समाज और सम्प्रदाय संगठित हुए हैं। वह वास्तव में ही व्यक्तिवादी होता तो सम्प्रदाय कैसे संगठित होते। वह व्यक्तिवादी ही होता तो उसका स्वरूप बहुत ही शुद्ध और श्रेयस्कर होता। किन्तु सही अर्थ में वह ऐसा नहीं है। तथ्य उससे भिन्न है, तो कहा जारहा है जैसे अमूर्त ज्ञान को मूर्त पुस्तकें प्रगट कर रही हैं. वैसे ही धर्म को सम्प्रदाय प्रकट कर रहे हैं। सम्प्रदाय का होना कोइ बुरी बात नहीं है, पर उन सम्प्रदायों का होना बुरी बात है, जो धर्म के महावृक्ष से छिन्न शाखाओं की भांति सूखे पड़े हैं।

जैन धर्म को मैं एक महान वृक्ष के रूप में देखता हूं और उसमें सम्प्र-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दायों को उसकी शाखा के रूप में। वृक्ष का शतशाखी होना विकाश ही कहा जाएगा। किन्तु शाखाओं का वृक्ष से अलग हो जाना या एक ही शाखा का पूरे वृक्ष पर अधिकार जताना विकास नहीं कहा जाएगा। यह संघर्ष का लक्षण है। इस कोटि का संघर्ष आज जैन सम्प्रदायों में चल रहा है।

आज के प्रबुद्ध जैन मुनि और श्रावक जैन एकता की दिशा में सोच रहे हैं और उसके लिए प्रयत्न कर रहे हैं। यह बहुत ही पुण्य कार्य है, यह युग की मांग नहीं है, धर्म की शास्वत मांग है। एकता का अर्थ वृक्ष के एक ही शाखा होना नहीं है। उसका अर्थ शाखाओं का हक ही मूल होना है। एकता की दिशा में पहला प्रयत्न यह होना चाहिए कि हमारा मूल हक बना रहे। उसका रस सबको मिले और उसके सिंचन में सबके हाथ एक साथ आगे बढ़ें। शाखा का छोटा-बड़ा होना तथा पत्तों की न्यूनाधिकता होना स्वाभाविक बात है। एकता के प्रयत्न में इसे मुख्यता नहीं मिलनी चाहिए। अपनी-अपनी परम्पराओं और वैचारिक पल्लवन को सुरक्षित रखने का अधिकार हो। पर दूसरों की हीनता प्रदर्शित करने का न हो।

एकता का प्रयोजन कार्यक्षमता को कम करना व वैचारिक स्वतंत्रता का हनन नहीं है उसका प्रयोजन है संगठित कार्यक्रम को अपना कर आगे बढ़ना! हमारे मुख्यपर्व और मुख्यकार्यक्रम एक हों। सामूहिक हितों की सुरक्षा में सब साझीदार हों। जैसे स्वायत्त शासन की स्थिति में विदेश नीति और सुरक्षा साझे की होती है।

भगवान महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी बहुत निकट है। यह एक महान अवसर है। इसका लाभ उठाकर एकता को बहुत सशक्त किया जा सकता है। इसकी क्रियान्विति के लिए सब सम्प्रदायों के मुनियों तथा श्रावकों की प्रतिनिधि परिषद् गठित हो। वह अन्ततः साम्प्रदायिक आचार संहिता का निर्माण कर एकता को बनाए रखने में योग दें।

समन्वय संगठन का लचीला धागा है। यह न अकड़न पैदा करता है और न व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन। इसमें विशिष्टता होती है पर विरोध नहीं होता। जैन समाज समन्वय के लिए प्राप्त अवसर को अब नहीं खोएगा। इस विश्वास में हम सब साथ हैं।

□□

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गीत

□ □ □

यन्त्र युग में गा रहा मैं
मन्त्र युग के गीत !

अब नहीं अभिव्यक्ति को
अनुभूति पर विश्वास,
साधना का कर रही है
वासना उपहास,

किन्तु सुन भोगी, नहीं क्या
योग रति विपरीत !

अणु नही आवास यह तो
निम्नता की थाह,
बेध-मन का व्यूह, आगे—
है परम की राह

आत्म-मूर्च्छा त्याग जागे—
उर्ध्व-स्वर संगीत !

कर्म ही साक्षात कर्त्ता
द्वैत में अद्वैत,
पहुँच यम के द्वार आया—
लौटकर नचिकेत,

तू गतागत से परे है
सहज कालातीत !

□ □ □

□ कन्हैयालाल सेठिया
रतन-निवास
सुजानगढ़

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

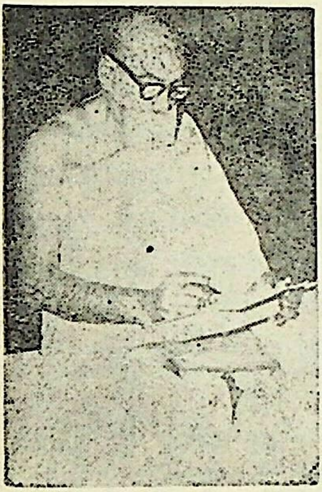

☐ उपाध्याय अमर मुनि

धर्म और सम्प्रदाय

धर्म और जीवन :

भारत के धर्मोपदेशकों ने सदैव इस बात पर बल दिया कि धर्म जीवन में ओतप्रोत हो जाना चाहिए, हमारा जीवन धर्ममय बन जाना चाहिए, अर्थात् हम अपने जीवन में जो भी व्यवहार करें उनमें धर्म का विचार अवश्य मिला रहना चाहिए। जीवन अलग रहे और धर्म अलग, ऐसा कदापि न होना चाहिए।

जीवन जब तक धर्ममय नहीं बन जाता, तब तक जीवन का उत्थान नहीं हो सकता। जीवन के प्रत्येक व्यवहार में धर्म को प्रतिबिम्बित होना ही चाहिए। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि जनता ने, इसका अर्थ उलटा ही ग्रहण कर लिया है। उसने अपने व्यवहारोंको धर्ममय बनाने का कठिन रास्ता अख्तियार करने के बजाय धर्म को ही व्यवहारमय बना लेने का सरल रास्ता अख्तियार कर लिया है।

धर्म और लोक दृष्टि :

आज लोगों को इस बात की चिन्ता नहीं है कि हमारी प्रथाएँ, परम्पराएँ और रीति-रिवाज धर्म-मय होने चाहिएँ, उन्हें चिन्ता है तो यही कि धर्म को हमारी प्रथाओं, पर-म्पराओं और लोकरुढ़िओं का समर्थक होना चाहिए। इस तरह की भावना के कारण लोग लोकरुढ़ियों में ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्म की कल्पना करने लगे हैं, जिससे धर्म का रूप बड़ा अटपटा-सा हो गया है।

बहुत से लोग पूछना चाहते हैं कि अमुक रिवाज या परम्परा, जो चल रही है, वह धर्म है या नहीं? किसी के यहाँ बच्चा हुआ, विवाह हुआ या मरण हुआ और इस प्रसंग पर अमुक तरह का क्रियाकाण्ड किया गया, तो वह धर्म हुआ है या नहीं? अमुक रूढ़ि, जो लोक में प्रचलित है, धर्म है या नहीं?

इससे एक अटपटी बात और पैदा हो गई। वह यह कि एक पक्ष अमुक काम को अच्छा मानता है और दूसरा उसे बुरा मानता है। क्योंकि संसार में लौकिक व्यवहारों की मान्यता एक-सी नहीं है। एक चीज एक प्रान्त में अच्छी समझी जाती है, तो वही दूसरे प्रान्त में बुरी समझी जाती है। इसी तरह जो रिवाज एक जाति या कुल में अच्छा समझा जाता है, वही दूसरी

जो सम्प्रदाय या परम्परा जिन्दा नाखून के समान है, जिसमें है और जो परम्परा धर्म से आगे निकल गई है, समाज को

जाति या कुल में बुरा माना जाता है। इस प्रकार विभिन्न प्रथाओं को लेकर जनता में अलग-अलग विचार पैदा हो जाते हैं। फलतः एक व्यक्ति एक रिवाज को धर्म मान कर चलता है तो दूसरा उसी को अधर्म मानता है। इस तरह धर्म का प्रश्न बड़ी गड़बड़ में पड़ जाता है। यह स्थिति आज ही इस प्रकार की हो गई है, ऐसी बात नहीं, पहले भी ऐसी स्थिति थी। महाभारत के लेखक व्यास से पूछा गया कि धर्म किसमें हैं? अमुक काम करते हैं, तो वह धर्म है या अधर्म? यह जो अलग-अलग अगणित रिवाज चल रहे हैं, उनमें से किनमें धर्म है और किनमें अधर्म? यह प्रश्न सुन कर व्यास भी उलझन में पड़-से गये और आखिर में उन्होंने कह दिया कि तर्क स्थिर नहीं है, शास्त्र विभिन्न वाणी बोलते हैं, कोई एक मुनि ऐसा नहीं है जिसकी बात मान ली जाए, धर्म का तत्त्व अन्धकार से आच्छन्न है। बस, जिस पथ पर महाजन जा रहे हैं, वही धर्म है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः स पन्था ॥"

धर्म और तर्क :

तर्क से धर्म का निर्णय करे ? किन्तु तर्क का ही ठिकाना नहीं हैं । वह आज एक तरफ, तो कल दूसरी तरफ चलने लगता हैं । एक तर्क जिस चीज का खण्डन करता है, दूसरा उसी का मण्डन करता है । तर्क तो वह हथियार है जो आपस लड़ जाता है, कट जाता है और एक-दूसरे से मात खा जाता है । अतएव तर्क के भरोसे धर्म का निर्णय होनेवाला नहीं है ।

धर्म और शास्त्र :

तर्क की अस्थिर स्थिति पर विचार करने पर हमारा मन उससे हट

जीवन है, उसे मत काटो, किन्तु जिसमें से धर्म निकल गया दुःख दे रही है—उसको काट फेंकना परम आवश्यक है ।

जाता है और मन में शास्त्रों का आधान करने की अभिलाषा जागृत हो पड़ती है । और मन में यह प्रश्न उठता है कि—क्या शास्त्र से धर्म का निर्णय कर लें ? शास्त्र भी एक कहाँ है ? एक शास्त्र किसी एक बात का विधान करता है, तो दूसरा शास्त्र उसका निषेध करता है । श्रुतियाँ कुछ कहती हैं, तो स्मृतियाँ और ही कुछ कहती हैं और पुराण अपना अलग ही राग अलापते हैं । उनमें भी आपस में संघर्ष है । और कोई-कोइ शास्त्र तो यह भी कहता कि शास्त्र भरोसे (प्रमाण) की चीज नहीं है ! इस रूप में शास्त्र स्वयं अपनी अविश्वसनीयता प्रकट कर देता है । अब प्रश्न यह है कि—किस शास्त्र को प्रमाण मानें और किसे अप्रमाण मानें ? शास्त्र की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का निर्णय करने के लिये कौन-से शास्त्र का सहारा लें ? अतः मन यहाँ से भी भाग खड़ा होता है । फिर मन में आता है, ठीक हैं, शास्त्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
को भी रहने दिया जाए। किसी धर्माचार्य से ही क्यों न धर्म-अधर्म का निर्णय करा लिया जाए ? परन्तु आचार्यों का मत भी एक कहाँ है ? सब की अलग-अलग राह हैं। एक का निर्णय पूरब में जाता हैं, तो दूसरे का पश्चिम में। किसकी मानें; किसकी न मानें ?

इस प्रकार धर्म का तत्त्व-रहस्य अन्धकार में छिप गया है और पता नहीं चलता कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है ? ?

धर्म और जनमत :

व्यासजी का मत है कि—"जिधर बहुत से आदमी जा रहे हों, भीड़ जा रही हो, उधर ही चल पड़ो। यही सत्यधर्म का मार्ग है।"—**'महाजनो येन गतः स पन्थाः।'** धर्म के सम्बन्ध में यह जो निर्णय किया गया है, वह क्या वास्तविक निर्णय है ? एक आदमी अकेला जो अपनी दृष्टि से अच्छा काम कर रहा है उसे नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह महाजनों का अर्थात् बहुतों का मार्ग नहीं है। मार्ग वह है, जहां भीड़ लग रही है। यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दुनियां की अधिक से अधिक जनता तो अज्ञान में रहती है। अज्ञान से प्रेरित जनसमुदाय जिस ओर जा रहा है, उस ओर जाने से क्या कल्याण हो सकेगा ?

सबसे बड़ी बात तो यह है कि—सत्य की दृष्टि से विचार करने पर यह पता चलता है कि सत्य बहुमतगत नहीं है, अपितु स्वगत है। बहुतों की मान्यता होने पर भी असत्य, सत्य नहीं हो सकता और अल्प जनसमूह द्वारा मान्य होने के कारण ही सत्य, असत्य नहीं हो सकता। सत्य अपने आप में सत्य है। वह आकाश में घिरते बादलों में प्रतीत होने वाली आकृति नहीं है कि जिसे जैसी मनःस्थिति से दीख पड़े, उसके लिए वैसी ही हो जाये।

अभिप्राय यह है कि ज्यादा लोग कह रहे हैं, सो अच्छा है और कम लोग कह रहे हैं सो बुरा है, यह निर्णय कोई न्यायसम्मत निर्णय नहीं है।

धर्म और अधर्म :

अब एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह रह जाता है कि—धर्म क्या है ? यह एक वह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जो प्राचीन युग में भी था और आज भी ज्यों का त्यों खड़ा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह तो सभी जानते हैं कि हम जिस संसार में रह रहे हैं, उसमें खाने, पीने रहने आदि के नियम, मकान बनाने के नियम, उद्योग-धन्धों के नियम और विवाह-शादियों के नियम, सबके सब, एक-से नही हैं। अलग-अलग देशों में और अलग-अलग जातियों में अलग-अलग नियम हैं। ऐसी स्थिति में जब हम इन नियमों को धर्म का रूप दे देते हैं, या धर्म मान लेते हैं, तो धर्म का प्रश्न बड़ा पेचीदा बन जाता है। फिर जनता शीघ्र निर्णय माँगने लगती है कि हम क्या करें और क्या न करें ?

वास्तविक बात यह है कि धर्म को जिस रूप में ग्रहण करना चाहिए, हमने उसे उस रूप में ग्रहण नहीं किया। धर्म का वास्तविक रूप कुछ और हैं, हमने समझ कुछ और लिया है। यहीं से धर्म के सम्बन्ध में अज्ञान का प्रारम्भ होता है और हम धर्म का मार्ग भूल कर विपरीत मार्गगामी हो पड़ते हैं।

धर्म, पंथ एवं परम्परा :

धर्म एक चीज है और पंथ दूसरी चीज है। धर्म का रूप अलग होता है और पंथ का रूप अलग होता है। धर्म वस्तुतः धर्म है या पंथ है, यह विचारणीय प्रश्न है। अंग्रेजी भाषा में 'रिलीजन' शब्द का प्रयोग होता है और उसी से ही इस विषय में एक प्रकार का यह गड़बड़झाला पैदा हो गया है।

हजारों परम्पराएँ पनपीं, चलीं और आगे बढ़ीं। उनमें से कुछ मिट भी गयीं और कुछ मौजूद भी हैं। हजारों नवीन परम्पराएँ जन्म ले रही हैं, वे भी मिटेंगी और फिर नवीन जन्म लेंगी। यह मत एवं पंथ का प्रवाह है। तो क्या धर्म इन मान्यताओं और पंथों पर ही आधारित है या इनसे ऊपर उसका स्थान है ? मैं सोचता हूँ कि धर्म, पंथ से बहुत ऊपर है, वह पंथ के घेरे में सीमित नहीं है। वह सम्प्रदाय के रूप में अवश्य है, किन्तु सम्प्रदाय में बन्द नहीं है। सम्प्रदाय से ऊपर है।

इस प्रकार धर्म और सम्प्रदाय में धर्म ही सर्वोपरि है। सम्प्रदाय, पंथ या परम्परा में जब तक धर्म का अंश रहता है, विवेक-विचार बना रहता है, तब तक वह परम्परा या मान्यता जनता का कल्याण करती रहती है, समाज में जागृति उत्पन्न करती रहती है और उसे आगे बढ़ाती रहती है और उसमें धर्म का अंश होने के कारण हम उसे धर्म के रूप में स्वीकार भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करते हैं। किन्तु जब उस परम्परा में से धर्म का अंश निकल जाता है वह परम्परा निर्जीव क्रियाकाण्ड मात्र रह जाती है, तब वह धर्म नहीं रह जाती। ऐसी परम्परा और मान्यता को भंग कर देना हमारा आदर्श है। हम हजारों वर्षों से यही करते आये हैं। हम धर्महीन जड़ परम्पराओं को खत्म करते आये हैं और धर्मयुक्त नवीन प्रणालियों को जन्म देते आये हैं।

हमारे नाखूनों के दो विभाग हैं। नाखून का जो भाग ऊँगलियों की त्वचा से सटा हुआ है, वह जिन्दा नाखून है। उस जिन्दा नाखून को काटेंगे तो दर्द शुरू हो जायेगा और अहंकारवश कदाचित् उसे काट डालेंगे तो आपका महत्त्वपूर्ण अंग कटकर शरीर से अलग हो जायेगा, आपको घातक पीड़ा पहुँचा जायेगा और यदि नाखून के निर्जीव भाग को, जो ऊँगली से आगे बढ़कर आगे का रास्ता ले रहा है, उसे यह समझ कर नहीं काटेंगे--कि यह तो हमारे ही शरीर का अंग है, इसे काटें तो कैसे काटें ? तो वह आपको हानि ही पहुँचायेगा। जहाँ कहीं आपके या किसी अन्य के शरीर में लगेगा, लोहू-लुहान कर देगा। उसमें मैल भरेगा और वह मैल भोजन के साथ पेट में जाकर भयंकर बीमारियों को उत्पन्न करेगा।

तात्पर्य यह कि जो नाखून जिन्दा है उसे नहीं काटना चाहिए। वह ऊंगली की रक्षा करता है, ऊँगली को कार्यक्षम एवं बलिष्ठ बनाता है और इस रूप में वह एक उपयोगी अंग है। इतने पर भी यदि कोई उसे काटने पर उतारु हो जाता है, तो उसे कष्ट भुगतना पड़ेगा। हां, मुर्दा नाखून जो बढ़ गया है, उसे न काटना भी पीड़ा का कारण है। अतएव उसे काट फेंकने में ही कल्याण है।

यही बात परम्पराओं और रीति-रिवाजों के विषय में भी है। रीति-रिवाजों के नाखून को लेकर बड़े संघर्ष हो रहें हैं। एक ओर में यह कहा जा रहा है कि—पुराने जमाने से चले आ रहे ये रीति-रिवाज हमारे काम के नही हैं, इन्हें जड़ से उखाड़ फेंकना चाहिए। जो लोग नई रोशनी के हैं, वे जब धर्म के नाम पर कोई गड़बड़ देखते हैं तो कहते हैं कि इस धर्म ने ही हमें बर्बाद किया है। धर्म ने प्रजा के सिर फुड़वाये हैं, हमें आपस में लड़ाया है और हमें खुदगर्ज बनाया है। हम धर्म से ऊब गये हैं, बेचैन हो गये हैं। धर्म से कल्याण नहीं होने वाला है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मैं समझता हूँ कि ऐसे लोगों ने पंथों, सम्प्रदायों और रूढ़ियों को ही धर्म समझ लिया है। उन्होंने धर्मात्मा कहलाने वाले कुछ व्यक्तियों के गलत जीवन को देख लिया है, इसलिए वे जिन्दा नाखून को भी काट फेंकने के लिए तैयार हो गये हैं। इससे समाज का भला नहीं होगा।

दूसरी ओर पुराने विचारों के लोग हैं। उनका आग्रह है कि जो बढ़ा हुआ नाखून मुर्दा हो गया है, उसमें जीवन नहीं रह गया है, वह जब-तब खून बहाता है, उसमें मैल भरता है, फिर भी उसको मत काटो। यह तो हमारा पुराना परम्परागत धर्म है, सम्प्रदाय है, हमारी परम्परा है। कुछ भी हो, हम इसे नहीं छोड़ेंगे। इस तरह दोनों ओर अति हो रही है और इस कारण सारे भारत के समाज आज बेचैन हैं।

किंतु जिस रूप में हम सोच रहे हैं, उस रूप में प्राचीन धर्माचार्यों ने नहीं सोचा था। उन्होंने तो यही कहा है कि परम्परा दो रूप में है—जिन्दा या मुर्दा। जो सम्प्रदाय, मान्यता, परम्परा या रुढ़ि अच्छी है, जिससे समाज का कल्याण हो रहा है, उसे नहीं काटना है, उसे नष्ट नहीं करना है। आखिर उसे नष्ट करके भी क्या किया जायेगा? उसकी जगह कोई नई परम्परा गढ़नी पड़ेगी। फिर उसी को क्यों नहीं जारी रहने देते? जब उससे समाज का कल्याण हो रहा है, तो फिर उसे काट कर फेंकने की क्या आवश्यकता है।

हाँ, जो मान्यताएँ या परम्पराएँ सड़ गई हैं और हमारे जीवन को कोई प्रगति नहीं दे रही हैं, जो निर्जीव नाखून की तरह बढ़ गई हैं, उनको काट कर फेंक देना ही हमारा कर्त्तव्य है। ऐसा करने का भगवान महावीर आदि महापुरुषों ने भी हमें अधिकार प्रदान किया है। उन्होंने हमें आदेश दिया है कि गलत और हानिकारक परम्पराओं को काट कर नई परम्पराएं बनाते रहो, जिससे जीवन में जागृति की धारा प्रवाहित रहे।

तो, अभिप्राय यह हैं कि जो सम्प्रदाय या परम्परा जिन्दा नाखून के समान है, जिसमें जीवन है, उसे मत काटो, किन्तु जिसमें से धर्म निकल गया है और जो परम्परा धर्म से आगे निकल गई है, समाज को दुःख दे रही है, बर्बाद कर रही है—उसको काट फेंकना परम आवश्यक है। यही बात जैन धर्म बताता है। यह निर्जीव एवं गलत परम्पराओं को काट देने की प्रेरणा देता है और सजीव परम्पराओं को गलत ढंग से काट फेंकने की आज्ञा भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
नहीं देता है। वह हर जगह विवेक और विचार को प्रधानता देता है, कभी किसी एकान्तवाद को प्रश्रय प्रदान करने की बात नहीं करता।

सम्प्रदाय स्वयं धर्म नहीं है :

सम्प्रदाय, पंथ और धर्म का सम्बन्ध घनिष्ट हैं, हमें अपनी विवेक-बुद्धि से उनका विश्लेषण करना चाहिए। विश्लेषण किये जाने पर ही पता चलेगा कि धर्म का रूप और है तथा पंथ का रूप कुछ और है। किंतु लोगों ने पंथ को ही धर्म समझ लिया है और इसी कारण आज बड़ी गड़बड़ी फैली हुई है।

पंथ में धर्म रह सकता है, किन्तु धर्म में पंथ नहीं हैं। किसी परम्परा में धर्म हो सकता है किन्तु वह परम्परा, धर्म पर सवार नहीं हो सकती। यही कारण है कि आज के युग तक प्रत्येक धर्म परम्परा में भी समय-समय पर अनेक परिर्वतन होते आये हैं। धर्म ध्रुवसत्य है, वह त्रिकालावाधित है और उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। किन्तु परम्पराओं में, मान्यताओं में परिर्वतन होते आये हैं और होते रहेंगे। परम्पराएं तीर्थंकर के युग में भी बदली हैं और बाद में भी बद ली हैं।

इस प्रकार एक कर्त्तव्य, एक समय और एक जगह पर धर्म होता है तो दूसरे समय और दूसरी जगह पर अधर्म हो जाता है अतएव परम्परा को हमें धर्म नहीं मान लेना चाहिए। जब हम ऐसा मान बैठते हैं तभी गड़बड़ी पैदा होती है, और गलतफहमी फैलने लगती है।

जैनधर्म से कोई प्रश्न करे कि जन्म का उत्सव कैसे किया जाय ? विवाह शादी कैसे करें ? तो जैनधर्म इन प्रश्नों का क्या उत्तर दे ? जैनधर्म में विवाह आदि की कोई रूपरेखा नहीं है, कोई प्रणाली नहीं है। कपड़े की दुकान करना धर्म है या चांदी-सोना की दुकान करना, यह जैनधर्म नहीं कहता। मृत्यु के सम्बन्ध में उससे पूछा जाये कि मृतक को जला देना धर्म है या गाड़ देना ? तो वह क्या वतलाये ? मतलब यह है कि इन सब बातों का धर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो मात्र सामाजिक विधियाँ हैं, मान्यताएँ और रूढ़ियां हैं, जो कहीं किसी रूप में प्रचलित हैं और कहीं किसी रूप में। यहां धर्म का कोई प्रश्न नहीं है। अलबत्ता जैनधर्म यह अवश्य कहता है कि जिस रूढ़ि और परम्परा में विवेक और विचार को स्थान हो, उसे कायम रखो और जो विवेक और विचार के विरुद्ध हो, उसे छोड़ दो। उदाहरणार्थ, जैनधर्म यह कहेगा कि—मृतक शरीर को यदि गाड़ दिया जाता है तो वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सड़ेगा और असंख्य सम्मूर्छिम जीव पैदा होंगे, परन्तु अग्नि में जला देने पर जीव पैदा नहीं होंगे। वह एक ही बार में भस्म हो जायेगा। अधिक हिंसा नहीं होगी।

जिस किसी परम्परा के द्वारा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की वृद्धि हो रही हो, वासना कम हो रही हो, अन्याय और अत्याचार कम हो रहे हों, वह परम्परा धर्मयुक्त है और जिस परम्परा से अहिंसा, सत्य आदि को हानि होती हो, अन्याय तथा अत्याचार की वृद्धि होती हो, वह अधर्म है और जिस परम्परा में जितने अंश में ये बातें होंगी, वह उतने ही अंश में धर्मरूप या अधर्मरूप होंगी।

इस प्रकार धर्म के निर्णय के लिए एक ही सिद्धान्त है कि जिस क्रिया के द्वारा तुम्हारा जीवन ऊँचा उठ रहा है, वह धर्म है, और जिसके द्वारा जीवन नीचे गिर रहा है, वह अधर्म है।

जैनधर्म तो बहने वाला धर्म है। वह किसी के पैरों की बेड़ियां नहीं बनना चाहता। किसी लौकिक रिवाज के विषय में जैनधर्म से पूछा जाये कि अमुक रिवाज धर्म-सम्मत है या नहीं है, तो जैनधर्म यही कहेगा कि अगर अमुक रिवाज विवेक से परिपूर्ण है तो वह धर्म है, अन्यथा नहीं। जैन परम्परा के आचार्यकल्प विद्वान् पण्डित आशाधरजी ने इस सम्बन्ध में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण निर्णय दिया है—

"सर्व एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, यत्र नो व्रतदूषणम्॥"

जैनों को सभी प्रकार के लौकिक रीति-रिवाज मान्य हो सकते हैं, परन्तु शर्त केवल एक यही है कि उनसे सम्यक्त्व-सत्य की किसी प्रकार की हानि न हो और अहिंसा आदि व्रतों में दोष न आता हो।

यह तो है नहीं कि जैनधर्मी का जीवन किसी और ढंग से चलता हो और वैदिकधर्मी का जीवन किसी और ढंग से, जैन और तरह से मरता हो और वैदिक और तरह से। दोनों को मरना पड़ता है, दोनों को जन्म लेना पड़ता है और दोनों को जीवन-निर्वाह के प्रायः एक जैसे ही ढंग अपनाने पड़ते हैं। जैन भी विवाह करता है और वैदिक भी। जैन भी भोजन करता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है और वैदिक भी। यह तो नहीं है कि जैन भोजन करे और वैदिक न करे। यह भी नहीं कि जैन भोजन न करे, वैदिक करे। किन्तु इनके लिए निश्चित रीति-रिवाज बताने की जैन परम्परा को आवश्यकता भी नहीं जान पड़ी। आखिर इन बातों को बतलाने की आवश्यकता ही क्या है? यह तो मनुष्य अपने वातावरण और संस्कारों से अपने आप ही सीख जाता है। और यह भी कैसे कहा जा सकता है कि अमुक रिवाज धर्म है और अमुक रिवाज अधर्म? चोटी रखने का रिवाज धर्म है और न रखने का रिवाज अधर्म है—इन बातों में धर्म या अधर्म का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। धर्म और अधर्म तो क्रमश: विवेक और अविवेक में है। तुम किसी भी रिवाज का अनुसरण करो, अपने सम्यक्त्व और चारित्र की रक्षा करते रहो, जैनधर्म का बसा एकमात्र यही सिद्धान्त है।

व्रत और रीति-रिवाज :

पुराने युग में एक ऐसा रिवाज प्रचलित था कि विवाह के समय बैल को मारकर उसका ताजा गीला, खूनसे भरा लाल चमड़ा वरवधू को ओढ़ाया जाता था। परन्तु अहिंसा धर्म को यह रिवाज कब मान्य हो सकता था? इसका अनुसरण करने मे तो अहिंसा व्रत दूषित होता है। धर्म व व्रतों के सामने लौकिक रीति-रिवाजों का क्या मूल्य है? उन्होंने इसमें सम्यक्त्व और व्रत—दोनों की हानि देखी। अतएव उन्होंने उस हिंसापूर्ण परम्परा में संशोधन कर लिया। उन्होंने कहा—गीला चमड़ा न ओढ़ा जाये, उसके स्थान पर लाल कपड़ा ओढ़ लिया जाये, तो अति उत्तम हो। ऐसा करने से प्रचलित परम्परा का मूल उद्देश्य भी कायम रह जायेगा और सम्यक्त्व तथा व्रतों में दूषण भी न लगने पायेगा।

लाल कपड़ा प्रसन्नता का—अनुराग का द्योतक माना जाता है। इस प्रकार अहिंसा ने, रक्त से लथपथ चमड़े के बदले लाल कपड़ा ओढ़ने की जो परम्परा चलाई, वह आज भी चल रही है। आज भी विवाह आदि अवसरों पर वर-वधू लाल कपड़े पहनते हैं। इस प्रकार अहिंसा धर्म के विचार एवं विवेक ने उक्त दूषित परम्परा को बदलने के लिए कितनी बड़ी क्रान्ति की हैं, इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इस विषय में अधिक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देखना चाहें तो 'गोभिल्ल गृह्यसूत्र' में विस्तार से देख सकते है।

बहुत पुराने युग में एक परम्परा और भी थी। उत्सव के अवसर पर लोग मनुष्य की खोपड़ी लेकर चलते थे। परन्तु जब अहिंसा धर्म का प्रचार बढ़ा, तो खोपड़ी रखने की भद्दी परम्परा समाप्त हो गई। खोपड़ी के स्थान पर नारियल रखने की परम्परा प्रचलित हुई। आप देखेंगे कि नारियल ठीक खोपड़ी की शक्ल का होता है, वह मानव मुण्ड की-सी आकृति का है। इस रूप में नारियल नरमुण्ड का प्रतीक है। उस समय के विचारकों ने विचारा होगा कि—खोपड़ी जंगलीपन की निशानी है। नारियल रखने से उस परम्परा का पालन भी हो जायेगा और जंगलीपन की निशानी भी दूर हो जायेगी।

इस प्रकार तत्कालीन हिंसामूलक जंगली रिवाजों को अहिंसा के विकास ने दूर किया, जिससे देवी-देवताओं के आगे मनुष्य की बलि दी जाती थी, मनुष्य की खोपड़ी चढ़ाई जाती थी। मैं समझता हूं, उस हिंसक-परम्परा को खत्म करके और उसकी जगह नारियल आदि की अहिंसक नवीन परम्परा को कायम करके मानवीय वृत्ति की स्थापना के द्वारा अहिंसा धर्म ने मानव-जगत में बहुत बड़ी कल्याणकारी क्रांति की।

धर्म और व्यवसाय :

व्यापार-धन्धे के विषय में भी जैनधर्म यही कहता है कि सर्वत्र विवेक और विचार को आगे रखो। प्रत्येक कार्य को विवेक के प्रकाश में देखो कि क्या उचित है, क्या अनुचित है? वह कहता है।

"पन्ना समिक्खए धम्मं।"

प्रज्ञा द्वारा—विवेक-बुद्धि द्वारा—धर्म की समीक्षा करनी चाहिए, उसका अन्वेषण करना चाहिए।

जिस काम में जितना ही विवेक रखा जायेगा और जितनी ही आसक्ति कम होगी, उसमें उतनी ही कम हिंसा होगी और अहिंसा की दिशा में जितना ही बढ़ा जायेगा, उतनी ही धर्म की अभिवृद्धि होगी।

जैनधर्म ने व्यवसायों में भी आर्य और अनार्य का भेद किया है। अनार्य व्यवसायों का परित्याग करके आर्य व्यवसायों को अपनाने का विचार प्रचलित किया है। आर्य व्यवसायों में भी यथोचित विवेक-बुद्धि रखने की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रेरणा दी है। व्यवसाय में भी विवेक रखा जाय तो वह भी धर्म मूलक आजीविका बन सकता है।

धर्म और क्रियाकाण्ड :

पुराने जमाने में कई प्रकार के क्रियाकाण्ड प्रचलित थे। यज्ञ और होम आदि के रूप में अनेक हिंसामय परम्पराएँ चल रही थीं और समाज के अनेक सम्प्रदायों ने उन्हें धर्म का रूप दे रखा था। परन्तु जैनधर्म ने धर्म के क्षेत्र में हिंसा को, विशेषत: व्यर्थ की हिंसा को कभी आश्रय नहीं दिया। उसकी दृष्टि में क्रियाकाण्ड की पवित्रता अहिंसा एवं करुणा में है। जहां हिंसा है, क्रूरता है, वहां धर्म का कुछ भी अंश नहीं रहता। □

□ आदर्श क्षमा

□ महावीर को संगमदेव ने घोर कष्ट व यातनाएं दीं, पर जब वह जाने लगा तो प्रभु को अपनी पीड़ा का एहसास नहीं हुआ, किन्तु उस दुर्बुद्धि प्राणी के उद्धार की चिंता हुई। उसके अन्धकारमय भविष्य की चिंता से प्रभु की पलकें भींग गईं।

□ चण्डकौशिक नाग ने भयंकर डंक मार कर महावीर को काटा, किन्तु धीर गम्भीर प्रभु ने उसे प्रतिबोध दिया—"नागराज ! क्रोध न करो, जागो ! अपना भविष्य सुधारो।"

□ ईसा को शूली पर चढ़ाया गया तो उन्होंने अपने शत्रुओं के लिये प्रार्थना की—'प्रभो ! ये अज्ञानवश ऐसा कर रहे हैं, इन्हें प्रकाश दो।'

□ महर्षि दयानन्द को एक व्यक्ति ने विष दिया था। जब उसे पकड़ कर उनके सामने लाया गया तो उन्होंने कहा—'इसे छोड़ दो, मैं संसार को कैद कराने नहीं, वरन् मुक्त कराने आया हूँ।'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समन्वय

दशा और दिशाएँ

डा. नरेन्द्र भानावत एम. ए., पी. एच-डी
हिन्दी विभाग, राज. विश्वविद्यालय, जयपुर

धर्म और संस्कृति के ऐतिहासिक विकास का यह कटु सत्य और दुखद परिणाम है कि समन्वय की भूमिका निर्मित करने वाले ये दोनों ही तत्त्व—धर्म और संस्कृति—आज साम्प्रदायिक व्यामोह, भेद-प्रभेदों, मत-मतान्तरों आदि से ग्रस्त बने हुए हैं। यह स्थिति और अधिक क्लेशकारी तब बन जाती है जब हम देखते हैं कि यह विभेद किन्हीं विजातीय तत्त्वों में न होकर सजातीय तत्त्रों में है। एक ही प्रकार के परिवेश और प्रदेश में पनपने और विकसित होने वाले समान धर्म परस्पर समत्व और समन्वय का भाव न लेकर जब एक दूसरे के विरोधी बने लक्षित होते हैं तब मन को बड़ा क्षोभ होता है। जैनधर्म ऐसे ही धर्मों की प्रक्रिया से गुजर रहा है।

सामान्यतः किन्हीं धर्मों या विचारों में जब मत-भेद पैदा होता है तो उसके दो मुख्य ऐतिहासक कारण होते हैं।

१. जीवन के प्रति दृष्टिकोण की विभिन्नता,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. विस्तृत भू-खण्ड और उसमें रहने वाली विविध जातियां।

धर्माचार्यों, समाज-सुधारकों और राजनीतिज्ञों का ऐसे समय यह प्रयत्न होता है कि ये मत-भेद मन-भेद के कारण न बनें और विभिन्न विचारधाराओं और वर्गों के लोग परस्पर सौहार्द भाव से रहें। उनमें सह-अस्तित्व बना रहे। हिन्दू-मुस्लिम समन्वय की समस्या इसी धरातल की समस्या बनी रही। कबीर, गांधी आदि महात्माओं ने इन दोनों जातियों में समन्वय और सद्भाव पैदा करने के प्रयत्न किये। धर्म-निरपेक्षता का सिद्धान्त उसी भाव-धारा का विकसित रूप है।

पर समन्वय की समस्या तब गहन और जटिल बन जाती है जब उसकी अनेकता के कारण ऐतिहासिक या वास्तविक नहीं होते। मसलन—जीवन के प्रति दृष्टिकोण में कोई विभिन्नता नहीं होती। उनका प्रसार-क्षेत्र बहुत विस्तृत नहीं होता, उनके सामाजिक रीति-व्यवहारों में कोई विशेष भेद नहीं होता, जैसी कि जैनधर्म और उसके अनुयायियों की स्थिति है। जैनधर्म के विभिन्न अनुयायियों में चाहे वे किसी भी पंथ या सम्प्रदाय के मानने वाले हों, उनके जीवन के प्रति दृष्टिकोण में समानता है। धर्म के मूल तत्त्व एक हैं। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्त जैसे—सिद्धान्तों में उनकी आस्था है। वे अनेकान्त के माध्यम से इतर धर्म-विचारों की संगति और सह-स्थिति में भी आस्था रखते हैं। उनका खान-पान, रीति-रिवाज, सामाजिक आचरण सब लगभग समान है। अब तो वे एक ही वर्ग—वैश्य, में सिमट गये हैं। उनका क्षेत्र भी बहुत व्यापक नहीं है। वाह्य दृष्टि से उनमें सांस्कृतिक वैविध्य भी नहीं है। फिर भी क्या कारण है कि वे परस्पर विभक्त हैं, बंटे हुए हैं, एक दूसरे के प्रति विष-वमन करते रहे हैं।

मुझे लगता है कि जैन एकता में जो वाधक तत्त्व हैं वे ऐतिहासिक और आन्तरिक नहीं हैं, वे सामाजिक और भौगोलिक नहीं हैं, वे आर्थिक और सांस्कृतिक नहीं हैं, वे बाहरी और ऊपरी हैं। वे पूरे जैन-मानस का प्रतिनिधित्व नहीं करते। वे कुछ खास किस्म के लोगों की मनोवृत्ति, उनकी थोथी यशोलिप्सा और प्रभुत्व-कामना की पूर्ति भर करते हैं।

जब किसी वर्ग, विचार या धर्म का नेतृत्व अपना तेज खो बैठता है तब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह अपने को अंधेरे में ही भटकाता रहता है। बातें प्रकाश की करता है पर अंधेरे का दामन छोड़ नहीं पाता। आज जैनधर्म के आधारभूत तत्त्वों की हमने कुछ ऐसी ही स्थिति कर दी है। हम अनेकान्त की बातें करते हैं पर आग्रह का दामन छोड़ते नहीं, अहिंसा की बात करते हैं पर हिंसा से बचते नहीं, अपरिग्रह की चर्चा करते हैं पर संग्रह-वृत्ति छोड़ते नहीं। यह मनः-स्थिति तब बनती है जब नेतृत्व में जड़ता आ जाती है। चिन्तन कुंठित हो जाता है।

यह कैसी विडम्बना है कि विकृतियों के खिलाफ लड़नेवाला धर्म आज स्वयं विकारग्रस्त हो रहा है? क्रांति का शंखनाद फूंकने वाला धर्म आज स्वयं निस्तेज हो रहा है, ऐसे समय में जबकि उसके क्रांति-तत्त्व की, उसके समता तत्त्व की, उसके सापेक्षवाद की आज बहुत बड़ी आवश्यकता है। हमने अपने धर्म की ऊर्जा को अपने अहं में कैद कर लिया है। चन्द व्यक्तियों की सामाजिक नेतृत्व की थोथी प्रतिष्ठा की भूख और बड़प्पन की जहरीली लिप्सा ने हमें खण्ड-खण्ड कर रखा है। समन्वय और एकता की स्फुलिंग जैन-मानस में सुपुप्त है। उसे जागृत करने के लिए तेजस्वी नेतृत्व की आवश्यकता है। ऐसे नेतृत्व की जिसमें झूठी यश-लिप्सा नहीं है, जो दूसरों के कंधे पर बन्दूक रखकर गोली नहीं चलाता, जिसे अपने पैसे का अभिमान नहीं है, जो पैसे के बल पर वर्ग-विभेद पैदा नहीं करता, जिसे प्रभुता और कुर्सी की चाह नहीं है। जो फूल-पत्तियों की अपेक्षा जड़ को विशेष महत्त्व देता है। जिसका दिल उदार और दृष्टिकोण विशाल है।

हमारा वर्तमान नेतृत्व फूल-पत्तियों को देखने में ही उल्लास अनुभव कर रहा है। पर जब ये फूल-पत्तियां कुम्हला जायेंगी तब क्या होगा? यदि जड़ मजबूत न हुई, सम्यक् जल से सींची न गई तो वृक्ष कैसे लहलहायेगा? इसकी चिन्ता हम सबको मिलकर करनी है। पत्तियों को ही जड़ समझने की भूल सबसे बड़ी भूल होगी।

तो आइये, समन्वय की दिशा में हम कुछ सोचें, समझें और उन पर अमल करें।

मेरी दृष्टि से हमें समन्वय की निम्न दिशाओं की ओर तत्काल अग्रसर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होना चाहिए :—

(१) ऐसे सामूहिक अवसरों की खोज की जाय जिनमें सभी धर्मानुयायी अपने क्षेत्र में परस्पर मिलें और विचारों का आदान-प्रदान करें। ये अवसर तीन प्रकार के हो सकते हैं—

क. धार्मिक पर्व—पर्युषण, महावीर जयन्ती, अक्षय तृतीया आदि,

ख. सामाजिक त्यौहार—दीपावली, होली, व अन्य

ग. शैक्षणिक प्रवृत्तियां—विचारगोष्ठी, व्याख्यानमाला आदि के आयोजन।

(२) असाम्प्रदायिक सत्साहित्य का प्रकाशन एक ऐसा कदम होगा जो न केवल जैन मतों में वरन् अन्य धर्म सम्प्रदायों में भी समन्वय और सौहार्द का भाव पैदा करेगा। इसके लिए **जैन साहित्य अकादमी** जैसी संस्था का अखिल भारतीय स्तर का गठन किया जाना चाहिए। इसमें सभी जैन सम्प्रदायों का समीचीन प्रतिनिधित्व हो और वह असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण से ऐसी प्रेरणादायी सर्वजनोपयोगी व विशिष्ट शोध ग्रन्थों का प्रकाशन करे जो सभी जैन सम्प्रदायों द्वारा मान्य हो। प्रारम्भ में विवादग्रस्त तथ्यों को छोड़ दिया जाय या उन्हें इस ढंग से प्रस्तुत किया जाय कि उसमें खण्डनात्मक दृष्टिकोण व्यंजित न हो। जत कभी अखिल भारतीय या विश्व स्तर पर जैन दृष्टिकोण प्रस्तुत करना हो तब ऐसे ग्रन्थों को ही मान्य ठहराया जाय।

(३) भारत जैन महामण्डल की गतिविधियों और प्रवृत्तियों को अखिल भारतीय जैन प्रतिनिधि सङ्गठन की शक्ति और स्फूर्ति प्रदान की जाय। उसे ऐसा समन्वय-मंच बनाया जाय कि वहां बैठकर हम पारिवारिक सदस्यों की भांति अपनी समस्याओं पर विचार कर सकें और प्रत्येक सदस्य के मन को यह अनुभव करा सकें कि यह उसके मानस की आवाज को बुलन्द करने वाली उसकी अपनी संस्था है। हम सबको मिलकर उसके तेज को और अधिक जागृत करने की आवश्यकता है। □□

सुख पाने का एक मार्ग है—सुख देना।

—भगवान महावीर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दो सूरजों के बीच*

मैं अस्त होते सूरज को गाली नहीं बकता हूँ।
न उदय होते सूरज को प्रणाम करता हूँ।
मैं यह साफ़-साफ जानता हूँ
कि उदय होने की नियति अस्त होना है।

मैं अस्त होते सूरज को श्रद्धा के साथ विदा देता हूँ।
मैं उदय होते सूरज के साथ कदम मिलाकर
चलता हूँ।
मैं हो-चुके और हो-रहे के बीच
संधि-रेखाओं को पहचानने की कोशिश करता हूँ।

मेरा यह प्रयास भी रहता है
कि धरती और आकाश के बीच
क्षितिज की कोई सम्भावना जन्म ले सके?

मैं चाहता हूँ कि व्यतीत होती दोपहर
और जन्म-लेती सुबह
एक-दूसरे को समझने का श्रम करें
और समझें
कि एक तटस्थ, निर्मम काल-पुरुष
(जिसे इतिहास कहते हैं)
सारे पक्षों की दलीलें सुन रहा है,
लेकिन वह एक ऐसा न्यायाधीश है
जो समयातीत है
और अन्तिम फैसला
जिसकी कलम की नोंक में बन्द है।

□ रामदेव आचार्य
कृती प्रकाशन
जेल के कुएं के पास,
वीकानेर (राज०)

* दो सूरज
एक सूरज व्यतीत-होती पीढ़ी
दूसरा सूरज नई पीढ़ी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गीत

अन्तिम तीर्थंकर की जय हो
अन्तिम तीर्थंकर की जय

सिंहासन की छीना-झपटी, तलवारों की काली भाषा
तुमको कभी न रास आ सकी, कुछ थी और तुम्हारी आशा
तुम युद्धों के बीच खड़े हो, उन पर खुलकर हंस सकते थे
शान्ति कहीं यदि अर्थ पूर्ण है, तुम ही थे उसकी परिभाषा

मानव आज शरीर मात्र है, तुम शरीर के बीच हृदय
अन्तिम तीर्थंकर की जय हो, अन्तिम तीर्थंकर की जय ।

बिखरे हुए राजदण्डों पर, युग के ढोंगों पाखण्डों पर
तुमने ही आघात किया था, जाति-धर्म वाले पंडों पर
कष्टों ने जितना घेरा था, तुम निराश हो रो सकते थे
तुमको था विश्वास सत्य पर, किन्तु नहीं झूठे झंड़ों पर ।

अभयदान उसको दे डाला, जिसको भी घेरे था भय
अन्तिम तीर्थंकर की जय हो, अन्तिम तीर्थंकर की जय ।

ऐसे तुम थे जैसे जल में कीचड़ से उठ गया कमल हो
वर्तमान के कोलाहल में जैसे कोई अगला कल हो
राजपुत्र थे तुम तो महलों में कुबेर बन छा सकते थे
पर उस युग में बहे इस तरह, बने आज तक गंगाजल हो ।

आज तुम्हारी विजयरागिनी, गाता बदला हुआ समय
अन्तिम तीर्थंकर की जय हो, अन्तिम तीर्थंकर की जय ॥

□ वीरेन्द्र मिश्र
३४/२५ वेस्ट पटेल नगर
नई दिल्ली-८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाश चंद्र जी शास्त्री
आचार्य, श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी
द्वारा भेंट

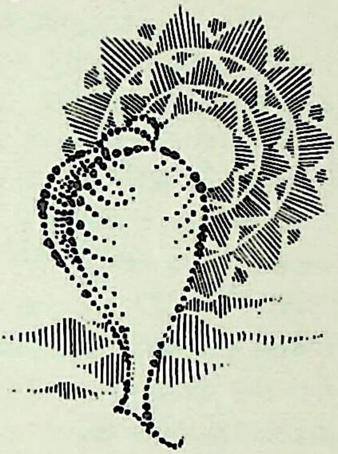

धर्म एवं बदलते हुए मूल्य

[सभी धर्मों के अनुयायी अपने-अपने धर्म को शाश्वत मानते हैं, क्योंकि वे साधारणतया परिवर्तन को पसंद नहीं करते....किंतु सचाई यह है कि उनके धर्म में काफी परिवर्तन आगया होता है....]

डा० नथमल टांटिया
निदेशक :
प्राकृत, जैनशास्त्र एवं अहिंसा-शोध संस्थान, वैशाली (बिहार)

जो वस्तु हमें इष्ट है वही हमारे लिए मूल्य है। उस इष्ट वस्तु की प्राप्ति के साधन भी मूल्य ही है। उदाहरणार्थ—पुत्र, वित्त एवं स्वर्गादि लोक मूल्य हैं, एवं उनकी प्राप्ति के साधन रूप से इष्ट याग-यज्ञ, व्रत, तपस्या आदि भी मूल्य हैं। इष्ट मूल्यों को हम साध्य-मूल्य कह सकते हैं एवं उनकी प्राप्ति के उपायों को हम साधन-मूल्य की संज्ञा दे सकते हैं। बुद्ध ने अविद्या एवं तृष्णा को सांसारिक जीवन का हेतु माना। भगवान् महावीर ने इसी बात को मोहनीय कर्म मानकर स्पष्ट किया। **योग-दर्शन** में तृष्णा को राग कहा गया है **योग-भाष्य** १.७ में राग की व्याख्या इस प्रकार है:—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्धः, तृष्णा, लोभः स रागः ।

अर्थात्, जिस जिस व्यक्ति ने अतीत में सुख का अनुभव किया है, उस व्यक्ति के मन में, उस अतीत अनुभव के स्मरण के कारण, जो सुख एवं सुख के साधनों के प्रति आसक्ति, तृष्णा एवं लोभ है, वही राग है । चूँकि भारतीय सभी दर्शन संसार को अनादि मानते हैं, अतः यह तृष्णा भी अनादि है एवं कोई भी व्यक्ति इसके प्रभाव से मुक्त नहीं है । आधुनिक युग में **फ्रायड** ने इस तत्व को काम-तृष्णा की संज्ञा दी है, जिसे वे अनादि एवं अनन्त मानते हैं, जबकि भारतीय दर्शन उसके आत्यन्तिक उन्मूलन के साधनों में भी विश्वास रखते हैं । यह तृष्णा सभी सांसारिक मूल्यों का वीज है । इसके विपरीत दूसरे नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्य भी माने गये हैं, जो मनुष्य को एक उच्च स्तर पर ले जाते हैं । इन दो प्रकार के मूल्यों के बारे में वैदिक दार्शनिकों में मौलिक विवाद रहा है, जिसकी एक मनोरंजक चर्चा हम सांख्य-ग्रंथ **युक्तिदीपिका** पृष्ठ १६-१७, दिल्ली १९६७।। में पाते हैं । प्राचीन वैदिक धर्म में त्रिविध एषणाओं को योग्य स्थान प्राप्त था । पर उपनिषद् काल में संन्यास को प्रधानता मिली, जिसकी पराकाष्ठा हम सांख्य-दर्शन में देखते हैं । मीमांसक दर्शन सदैव प्राचीन वैदिक धर्म का समर्थक रहा, यद्यपि उपनिषदों का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया एवं शांकरवेदान्त में उसका पर्यवसान हुआ । **युक्तिदीपिका** में ये दो पक्ष अत्यागपक्ष एवं संन्यास-पक्ष के रूप में उभर आये हैं । सांख्य दार्शनिक भी वेद का प्रामाण्य अस्वीकर नहीं करते हैं ।। **वहीं**, पृष्ठ १६।। पर वे अपना सिद्धांत वेदों के उन अंशों से फलित करते हैं, जिनमें संन्यास का उपदेश दिया गया है वे अपने पक्ष में **बृहदारण्यक** ।।४:४:२२।। का निम्नोक्त वाक्य उद्धृत करते हैं :—

एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति, एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति । एतद्ध स्म वे तत्पूर्व विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते, किं प्रजया करिष्यामो येषां नो यमात्मा यं लोक इति, ते ह स्न पुत्रैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति ।

अर्थात्, इस ब्रह्म को ही जन कर मुनि होता है, इसी ब्रह्मलोक की इच्छा से संन्यासी लोग संन्यास ग्रहण करते हैं । यही कारण है कि पहले के ऋषि सन्तति की कामना नहीं करते थे—हमें सन्तति से क्या प्रयोजन ? हमारे लिए, यह ब्रह्म ही आत्मा है, लोक है । ऐसे ऋषि पुत्र-कामना, वित्त-कामना एवं लोक-कामना से परे होकर भिक्षाटन से जीवनयापन करते है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसके विपरीत मीमांसक अपने अत्यागसिद्धांत के पक्ष में निम्नोक्त वाक्य उद्धृत करते हैं :—

जरामर्यमतेत् सत्रं यदग्निहोत्रदर्शपार्णमासा, जरया ह
एतस्मात् सत्राद्विमुच्यते, मृत्युना च ॥

—शावर-भाष्य २ : ४ : ४

अर्थात् ये अग्निहोत्र एवं दर्शपौर्णमास शाश्वत यज्ञ हैं। जरा या मृत्यु आने पर ही इन कर्तव्यों से पुरुष मुक्त हो सकता है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीवेषच्छतं समाः

—ईशावास्योपनिषद् २

अर्थात् विहितकर्मों का अनुष्ठान करता हुआ सौ वर्ष तक जीने की कामना करे।

मोक्ष और यज्ञ

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों पक्ष अपने-अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए दो भिन्न मार्ग अपनाते हैं। मीमांसक स्वर्ग को ही उच्चतम ध्येय मानते हैं। यद्यपि परवर्ती काल में उनका स्वर्ग, मोक्ष जैसा ही बन गया। साध्य-भूत मूल्य बदल गया, पर साधन-भूत मूल्य के बारे में नये मत के साथ प्राचीन मत का सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाया। जैन एवं बौद्ध धर्म, जो मोक्षवादी है, यज्ञ एवं ब्राह्मण शब्दों की नवीन व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। **उत्तराध्ययन-सूत्र** के हरिकेशीयाध्ययन ॥४३-४६॥ एवं यज्ञीयाध्ययन ॥१६-३३॥ इस प्रसंग में द्रष्टव्य है। पालि पिटक के **सुतनिपात** के ब्राह्मण-धम्मिक सुत्त। १६-२६ में पशुयज्ञों की उत्पत्ति के कारण बताये गये हैं तथा वहीं ॥१२॥ चावल, घृत, आदि से किये जाने वाले प्राचीन यज्ञों का भी उल्लेख है। यज्ञ की नवीन व्याख्या हम माघसुत्त में देखते हैं। **धम्मपद** के ब्राह्मण वग्ग में ब्राह्मण का स्वरूप बताया गया है।

संक्षेप में ऐसा कहा जा सकता है कि प्रधानतया साधनभूत मूल्यों के प्रश्न पर हमारे दार्शनिक सम्प्रदाय इन दो विभागों में बट गये :—१-कर्मकाण्डी सम्प्रदाय एवं २--संन्यासी संप्रदाय।

कर्मकाण्डी संप्रदाय के उदाहरणार्थ हम **दुर्गासप्तशती** में भक्त द्वारा देवी को संबोधित निम्न प्रार्थना को ले सकते हैं :—

देहि सौभाग्यमारोग्यं देहि मे परमं सुखम्।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात्, मुझे सौभाग्य दो, आरोग्य दो, उत्कृष्ट सुख दो, रूप दो, जय दो, यश दो, मेरे शत्रुओं का नाश करो।

दूसरी ओर, निवृत्ति-मार्गी जैन आचार्य समन्तभद्र स्वामी की निम्नोद्धृत स्तुति को हम देख सकते हैं जिसमें उपर्युक्त प्रवृत्ति मार्ग को त्याज्य बताया गया है।

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते।
भवान्पुनर्जन्म-जरा-जिहासया त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरुणत्॥

—स्वयम्भूस्तोत्र ४९

अर्थात् कितने ही तपस्वी जन सन्तान, धन तथा परलोक की तृष्णा के वशीभूत होकर कर्मकांड में रत रहते हैं। परन्तु आप समभावी हैं एवं आपने पुनर्जन्म एवं जरा को दूर करने की इच्छा से मन, वचन तथा काय इन तीनों की प्रवृत्ति को रोका है।

हमने ऊपर कुछ सांसारिक मूल्यों की चर्चा की। इन मूल्यों का वर्गीकरण अर्थ और काम के रूप में भी किया जाता है। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष ये चार पुरुपार्थ हैं, इन में मोक्ष परम पुरुषार्थ है, तथा धर्म उस परम पुरुषार्थ तक पहुँचने का मार्ग है। ऐसे तो अर्थ एवं काम का आधार भी धर्म ही है, क्योंकि धर्मरहित अर्थ एवं काम अन्त में अहितकर ही सिद्ध होते हैं। धर्म भी अर्थ एवं काम के बिना पनप नहीं सकता है। इस अर्थ में धर्म-पुरुपार्थ अर्थ एवं काम का मूल भी है और फल भी। **श्री मद्भगवद्गीता** उपर्युक्त चारों पुरुषार्थों में सामंजस्य स्थापन करने का प्रयत्न करती है। जैन एवं स्थविरवादी बौद्ध मोक्ष-पुरुषार्थ को ही प्रधानता देते हैं एवं निवृत्तिप्रधान धर्म को ही एकमात्र मोक्षमार्ग मानते हैं। महायानी बौद्धों का मत इस विषय में करीब-करीब **गीता** जैसा ही है। मोक्ष केवल एक व्यक्तिगत प्रश्न नहीं है, उसका संबन्ध समाज के सभी अंगों से है जो अविभाज्य रूप से जुड़े हुए हैं।

आध्यात्मिक मूल्यों के अन्तर्गत अहिंसा, अपरिग्रह आदि गिने जायेंगे, जिनका परम साध्य मोक्ष हैं, यद्यपि सांसारिक हित की प्राप्ति के लिये भी वे परमावश्यक हैं।

२—मूल्यों की इस सामान्य चर्चा के बाद अब धर्म के बारे में कुछ विचार करना आवश्यक है। कुछ धर्म ईश्वरवादी हैं, जो ईश्वर को ही विश्वव्यवस्था के मूल नियन्ता के रूप में मानते हैं। इन धर्मों से भिन्न कुछ ऐसे भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं, जो अपने कर्म-सिद्धान्तों के आधार पर ही विश्वव्यवस्था की व्याख्या करते हैं। इनके मत में कर्म तत्व ही चराचर जगत् का नियन्ता है। कुछ ऐसे धर्म भी हैं जो ऐसा एक अद्वैत-तत्व मानते हैं, जो स्वयं ही उपादान एवं निमित्त कारण के रूप में चराचर जगत के मूल में विद्यमान है। आधुनिक चिंतन इस अन्तिम विचारधारा के अनुकूल है। ईश्वरवादी धर्म उपास्य सर्वशक्तिमान् ईश्वर के बिना धर्म की कल्पना ही नहीं कर सकते। उसी तरह निरीश्वरवादी, जैसे जैन एवं बौद्ध धर्म, यह समझने में असमर्थ है कि ईश्वर कैसे इस विषमतापूर्ण जगत् के कर्त्ता हो सकते हैं। जड़ जगत् के वैज्ञानिक नियम एवं मनोजगत् के कुछ रहस्यों का आधुनिक सफल विश्लेषण हमें तीसरी विचारधारा की ओर स्वतः आकृष्ट करते हैं। कुछ भी हो, पर समाज-व्यवस्था के लिये भौतिक उन्नति, जिसका समावेश अर्थ एवं काम पुरुषार्थ में किया जा सकता है, के साथ अहिंसा, अपरिग्रह, आदि नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की आवश्यकता अनिवार्य है। हम अपना यह अध्ययन, सहूलियत की

सऊदी अरब में नयी टेलोफोन लाईन डाली जा रही थी। वहाँ के धर्मगुरुओं—मौलवियों ने कहा—"यह काम तो शैतान का है, धर्म विरुद्ध है।"

काम रुक गया और बहस शुरू हुई। बड़ा वाद विवाद चला। किसी की हिम्मत नहीं थी कि यह धर्मविरुद्ध कार्य करने का साहस करे।

बहुत सोच विचार कर बादशाह ने फैसला दिया—"परीक्षा की जाय कि दरअसल यह शैतान का काम है या नहीं! एक आदमी टेलीफोन पर कुरान शरीफ की पवित्र आयतें बोलें, यदि इसमें शैतान बैठा होगा तो वह पवित्र आयतें परले पार सुनने नहीं देगा, यदि सुनाई दी, तो फिर यह शैतान का काम नहीं होगा।"

आयतें टेलीफोन पर बोली गई, लोगों ने स्पष्ट सुनी और ऐलान कर दिया गया कि यह कार्य धर्म विरुद्ध नहीं है।

हर नये आविष्कार, हर नये विचार और नये आचरण को धर्म की दकियानूसी धारणाओं से लड़ना पड़ा है, और बड़ी कठिनाईयों के बाद आगे बढ़ने का रास्ता मिला है।

—'सरस' लिखित 'पहली किरण से'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दृष्टि से, भारतीय धर्मों तक ही सीमित रखेंगे, ताकि इन धर्मों में विवेचित मूल्यों के इतिहास पर हम विशेष रूप से प्रकाश डाल सकें।

३—मूल्यों के विवेचन के प्रसंग में हमने ऊपर कुछ मूल्यों का उल्लेख किया है, जैसे याग-यज्ञ व्रत, तपस्या, मोक्ष आदि। अब हम देखें कि किस तरह मूल्य बदलते हैं।

एक ही नाम से प्रसिद्ध मूल्य का स्वरूप भिन्न-भिन्न धर्मों में भिन्न-भिन्न प्रकार का हो सकता है। उदाहरणार्थ मोक्ष को लीजिए। जैन, बौद्ध, वेदान्त आदि दर्शनों में मोक्ष के स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं, यद्यपि उन सबके लिए मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण जैसे शब्द निर्विवाद रूप से व्यवहृत होते थे। इस प्रकार के भेद को हम तिर्यक्‌भेद कह सकते हैं, जो एक ही शब्द के समकालीन विभिन्न अर्थों का द्योतक है। समकालीन धर्मों में विभिन्न अर्थवाची यज्ञ शब्द भी इस तिर्यक् भेद का दृष्टान्त है।

इसी तरह यह भी देखा जाता है कि एक ही शब्द एक ही धर्म सम्प्रदाय में भिन्न-भिन्न काल में भिन्न-भिन्न अर्थ धारण करता हुआ गुजरता है। उदाहरणार्थ यज्ञ शब्द को लीजिये। **श्रीमद्‌भगवद्‌गीता** में सर्वगत ब्रह्म ही यज्ञ में सदा अधिष्ठित माना गया है। **तस्मात् सर्वगतं नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्** ॥ ३ : १५ ॥ अनासक्त कर्म ही वैदिक यज्ञ का तात्पर्य है। ३ : १९। **गीता** ॥ ४ : २४ ॥ स्पष्टरूपेण कहती है—**अर्पण** अर्थात् हवन करने की क्रिया ब्रह्म है, हवि अर्थात् अर्पण करने का द्रव्य ब्रह्म है, ब्रह्माग्नि में ब्रह्म ने हवन किया है—इस प्रकार जिसकी बुद्धि में सभी कर्म ब्रह्ममय हैं, उसको ब्रह्म ही मिलता है :—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

अपने समय तक विकसित विभिन्न यज्ञों की सूची **गीता** ॥ ४ : २८ ॥ में इस प्रकार प्रस्तुत की गई है :—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्याय-ज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥

अर्थात्, तीक्ष्ण व्रत का आचरण करने वाले **यति** कोई द्रव्यरूप, कोई तपरूप, कोई योगरूप, कोई स्वाध्यायरूप और कोई ज्ञानरूप यज्ञ किया करते हैं। इसी प्रसंग में आखिर ॥ ४ : ३२-३ ॥ में कहा गया है :—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान् विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ।।
श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ! ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ।।

अर्थात्, इस प्रकार भांति-भांति के यज्ञ ब्रह्म के ही मुख में अर्पित हैं। यह जानो कि वे सब कर्म से निष्पन्न होते हैं। यह ज्ञान हो जाने से तू मुक्त हो जायगा। हे परन्तप ! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानमय यज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि हे पार्थ ! सब प्रकार के समस्त कर्मों का पर्यवसान ज्ञान में होता है। भक्तिमार्गियों के लिए गीताकार जपयज्ञ का विधान इन प्रकार करते हैं ।। १० : १५ ।। **यज्ञानां जपयज्ञोस्मि**। अर्थात्, यज्ञों में स्वयं जपयज्ञ हूं। मनुस्मृति ।। ३, ७०-१ ।। के पांच महायज्ञ भी इस प्रसंग में मननीय हैं। यज्ञ शब्द का पूरा इतिहास इस तरह स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार के कालिक भेद को हम ऊर्ध्वगामी परिवर्तन कह सकते हैं।

उक्त ऊर्ध्वगामी परिवर्तन के दृष्टान्त के रूप में योग शब्द को भी लिया जा सकता है। योग शब्द का प्राचीन अर्थ था "चित्तवृत्तियों का निरोध" **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः—योगसूत्र, १ : २ ।।** परन्तु गीता ।। २-४८ ।। के अनुसार योग का अर्थ है कार्य की सिद्धि या असिद्धि जो भी हो, उसमें सम-भाव रखना। कर्म करने की कुशलता को भी गीता में योग कहा गया है :—

योगः कर्मसु कौशलम् ।। २ : ५०

यहां योग शब्द का अर्थ है कर्म योग, मीमांसकों के कर्मकाण्ड के स्थान पर कर्म योग की स्थापना करते हुए गीताकार ने संन्यासमार्ग का भी पुनर्मूल्यांकन किया जो इस प्रकार है :— **गीता, ५ : २ ।।**

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ।।

अथात्, कर्मसंन्यास एवं कर्मयोग—ये दोनों मार्ग मोक्ष प्राप्त करा देने वाले हैं, परन्तु इन दोनों में कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की योग्यता विशेष है। इस तरह हम देखते हैं कि योग शब्द जो मूल में चित्तसमाधि के अर्थ में प्रयुक्त था एवं मात्र व्यक्तिगत मुक्ति का साधन था, वह उत्तरवर्ती काल में व्यक्ति एवं समाज के हित साधन की दृष्टि से किये गये सभी प्रकार के कर्तव्यों का वाचक बन गया। आधुनिक युग में लोकमान्य तिलक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

॥ **गीता रहस्य प्रकरण ११** ॥ एवं महात्मा गांधी के हाथों में तो यह कर्मयोग और भी व्यापक बन गया। **गीता** के कर्मयोग पर गांधीजी लिखते हैं—"कर्म करते हुए भी मनुष्य बन्धनमुक्त कैसे रहे? जहां तक मुझे मालूम है, इस समस्या को **गीता** ने जिस तरह हल किया है वैसे किसी भी धर्मग्रंथ ने नहीं किया है। **गीता** का कहना है, फलासक्ति छोड़ो और कार्य करो, आशारहित होकर कर्म करो, निष्काम होकर कर्म करो। यह **गीता** की वह ध्वनि है जो भुलाई नहीं जा सकती। जो कर्म छोड़ता है वह गिरता है। कर्म करते हुए भी जो उसका फल छोड़ता है वह चढ़ता है। फलत्याग का यह अर्थ नहीं है कि परिणाम के सम्बन्ध में लापरवाही रहे। परिणाम और साधन का विचार और उसका ज्ञान अत्यावश्यक है। इतना होने के बाद जो मनुष्य परिणाम की इच्छा किये बिना साधन में तन्मय रहता है वह फलत्यागी है"—**अनासक्तियोग, प्रस्तावना** ॥

गांधीजी आगे लिखते हैं :—"साधारणतः तो यह माना जाता है कि धर्म और अर्थ विरोधी वस्तु है, व्यापार इत्यादि लौकिक व्यवहार में धर्म नहीं बचाया जा सकता, धर्म को जगह नहीं हो सकती, धर्म का उपयोग केवल मोक्ष के लिए किया जा सकता है। धर्म की जगह धर्म शोभा देता है और अर्थ की जगह अर्थ। बहुतों से ऐसा कहते हम सुनते हैं। गीताकार ने इस भ्रम को दूर किया है। उसने मोक्ष और व्यवहार के बीच ऐसा भेद नहीं रखा है, वरन् व्यवहार में धर्म को उतारा है। जो धर्म व्यवहार में न लाया जा सके वह धर्म नहीं है. मेरी समझ से यह बात **गीता** में है।" योग शब्द की यह आधुनिक व्याख्या समयानुकूल मूल्यों के उत्क्रमण का एक स्पष्ट उदाहरण है।

मूल्यों के ऊर्ध्वगामी परिवर्तन के प्रसंग में ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अहिंसा एवं मोक्ष तत्व के पुनर्मूल्यांकन पर भी विचार किया जा सकता है।

जननेन्द्रिय के विकारों पर अंकुश रखना ही ब्रह्मचर्य का पालन है—ऐसा माना गया था। पर गांधीजी ने इस परिभाषा को व्यापकता प्रदान की, और उसे जीवन में उतारने के प्रयत्न किये, वे कहते हैं—"सारे विषयों पर अंकुश रखना ही ब्रह्मचर्य है। जो दूसरी इंद्रियों को जहां तहां भटकने देता है और एक ही इंद्रिय को रोकने की कोशिश करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता है, इसमें क्या शंका है?"—**संयम और सन्तति-नियमन**, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, १९६२, पृष्ठ ११३ ॥

अपने जीवन में ब्रह्मचर्य व्रत उतारने के प्रसंग में गांधीजी कहते हैं : ब्रह्मचर्य के सम्पूर्ण पालन का अर्थ है ब्रह्मदर्शन। यह ज्ञान मुझे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शास्त्र द्वारा नहीं हुआ। यह अर्थ मेरे सामने क्रम-क्रम से अनुभवसिद्ध होता गया। उससे सम्बन्ध रखने वाले शास्त्र-वाक्य मैंने बाद में पढ़े !....अब ब्रह्मचर्य को एक घोर तपश्चर्या के रूप में रहने देने के बदले उसे रसमय बनाना था, उसी के सहारे निभाना था, इसलिए अब उसकी विशेषताओं के मुझे नित-नये दर्शन होने लगे। इस प्रकार यद्यपि मैं इस व्रत में से रस लूट रहा था, तो भी कोई यह न माने कि मैं उसकी कठिनाई का अनुभव नहीं करता था। आज मुझे ५६ वर्ष पूरे हो चुके हैं, फिर भी इसकी कठिनता का अनुभव तो मुझे होता ही है यह एक असिधारा व्रत है इसे मैं अधिकाधिक समझ रहा हूं। और निरन्तर जागृति की आवश्यकता का अनुभव कर रहा हूँ।" ॥ **वही, पृ० १०** ॥

गांधीजी के ब्रह्मचर्य विषयक इस पुनर्मूल्यांकन की दिशा वही है जो उनके द्वारा किये गये कर्मयोगसम्बन्धी विकास की है।

अपरिग्रह शब्द का अर्थ है परिग्रह नहीं रखना। इस व्रत के पूर्ण पालन के लिए संन्यासी लोग वस्त्र तक का त्याग कर देते हैं, क्योंकि वस्त्र भी तो आखिर में परिग्रह ही है। यहां तक तो ठीक है। पर यदि कोई ऐसा समझ ले कि जीवनयात्रार्थ अपनी न्यूनतम आवश्यकता की पूर्ति के लिए जो वस्त्र, पात्र आदि उपकरण रखता है वह संन्यासी ही नहीं है, तो परिस्थिति अव्यावहारिक बन जाती है। इस प्रश्न को लेकर ही शायद जैन संघ श्वेताम्बर एवं दिगम्बर—इन दो भागों में बंट गया। जैनाचार्य वाचक उमास्वाति ने इस प्रश्न का समाधान **मूर्च्छा परिग्रहः** मूर्च्छा अर्थात् आसक्ति ही परिग्रह है—**तत्वार्थसूत्र** ७ : १२ ऐसा कहकर किया। इस विषय में गांधीजी कहते हैं :—"वास्तव में परिग्रह मानसिक वस्तु है। मेरे पास घड़ी है, रस्सी है और कच्छ "लंगोटी" है। इनके अभाव में यदि मुझे क्लेश होता है तो मैं परिग्रही हूं। यदि किसी को बड़े कम्बल की जरूरत है तो वह उसे रखे, पर खो जाने पर क्लेश न करे तो वह अपरिग्रही है।" —**नीति धर्म-दर्शन**, गांधी साहित्य प्रकाशन, इलाहबाद, १९६८, पृ० २७ ॥

"अहिंसा" व्रत का अर्थ है हिंसा मे विरति। हिंसा का स्थूल अर्थ है प्राणि-वध। इस प्राणि-वध से बचने के लिए जैन धर्म में कई नियम किये गये हैं, जिनका पालन असम्भव नहीं तो अत्यन्त दुष्कर तो है ही। भारतीय धर्मों के इतिहास में अहिंसा-सिद्धान्त अत्यन्त घनिष्ठ रूप से जैन धर्म से संबद्ध है। **द्रव्य-हिंसा** और भाव-हिंसा का विश्लेषण जैन दर्शन का एक महत्वपूर्ण विषय है। अहिंसा पर जैन धर्म ने इतना अधिक भार दिया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कि जैन सम्प्रदाय निवृत्तिमार्ग की पराकाष्ठा पर पहुँच गया एवं अव्यावहारिक सा प्रतीत होने लगा। फलस्वरूप जैनेतर चिन्तक जैन धर्म को अति दुःसाध्य समझने लगे। दूसरी ओर बौद्ध धर्म में अहिंसा को इतना शिथिल कर दिया गया कि बौद्ध धर्म की लोग कटु आलोचना करने लगे। परन्तु परवर्ती-काल में वाचक उमास्वाति ने हिंसा का जो लक्षण किया वह भारतीय दर्शन को जैनदर्शन की एक अमूल्य देन कही जा सकती है। **पातंजल-योग-भाष्य** ॥२:३०॥ में अहिंसा का लक्षण निम्नोक्त प्रकार किया गया था :—

अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः।

अर्थात् किसी प्रकार से किसी जीव का पीड़न नहीं करना ही अहिंसा है। आचार्य वसुबन्धु अपने **अभिधर्मकोश** ॥४:७३॥ में प्राणातिपात = हिंसा की व्याख्या इस प्रकार करते हैं :—

प्राणातिपातः संचिन्त्य परस्याभ्रान्तिमारणम्।

अर्थात् मारने की इच्छा से दूसरे प्राणी का भ्रान्तिरहित 'अचूक' हनन करना ही प्राणातिपात है। उपर्युक्त दोनों लक्षणों में पीड़न या हनन क्रिया को ही महत्व दिया गया है। परन्तु वाचक उमास्वाति ने हिंसा के लक्षण में प्रमत्तयोग को ही प्राधान्य दिया है। कहते हैं—

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।

—तत्वार्थसूत्र ७:८

अर्थात्, प्रमत्तयोग से होनेवाला प्राणवध हिंसा है। इस सूत्र का स्पष्टीकरण पंडित सुखलालजी ने इस प्रकार किया है — 'हिंसा की व्याख्या दो अंशों द्वारा पूरी की गई है। पहला अंश है— प्रमत्त योग अर्थात् रागद्वेषयुक्त अथवा असावधान प्रवृत्ति, और दूसरा है - प्राणवध। पहला अंश कारण रूप में और दूसरा कार्यरूप में है। इसका फलित अर्थ यह है कि जो प्राणवध प्रमत्तयोग से हो, वह हिंसा है।' उपर्युक्त चर्चा से यह फलित होता है कि जैनदर्शन में हिंसा-अहिंसा के प्रश्न को जैसा महत्व दिया गया है वैसा जैनेतर दर्शनों में परिलक्षित नहीं होता। गांधीजी ने अपने **अनासक्ति-योग** में अहिंसा के स्वरूप को और अधिक विकसित किया। गीता का तात्पर्य फलत्याग तथा अहिंसा में है, न कि भौतिक युद्ध में। गीता में पशुहिंसा का समर्थन नहीं किया गया है। गीता की गहराई से नये-नये अर्थ निकाले जा सकते हैं, क्योंकि वह एक महाकाव्य है। अपने समय तक में विकसित नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का नवीकरण गीता ने किया एवं युग-युग में होने वाले

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिवर्तनों को द्योतित करने की शक्ति भी उसके महाशब्दों में विद्यमान है। अनासक्तियोग की शिक्षा गांधीजी ने गीता से प्राप्त की एवं उसके तात्पर्य को पर्याप्त मात्रा में विस्तृत भी किया। गांधीजी के निम्नोक्त कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। वे कहते हैं—"गीता सूत्रग्रंथ नहीं है। गीता एक महान् धर्मकाव्य है। उसमें जितने गहरे उतरिये उतने ही उसमें से नये और सुन्दर अर्थ लीजिए। गीता जनसमाज के लिये है, उसने एक ही बात को अनेक प्रकार से कहा है। अतः गीता में आये हुए महाशब्दों का अर्थ युग-युग में बदलता और विस्तृत होता रहेगा। गीता का मूलमंत्र कभी नहीं बदल सकता। वह मंत्र जिस रीति से सिद्ध किया जा सके उस रीति से जिज्ञासु चाहे जो अर्थ कर सकता है। गीता विधिनिषेध बतलाने वाली भी नहीं है। एक के लिए जो विहित होता है, वही दूसरे के लिए निषिद्ध हो सकता है। एक काल या एक देश में जो विहित होता है, वह दूसरे काल में, दूसरे देश में निषिद्ध हो सकता है। निषिद्ध केवल फलासक्ति है। विहित है अनासक्ति'—**अनासक्तियोग,** प्रस्तवना।

युग, परिस्थिति एवं वैज्ञानिक प्रकाश के अनुकूल धर्म में या धार्मिक मूल्यों में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। यह गीता का निष्कर्ष है। गांधीजी के जीवन में हम सभी भारतीय धर्मों का मूर्तिमान् समन्वय पाते हैं एवं यदि यह कहा जाय कि गांधीजी ही एकमात्र ऐसे महापुरुष हैं जिनके जीवन में हिन्दू, बौद्ध एवं जैन धर्म में उच्च आदर्श पूर्णरूपेण प्रतिफलित हुए हैं तो अत्युक्ति नहीं होगी। गांधीजी अति-कर्मी होते हुए भी अति-अकर्मी थे। प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का पारस्परिक विरोध, जो ब्राह्मण एवं श्रमण परम्पराओं के दृष्टिबिन्दुओं में निहित था, गांधीजी के जीवन में शान्त हो गया। जैन अहिंसा की सच्ची व्याख्या तो वर्तमान युग में गांधीजी के जीवन में ही दृष्टिगोचर होती है। युद्ध और शांति के क्षेत्र में गांधीजी ने अहिंसा के प्रयोग किये एवं फलस्वरूप सत्याग्रह की कल्पना आई। नरसंहारी युद्ध का कोई प्रतिद्वन्द्वी विकल्प हो सकता है तो वह सत्याग्रह ही है।

अब हम मोक्ष तत्व के विकास पर दृष्टि डालें। मोक्ष की कल्पना स्वर्ग की कल्पना के बाद ही आई होगी। हो सकता है, दोनों कल्पनायें स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न हुई हों। कुछ भी हो, पर मोक्षवाद क्रमशः प्रबल होता गया एवं स्वर्गवाद संकुचित होता गया। प्रायः सभी मोक्षवादी संसार को दुःखमय मानते हैं। **सांख्यकारिका, कारिका १।।** का निम्नोक्त कथन सामान्यतः प्रायः सभी मोक्षवादी धर्मों को मान्य है :—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।

अर्थात्, आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक—इन त्रिविध दुःखों से पीड़ित होने के कारण, उन दुःखों को करने वाले हेतु को जानने की इच्छा उत्पन्न होती है। दुःख से सदा के लिए मुक्ति पाना इन सभी धर्मों का ध्येय है, फिर भले ही मोक्ष या निर्वाण को सच्चिदानंद रूप माना जाय, या ज्ञान, अज्ञान, सुख, दुःख आदि विशेष गुणों से रहित आत्मा की शुद्ध स्थिति रूप ही माना जाय। भले बुरे सभी प्रकार के कर्मों से छुटकारा पाना ही मोक्ष है। संसार में रह कर सांसारिक दुःखों को दूर करने तथा सुव्यवस्थित समाज निर्माणार्थ प्रयत्न करने की दिशा में भी ये धर्म-प्रवृत्त रहे पर, चूंकि निवृत्ति-प्रधान साधना द्वारा व्यक्तिगत मोक्ष प्राप्त करना ही इन धर्मों का मुख्य उद्देश्य था, वह सामाजिक प्रवृत्ति आध्यात्मिक धर्मका अनिवार्य एवं अविभाज्य अंग नहीं बन सकी। परन्तु महायानी बौद्धों ने ऐसी प्रवृत्ति को धर्म का अन्तरंग माना। हीनयानी बौद्धों ने क्लेशावरण अर्थात् लोभ, द्वेष एवं मोह से मुक्त होने को ही निर्वाण माना, जिसे महायानी बौद्धों ने स्वीकार नहीं किया। विश्व के सर्वांगीण हितसाधन को ही उन्होंने धर्म का एकमात्र उद्देश्य माना एवं इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर बोधिचित्त की कल्पना की। **बोधिचर्यावतार** ३ : ७-१० ।। में बोधिचित्त गत संकल्प का वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

ग्लानानामस्मि भैषज्यं भवेयं वैद्य एव च ।
तदुपस्थायकश्चैव यावद्रोगा पुनर्भवः ।।
क्षुत्पिपासा व्यथां हन्यामन्नपानप्रवर्षणैः ।
दुर्भिक्षान्तरकल्पेषु भवेयं पानभोजनम् ।।
दरिद्राणां च सत्वानां निधिः स्यामहमक्षयः ।
नानोपकरणाकारैरुपतिष्ठेयमग्रतः ।।
आत्मभावांस्तथा भोगान् सर्वत्र्यध्वगतं शुभं ।
निरपेक्षस्त्यजामयेष सर्वसत्वार्थसिद्धये ।।

अर्थात् "व्याधि-पीड़ितों के लिए मैं औषध बनूं एवं उनकी रोगनिवृत्ति तक मैं उनका वैद्य एवं परिचारक बना रहूं। मैं प्राणियों की क्षुधा एवं पिपासा की व्यथा को सतत अन्न-पान आदि के सम्पादन द्वारा दूर करना चाहता हूँ। दुर्भिक्ष-ग्रस्त अन्तरकल्पों में मैं पान तथा भोजन के रूप में परिणत होना चाहता हूँ। दरिद्र प्राणियों के लिये मैं अक्षय धनराशि बनना, तथा विविध उपकरण बनकर उनके सामने उपस्थित होना चाहता हूं। मैं निष्काम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्धान्ताचार्य, ... श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी ... भेंट

भाव से, अपने शरीरों का, भोगों का एवं अतीत, अनागत तथा वर्तमान तीनों कालों में अर्जित पुण्य-फलों का त्याग सब प्राणियों के अभ्युदय एवं निःश्रेयस की सिद्धि के निमित्त करता हूँ।" बोधिसत्व तब तक मोक्ष प्राप्त करना नहीं चाहता जबतक एक भी प्राणी संसार में किसी प्रकार का दुःख भोग करता हो। मोक्ष की यह उदात्त कल्पना बौद्ध धर्म की एक अपूर्व देन है। इस कल्पना के मूल में है दुःखार्त प्राणियों के प्रति सतत सक्रिय असीमकरुणा एवं अनन्तप्रज्ञा। भगवान् बुद्ध के सद्धर्म का विकास उत्तरोत्तर होता गया, जिसमें इस कल्पना को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ।

पर्युषण पर्व

बदलते हुए मूल्यों के इस विवेचन के प्रसंग में पर्युषण पर्व की चर्चा करना भी असंगत नहीं होगा। पर्युषण का अर्थ है नियत स्थान में वास करना। वर्षावासार्थ उपयुक्त स्थान का चुनाव भाद्रशुक्ला पंचमी तक कर लेना आवश्यक माना गया था। अतः इस तिथि को अन्त में या आदि में रखकर उसके ८ दिन पूर्व से या १० दिन पश्चात् तक पर्युषण या दशलक्षणी पर्व मनाने की प्रथा चल पड़ी। हिन्दू, जैन एवं बौद्ध ग्रंथों में वर्षावास की चर्चाओं के तुलनात्मक अध्ययन से पर्युषण पर्व के क्रमविकास पर काफी प्रकश डाला जा सकता है। तात्पर्य यह है कि हमारे धार्मिक पर्व के स्वरूप भी युग-युग में प्रयोजनानुसार बदलते रहे हैं।

४—अब धर्म एवं मूल्यों के पारस्परिक सम्बन्ध पर कुछ विशेष विचार करना आवश्यक है। जिन धर्मों में विश्व के स्रष्टा एवं नियन्ता के रूप में ईश्वर या प्रजापति की कल्पना की जाती है, उन धर्मों में सांसारिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक सभी मूल्यों का आधार ईश्वर ही हैं। गीता—३ : १०-१२॥ के निम्नोक्त श्लोकों से यह बात स्पष्ट हो जाती हैं :—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वो स्त्विष्ट कामधुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ति यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥

अर्थात् "प्रारम्भ में यज्ञसहित प्रजा की सृष्टि करते हुए ब्रह्मा ने उनसे कहा—इस "यज्ञ" के द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो—यह तुम्हारी कामधेनु बने।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तुम इससे देवताओं को सन्तुष्ट करते रहो, और वे देवता तुम्हें संतुष्ट करते रहें। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे को संतुष्ट करते हुए परम श्रेय: प्राप्त कर लो। यज्ञ से संतुष्ट होकर देवता लोग तुम्हारे इच्छित भोग तुम्हें देंगे। उन्हीं का दिया हुआ उन्हें वापिस न देकर जो स्वयं उपभोग करता है वह सचमुच चोर है।" देव, मनुष्य पशु एवं वनस्पति सहित चराचर जगत् को ईश्वर संचालित करतें हैं एवं उनके कर्मानुसार उन्हें फल देते हैं। आत्मा, पुनर्जन्म एवं कर्म इन ईश्वरवादी धर्मों को भी मान्य हैं। अनीश्वरवादी जैन, बौद्ध आदि धर्मों में आत्मा या विज्ञान तत्व को ही ईश्वर के सारे अधिकार दे दिये गये हैं। आत्मा स्वतंत्र है। कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता वह स्वयं है। आत्मा सर्वशक्तिमान है। सर्वज्ञ बनने की योग्यता भी उसमें है। गीता के उपर्युक्त प्रजापति के स्थान पर जैन धर्म ने अपने आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव को अभिषिक्त किया, जो अपने ही प्रयत्नों से सर्वज्ञत्व प्राप्त का जगत् के प्रथम धर्मप्रवर्तक बने। उनकी स्तुति करते हुए जैनाचार्य स्वामी समंतभद्र कहते हैं:—

स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले।
समंजस-ज्ञान-विभूति-चक्षुषा।
विराजितं येन विधुन्वता तमः।
क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः॥ १॥
प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।
प्रबुद्धतत्वः पुनरद्भुतोदयो
ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः॥ २॥
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनः॥ ५॥

—स्वयम्भूस्तोत्र, १, २, ५

अर्थात् "वह नाभिनन्दन श्री ऋषभदेव मेरे अन्तःकरण को पवित्र करें, जो स्वयंभू थे, अर्थात् जो विना किसी दूसरे के उपदेश के आत्म-विकास को प्राप्त हुए थे, जो प्राणियों के हित के लिए भूमण्डल पर सम्यक्ज्ञान की विभूतिरूप नेत्र के धारक थे और अपने गुणसमूहरूप किरणों से अज्ञान अन्धकार को दूर करते हुए पृथ्वीतल पर ऐसे शोभायमान थें जैसे कि अपनी प्रकाशकत्वादिगुणविशिष्ट किरणों से रात्रि के अन्धकार को दूर करता हुआ पूर्ण चन्द्रमा सुशोभित होता है, जिन्होंने **प्रथम प्रजापति** के रूप में देश, काल और प्रजा-परिस्थिति के तत्वों को अच्छी तरह से जान कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवानोपाय को जानने की इच्छा रखने वाले प्रजाजनों को सबसे पहले कृषि आदि कर्मों में शिक्षित किया, और फिर हेयोपादेय तत्व का विशेष ज्ञान प्राप्त करके आश्चर्यकारी प्रकाश को प्राप्त होते हुए जो ममत्व से ही विरक्त हो गये, एवं इस तरह जो तत्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ हुए।' अतः यह स्पष्ट है कि जैन धर्म के अनुसार भी मूल्यों का उद्‌भव धर्म-प्रवर्तकों से ही होता है। प्राचीन बौद्ध धर्म की भी इस विषय में यही स्थिति रही है। महायान बौद्ध धर्म में अवश्य इस में आमूल परिवर्तन हुआ। बोधिसत्व स्वयं उन मूल्यों के रूप में सतत अवतरित होना चाहता है, जैसा कि हमने ऊपर **बोधिचर्यावतार** ग्रंथ के उद्धरण में देखा। वेदान्त दर्शन में भी ऐसे विकास की सम्भावना रही, पर शायद वह साकार नहीं हो पाई।

धर्मों के साथ मूल्य अभिन्नरूपेण संश्लिष्ट हैं। हमने यह देखा। हम यह भी कह सकते हैं कि धर्म मूल्यगर्भित हैं। पर जो धर्म में विश्वास नहीं करते तथा आत्मा, पुनर्जन्म एवं कर्म में भी श्रद्धा नहीं रखते, उनके लिए मूल्यों का सृष्टा एवं नियन्ता कोई सर्वशक्तिमान् पुरुष ही हो सकता है। इस दृष्टि से नास्तिकता-वादियों के लिए राष्ट्र के अधिनायक या जन-प्रतिनिधियों को ही ईश्वर या कर्म का स्थान प्राप्त होना चाहिये। वस्तु-स्थिति भी है। ये राष्ट्रनायक या जन प्रतिनिधि विभिन्न धर्मों में स्वीकृत लोकसंग्राहक सिद्धान्तों से प्रेरणा भले ही लें, पर आखिरी निर्णायक तो वे स्वयं ही हैं। धर्मनिरपेक्ष मूल्यों को मानने में भी कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये, यदि वे मूल्य "बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय" हों। वास्तव में धर्मप्रसूत मूल्यों का आधार भी वही बहुजन-हित एवं बहुजन-सुख है।

५ हमने मूल्यों पर विचार किया, एवं धर्म पर भी विचार किया। अर्थ एवं काम जैसे सांसारिक मूल्यों का बीज तृष्णा है। पर अहिंसा, अपरिग्रह जैसे नैतिक एवं मोक्ष जैसे आध्यात्मिक मूल्य तृष्णारहित होने के कारण एकान्ततः लोकहितकर होते हैं। इन लोकहितकर तत्वों के उर्ध्वगामी परिवर्तन तथा विकास की चर्चा हमने ऊपर की है। अब देखना है कि इन तत्वों को क्रम से सजाया जा सकता है या नहीं। इस प्रसंग में बौद्ध ग्रंथों में वर्णित छः पारमिताओं पर दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। ये पारमितायें हैं—दान, शील क्षान्ति, वीर्य, ध्यान एवं प्रज्ञा। इनमें से प्रथम तीन से अभ्युदय प्राप्त होता है, तथा शेष तीन से निःश्रेयस। ये सब चित्त की अवस्थायें हैं। लोकहितार्थ फलसहित सर्वस्व त्याग करने की भावना जब पराकाष्ठा को पहुँच जाती है एवं चित्त जब मात्सर्यरहित एवं अनासक्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बन जाता है, तब चित्त की उस अवस्था को **दानपारमिता** की संज्ञा दी जाती है। प्राणातिपातादि सर्वप्रकार की सावद्य प्रवृत्तियों से विरति की भावना जब अपनी पराकाष्ठा को पहुँचती है तो मन की उस स्थिति को **शील-पारमिता** कहते हैं। क्रोधादि से निवृत्ति के अभ्यास का चरम उत्कर्ष ही **क्षान्तिपारमिता** कहलाती है। कुशलकर्मों में निरन्तर समुद्यम ही वीर्य है। इस समुद्यम की पराकाष्ठा ही **वीर्यपारमिता** है। कुशल प्रवृत्तियों में सतत संलग्न रहने के फलस्वरूप चित्त में जो स्थिरता आती है, उसका चरम उत्कर्ष को पहुँचना ही **ध्यानपारमिता** है उक्त पांचों पारमितायें प्रज्ञापारमिता के लिए परिकर का काम करती हैं। "प्रज्ञा" शब्द का अर्थ है यथावस्थित वस्तुतत्व का प्रविवेक। इस प्रविवेक का परम प्रकर्ष ही **प्रज्ञापारमिता** है। इस प्रज्ञापारमिता की गणना यद्यपि सबसे अन्त में की गई है, पर यह जान लेना आवश्यक है कि इसके बिना दान, शील, आदि कुछ भी पराकाष्ठा तक नहीं पहुँच सकते। क्रम तो वास्तव में यह है कि प्रज्ञा के बिना ध्यान नहीं, ध्यान के बिना वीर्य नहीं, वीर्य के बिना क्षान्ति नहीं,क्षान्ति के बिना शील नहीं एवं शील के बिना दान नहीं। प्राणातिपातादि से विरमण रूप शील का अभ्यास बिना किये कोई निष्काम दानी नहीं बन सकता। इसी तरह क्षान्ति का अभ्यास बिना किये शीलवान् बनना सम्भव नहीं, कारण क्षमाशील बिना हुए शील का पालन दुष्कर है। **क्षमा वीरस्य भूषणम्** – यह कथन सर्वजनस्वीकृत है। अत: वीर्य के बिना क्षान्ति की पराकाष्ठा को कोई कैसे पहुँच सकता है? इसी तरह ध्यान के बिना वीर्य भी सम्भव नहीं, क्योंकि, समुद्यमी होने के लिए एकाग्रता-जन्य सौमनस्य एवं प्रसन्नता की परम आवश्यकता है। पुन: चूंकि ध्यान की विशुद्धि प्रज्ञा के बिना सम्भव नहीं,. अत: प्रज्ञा का विकास ध्यान के लिए अनिवार्य माना जाता है। इन पारमिताओं के अभ्यास से चित्त-शुद्धि प्राप्त होती है, जो मनुष्य को सही रास्ते पर ले जाने में सहायक होती है। भौतिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक सभी प्रकार की उन्नति के लिए चित्तशुद्धि का होना अति आवश्यक है। सच्चे विकास की आधारशिला चित्तशुद्धि ही है।

अब हम अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह पर विचार करें। उपर्युक्त दान-पारमिता का समावेश अस्तेय एवं अपरिग्रह व्रतों में हो जाता है। शीलपारमिता का समावेश ब्रह्मचर्यव्रत में, एवं क्षान्तिपारमिता का अहिंसा व्रत में किया जा सकता है। प्रज्ञापारमिता का अन्तर्भाव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सहज ही सत्य व्रत में हो जाता है। इस दृष्टि से हम अहिंसा आदि व्रतों को निम्नोक्त क्रम में सजा सकते हैं—अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, अहिंसा एवं सत्य। इस क्रम में सत्य ही सभी व्रतों का नियामक तत्व बन जाता है। जैन आगमों की निम्नोक्त सूक्तियां भी इस में चरितार्थ हो जाती है :—

१—**सच्चं लोगम्मि सारभूयं** —सत्य ही लोक में सारभूत हैं।
२—**पढमं नाणं तओ दया** —पहले ज्ञान, बाद में दया।

गांधीदर्शन में भी सत्य का स्थान पहला ही है। आचरण की दृष्टि से प्राचीन शास्त्रों में अहिंसा की गणना प्रथम स्थान में की जाती है, पर वास्तव में सत्य ही सर्वोपरि है।

६—अब हमें धर्म एवं मूल्यों की शाश्वतता एवं परिवर्तनशीलता पर विचार करना है। सभी धर्मों के अनुयायी अपने-अपने धर्म को, शाश्वत मानते हैं, क्योंकि वे साधारणतया परिवर्तन पसन्द नहीं करते, यद्यपि परिवर्तन अनिवार्यरूप से आ ही जाते हैं। कभी-कभी तो ऐसा भी देखा जाता है कि साम्प्रदायिक मनोवृत्ति वाले अपने को पुराने धर्म के अनुपालक समझते हैं, जबकि उनके धर्म में काफी परिवर्तन अज्ञातरूप से परिस्थितवश आ गया होता है। उदाहरणार्थ हम वैदिक धर्म को मानने वालों को ले सकते हैं। प्राचीन याग-यज्ञ जब प्रायः समाप्त हो रहे थे, उस समय भी सांख्य, वेदान्त जैसे दर्शनों के प्रचारक अपने को प्राचीन वैदिक धर्म के अनुयायी ही मानते थे। इसके विपरीत कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि एक ही सम्प्रदाय के अनुगामी अपने नवीकृत धर्म को पहचानने में भी असमर्थ रहते हैं। जैनों के २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के शिष्य अपने को भगवान् महावीर के शिष्यों से अलग मानने लगे। प्राचीन चातुर्याम एवं सचेलक धर्म के स्थान पर जब भगवान महावीर ने पंचशिक्षिक एवं अचेलक धर्म का प्रचार किया तो निर्ग्रंथ पंथ के अनुगामियों को अपने ही धर्म में संशय उत्पन्न होने लगा, जिसका समाधान केशी गौतमीय अध्ययन ।। उत्तराध्ययन-सूत्र, २३ ।। में किया गया है। मूल्यों की परिस्थिति भी ऐसी ही है। मूल्य बदल जाते हैं, पर उनका यह बदलना शाब्दिक साम्य के पीछे प्रच्छन्न रहता है। चूंकि भगवान् बुद्ध ने सभी पदार्थों को अनित्य माना, अतः बौद्ध धर्म के अनुयायी हमारे इस विश्लेषण को सहर्ष स्वीकार करेंगे। शांकर वेदान्त के अनुगामी भी इसमें अपनी सहमति प्रगट करेंगे क्योंकि उनके दर्शन में ब्रह्म ही एकमात्र मूल्य है। जिसकी प्रभा से दूसरे मूल्य, जो सभी मायिक है, प्रभास्वर होते हैं। पर दूसरे प्रायः सभी दर्शन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्म तथा मूल्य दोनों को शाश्वत एवं परिवर्तनशील उभयरूप मानेंगे। ऐकान्तिक रूप से न धर्म बदलता है, न मूल्य। ध्रुवता एवं अध्रुवता दोनों परस्पर जुड़ी हुई है। न धर्म अपने मौलिक स्वरूप को कभी छोड़ सकता है, और न मूल्य ही। जबतक मानव जाति रहेगी तबतक मानव धर्म तथा मानव मूल्य भी रहेंगे। यदि मानव अमानव नहीं बन सकते तो मानव धर्म एवं मूल्य का भी आमूल परिवर्तन कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का समाधान केवल अनेकान्तदृष्टि से ही हो सकता है। एक ही वस्तु किस तरह नित्य भी हो सकती है और अनित्य भी, इस समस्या के समाधानार्थ **स्वयम्भूस्तोत्र** का ४३ वां श्लोक उद्धृत करता हुआ में अपना विवेचन समाप्त करता हूँ।

नित्यं तदेवैदमिति प्रतीतै—
र्न नित्यमन्यप्रतिपत्तिसिद्धः।
न तद्विरुद्धं अहिरन्तरंग—
निमित्त-नैमित्तिक-योगतस्ते ॥

अर्थात् ''यह वही है''—इस प्रकार की प्रतीति होने के कारण वस्तुत्व नित्य है। पुन: "यह वह नहीं है"—इस प्रकार की प्रतीति होने के कारण वस्तुतत्व अनित्य भी है। हे भगवन्! आपके शासन में वस्तुतत्व का नित्य और अनित्य उभयरूप होना विरूद्ध नहीं है, क्योंकि वह बहिरंग निमित्त अर्थात् सहकारी कारण, अन्तरंग निमित्त अर्थात् उपादान कारण एवं नैमित्तिक ॥ निमित्तों से उत्पन्न होनेवाले कार्य के सम्बन्ध को अपने में एक साथ में समाविष्ट किये हुए है।

●●

तुमने जिन (धन, सद्‌गुण आदि) को कैद कर रखा है, उन्हें (दान तथा लोकसेवा के लिए) मुक्त कर दो. और जिन (इन्द्रियां, काम, क्रोध, लोभ आदि) को स्वतन्त्र कर रखा है, उन्हें कैद कर लो।

—संत इब्राहीम आदम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

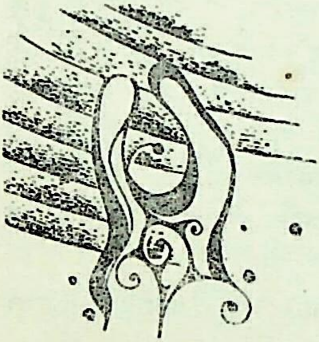

कहानी

लहू का रंग

● हरमन चौहान

वह बीड़ी का टुर्रा सुलगा कर लेम्पपोस्ट के सहारे खड़ा कश खींचता रहा। एक ऑटोरिक्शा 'पट ...पट....पट' करता हुआ उसके पास आकर रुका, एक चेहरा घबराहट और पसीने से तरबतर रिक्शे के बाहर झांक कर चीखा—

'भाग जाओ यहाँ से.......जल्दी करो !',.......

'भीड़ इधर ही आ रही है।'

'मारे जाओगे बिना मौत !'

'....मौत ?....'—वह खीझ उठा।

ऑटोरिक्शा 'पट....पट....पट' करता हुआ आगे बढ़ गया। वह उसी तरह लेम्पपोस्ट के सहारे खड़ा रहा। उसे एक कड़ुवी हँसी आई—मौत ? मौत तो किसी तरह आनी ही है....यह कहीं भी पीछा नहीं छोड़ेगी। फिर चाहे उसका छोटासा राजस्थान का गाँव हो, या यह धुँयें से भरा अहमदाबाद शहर। वहाँ अकाल के कारण मौत का भय था, यहाँ शहर में दंगों के कारण मौत का भय ज्यों का त्यों बना हुआ है। एक न एक दिन मरना ही है, उससे बचा नहीं जा सकता। इसलिए वह भाग कर भी क्या करेगा ? अपने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राजस्थान के छोटे से गाँव को छोड़ कर वह पिछले अकाल के समय अहमदाबाद आ गया था। अहमदाबाद में उसके गाँव के बहुत से लोग रहते हैं—पहले वह उन्हीं के साथ रहता था, तब उसे यह शहर भीड़ भरा, बड़ा अजीब सा लगता था, धीरे-धीरे अभ्यस्त सा हो गया। अब तो उसे अपने मील की ओर से बापूनगर में क्वाटर भी मिला हुआ है। उसके साथ एक मास्टर तथा एक दवाईयाँ बेचने वाला एजेन्ट रहता है। एजेन्ट अक्सर बाहर दौरे पर रहता है। मास्टर जी उसे हर शाम दुनियाँ भर की बातें बताया करते हैं। पहले वह कुछ भी नहीं जानता था। मास्टर जी ने उसे हिन्दुस्तान व पाकिस्तान के टुकड़े क्यों हुए इसका भी कारण बताया था। जब से दंगे शुरु हुए हैं। इस शहर में तब से मास्टर जी उसे बाहर जाने के लिए मना करते रहे हैं। पर उसके गाँव में भी तो मुसलमान रहते हैं! हिन्दू रहते हैं! फिर वहाँ दंगा क्यों नहीं होता? धर्म के नाम पर झगड़ा? लेकिन उनके त्यौहारों पर—क्या ईद क्या दीवाली, क्या मुहर्रम, क्या होली? सब के सब मिलजुल कर मनाते हैं।

वह लेम्पपोस्ट के पास उसी तरह खड़ा था। भीड़ उधर ही बढ़ती आ रही थी—

'जला दो'
'मार डालो'
'कौन है?'
'वह देखो बिजली के खम्भे के पास।'
'साले ने तहमत बाँध रखी है....!'
'मुसलमान है!'

भीड़ उसकी तरफ बढ़ती हुई आ रही थी। कल की ही बात थी—उसे किसी कार्यवश बाजार जाना पड़ा—कुछ लोग हाथ में जलती हुई मशालें लिए सड़क पर दौड़ रहे थे। उसके सामने देखते ही देखते कई दुकानें-मकानों का स्वाहा हो गया था। भीड़ लूटपाट मचा रही थी और वह उन्हें चुपचाप देख रहा था। कल का दृश्य आज की इस भीड़ को देख कर एक बार पुन: ताजा हो गया था। तो क्या यहाँ भी खून खराब होगा? नहीं, नहीं ऐसा नहीं हो........। कल उसके सामने कितने लोगों को छुरे भौंक दिये गये थे.... वह भाग कर अपनी जान बचाने किसी गंदी गली में पहुँचा तो वहाँ कोई एक औरत पर अत्याचार करता-करता उसी क्षण छुरा भौंक कर चलता बना था। औरत की लाश लहू से लथपथ वहाँ तड़प रही थी। वह उस गली से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाग कर चौराहे के एक कौने से आगे भाग रहा था—तभी उसने देखा—दो आदमी दो बच्चों को चाकू से मार रहे हैं। वहीं दूसरी ओर एक आदमी से सब कुछ छीन कर पेट में छुरा भौंक दिया गया। उसकी आँखें मिच गई थीं। क्षण भर के लिए उसके पाँव वहीं रुक गये थे। कल पाँव भयानकता को देखकर रुके थे—आज पाँव भयानकता को मिटा देने के लिए रुके हुए हैं। कल उसे वहाँ से बचकर एक डरपोक की तरह भाग कर आना पड़ा। लेकिन शाम को मास्टर जी ने बताया—'मौत से बचने के लिए भागना भी पड़ता है कभी-कभी।' लेकिन आज वह भाग क्यों नहीं जाता? मौत इधर आ रही थी। भीड़ पास आ चुकी थी—

'मारो....मारो'

'कौन है वे? बोलता नहीं है?'

एक व्यक्ति ने उसके पास आकर पूछा—'तुम मुसलमान हो?'

भीतर ही भीतर वह छुरे को देखकर काँप सा गया। पर क्षण भर में ही साहस लगाकर बोला—

छुरा मारनेवाला मुसलमान अवाक् सा वहीं खड़ा होकर बोल उठा—यह मैंने क्या किया! मेरे ही जाति भाई का खून....उफ!....

'नहीं!'

'फिर हिन्दू हो?'

'नहीं!'

'ईसाई हो?'

'नहीं!'

'तो फिर कौन हो?'

'हिन्दुस्तानी! भारतीय!!'

'साला, झूठ बोलता है?' और उस पर छुरे का बार होता है। वह थोड़ा हट कर एक ओर हो गया। 'रुकना!' भीड़ में से किसी की आवाज आई। उसकी हिम्मत नहीं हुई भीड़ से मुकाबला करने के लिए अथवा उन्हें रोकने के लिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'यह तो अपना बख्तावर है....अबे ओ बख्तावर ? यहाँ क्या कर रहा है ? चल हमारे साथ....।'

'नहीं ! नहीं !' वह बोला

'चूड़ी पहन कर बैठ जा ! नामर्द कहीं का !'

'नामर्द ?' वह सोच रहा था—हाँ, वह शहर में आकर नामर्द हो गया है। गाँव में तो उसने तीन बार डाकुओं से मुकाबला किया था, चोरों को तो कई बार पकड़ कर मारा था। यहाँ आने के बाद सचमुच वह नामर्द हो गया था। तभी किसी ने लेम्पपोस्ट के पत्थर मारा और वल्ब 'छन' करता हुआ बिखर गया, अंधेरा सा हो गया। कुछ दूर का लेम्पपोस्ट अब भी जगमगा रहा था। मील में क्लर्क की सुनता है वह ! शुपरवाइजर की सुनता है ! गालियाँ तो अब वह रोज सुनने का आदी हो गया है। क्या फर्क पड़ता है इससे ?

'नामर्द !' फिर किसी की आवाज उभरी।

उसके हाथ में किसी ने लाठी कब पकड़ा दी और वह कब किसी के साथ हो गया, उसे कुछ भी पता नहीं था। भीड़ पानी के रेले की तरह आगे बढ़ रही थी। एक व्यक्ति ने एक आदमी के छुरा भौंक दिया था और उसके गोद के बच्चे को छीन कर उसे भी छुरा मारने ही वाला था कि वह अपने हाथ की लाठी को एक ओर फेंक कर उस बच्चे को लपक लिया। लाठियाँ उस पर तड़ तड़ा पड़ने लगीं, पर फिर किसी ने आकर एक बार उसे बचा लिया। लेकिन वह उस बच्चे को फिर भी बचा नहीं सका था। उसका और बच्चे का खून क्या अलग-अलग है ? कहाँ है हिन्दू का और कहाँ है मुसलमान का खून ! कब अलग-अलग होता है ? वह तो एक है ! फिर यह जात-पांत का भेद क्यों ?

वह तुरन्त उस भीड़ को छोड़ कर अपने क्वाटर की ओर लौट पड़ा। उसने देखा—इधर यह भीड़ और कैसी है ?

'मारो....मारो....मारो'

'बदला............बदला'

वह भागता हुआ आया। उसने उजाले में देखा भीड़ के सामने मास्टर जी खड़े हैं उसके। उन्हें कोई पूछ रहा था—'तुम हिन्दू हो ?'

'नहीं !

'तुम मुसलमान हो ?'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'नहीं।'

'मगर लगते तो हिन्दू हो ?'

'मैं हिन्दू नहीं हिन्दुस्तानी हूँ।'

वह मास्टर जी को बचाने दौड़ा—

'मास्टर जी ! यहाँ क्या कर रहे हो ?'

'तुम्हें ढूँढ रहा था मैं !'

'मैं उस भीड़ के साथ....।'

'तुम ? और भीड़ के साथ ?'

तभी उधर की भीड़ वापस लौट कर आ रही थी। मोहल्ले में दो टोलियाँ खड़ी हो गई थी। इधर की टोली कह रही थी—'मुसलमान आ रहे हैं।'

उधर की टोली कह रही थी—'हिन्दू आ रहे हैं।

भीड़ का कसाव कम होता जा रहा था। शिकंजा संकुचित हो रहा था। दोनों ओर की उस भीड़ से आवाजें आ रही थी—

'नहीं ! यह मुसलमान है, वो हिन्दू है।'

'नहीं ! यह हिन्दू है, वो मुसलमान है।'

कौन हिन्दू था, कौन मुसलमान ? दर असल यह कोई नहीं जानता था—क्योंकि हिन्दू और मुसलमानों के बीच समान तरीके से वे रहते थे। फिर दोनों का नाम भी कोई नहीं जानता था।

तभी किसी ने आगे बढ़कर मास्टर जी के छुरा मार दिया था। मास्टर जी के मुँह से एक चीख निकली—'अल्लाह !

छुरा मारने वाला मुसलमान अवाक्‌सा वहीं खड़ा होकर बोल उठा—'यह मैंने क्या किया ? मेरे ही जाति भाई का खून ? ऊफ ! बहुत बुरा हुआ।'

'मास्टर जी ! यह क्या हो गया ? मैं कहीं का भी नहीं रहा।' एक लेम्पपोस्ट बुझ गया 'नहीं, बख्तावर ! तुम जिन्दा रहोगे। गांधी-शताब्दी का यह दंगा इस शहर के पवित्र तीर्थस्थल साबरमती आश्रम को बदनाम करने की यह किसी की साजिश है, एक धोखा है ! जो करेगा, वो भरेगा.... लेकिन तुम इस वक्त भाग जाओ ! इस भीड़ से दूर चले जाओ .. कहीं.... यह तुम्हें भी मार डालेंगे ! मार डा...लें .. गे....मा....र।'—धीमे-धीमे आवाज बन्द हो गई।

मास्टर जी की मौत से उसका खून खौल गया। एक मुसलमान ने एक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुसलमान को मार दिया तो एक हिन्दू....एक हिन्दू को मार देगा....।' वह तहमत में था। तहमत को ऊँचा करते हुए हिन्दु-टोली की ओर इशारा करके कह रहा था—'हाँ, मुझे भी मार डालो ...मैं....मैं.... मुसलमान हूँ....!' कोई एक व्यक्ति आगे बढ़ा और बख्तावर की चीख निकली ....'आह....! हे राम !' भीड़ अवाक् खड़ी थी........तभी पुलिस वहाँ आ चुकी थी और भीड़ बिखर रही थी। बस, दो लाशें पड़ी थीं....वहाँ; एक हिन्दू की, एक मुसलमान की !

उस मौहल्ले में उसके बाद कोई दंगा नहीं हुआ था—वहाँ कोई लाश नहीं बिछाई गई।

दंगे की घटना हर शाम वहाँ दो बुझे हुए लेम्पोस्ट याद दिला दिया करते हैं।........काश ! हिन्दू और मुसलमान अपना वैर........क्या इसी तरह चुकाते रहेंगे ?....

●●

- इस दुनियां की सफर के लिए मैं चार तरह की सवारियां रखता हूं—

  १ जब संपत्ति का प्रदेश आ पड़ता है, तब कृतज्ञता की सवारी पर सफर करता हूं।

  २ जब पूजा का प्रदेश आता है तब मैं प्रभु-प्रेम के वाहन का उपयोग करता हूं।

  ३ विपत्ति के प्रदेश में सहनशीलता पर सवारी करता हूं।

  ४ पाप के प्रदेश से बाहर निकलने के लिए मैं पश्चात्ताप रूपी वाहन का उपयोग करता हूं।

—संत इब्राहीम आदम (बलख)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

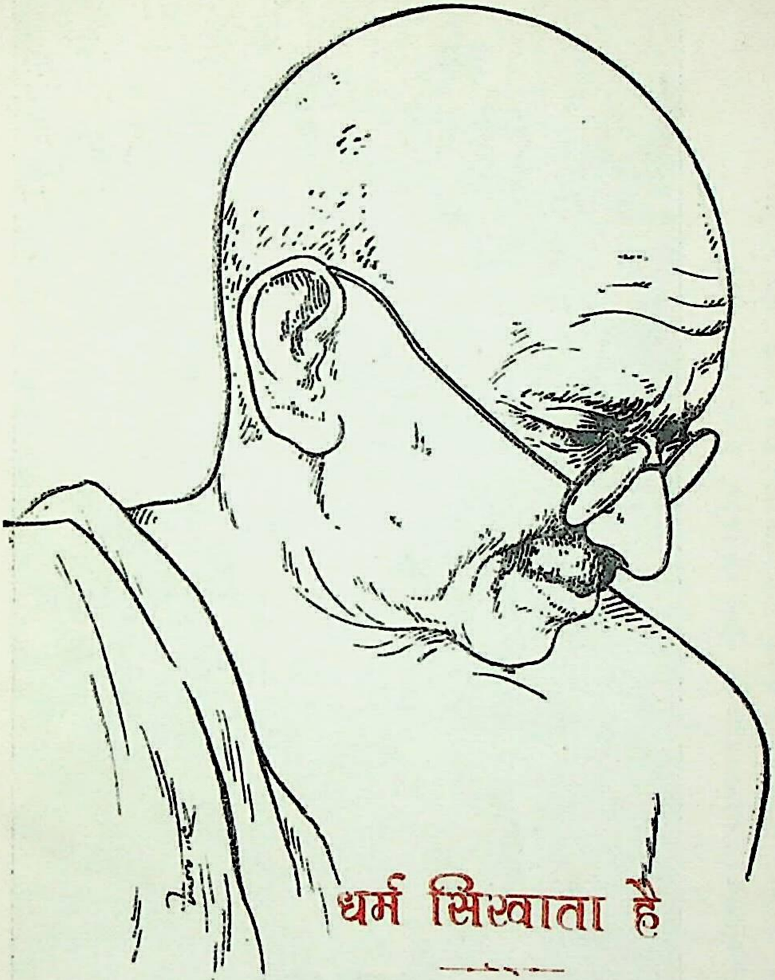

धर्म सिखाता है

- धर्म तो सिखाता है कि जीव मात्र अन्त में एक ही है। अनेकता अधिक होने के कारण आभास मात्र है।
- धर्म कुछ संकुचित सम्प्रदाय नहीं है, केवल बाह्याचार नहीं है। धर्म का विशाल व्यापक अर्थ है ईश्वरत्व के विषय में हमारी अचल श्रद्धा, पुनर्जन्म में अविचल श्रद्धा, सत्य और अहिंसा में हमारी सम्पूर्ण श्रद्धा।
- धर्म का आभूषण वैराग्य है, वैभव नहीं।
- एक धर्म की विशेषता दूसरे धर्म की विशेषता के प्रतिकूल नहीं हो सकती, जगत् के सर्वमान्य सिद्धान्तों की विरोधी नहीं हो सकती।
- धर्म मानव-मानव के बीच खाई नहीं, मेल का साधन (पुल-सेतु) बनना चाहिए।
- जितने भी धर्म हैं सब के सब ऊँचे हैं। धर्म में कसर नहीं है। कसर है तो उनके आदमियों में है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समन्वय की दिशा में :—

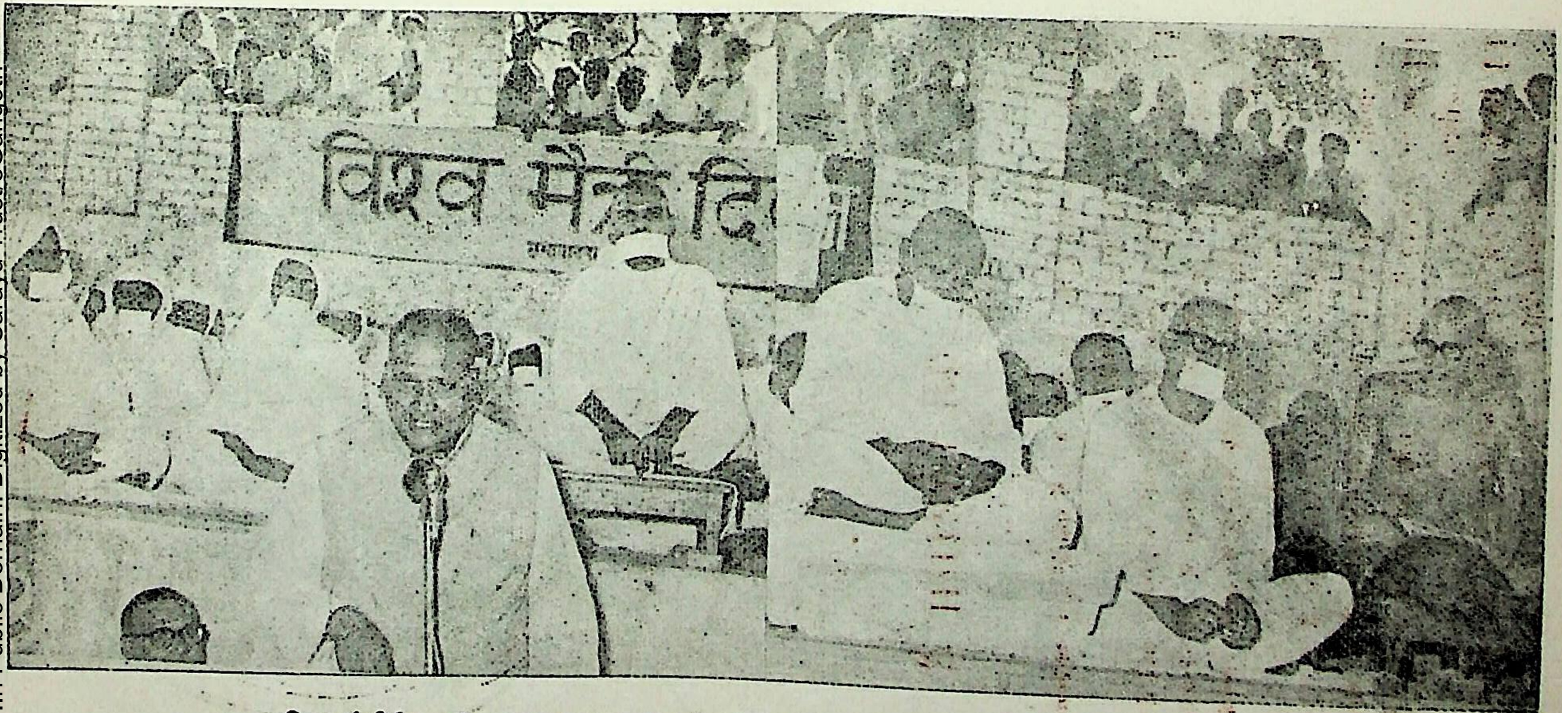

विश्व मैत्रीदिवस के अवसर पर भारत जैन महामण्डल द्वारा आयोजित कार्यक्रम (देहली) में :—
बांये से दांये : साध्वी वृन्द (स्थानकवासी) मुनिश्री सुमेरमल जी (तेरापंथी) आचार्य श्री आनन्दऋषि जी तथा श्री सुशील मुनिजी (स्थानकवासी) एवं दिगम्बर मुनिगण। मंडल की शाखा के वरिष्ट कार्यकर्त्ता लाला जसवन्तसिंह जैन भाषण करते हुए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाश चंद्र जी शास्त्री
आचार्य, श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी
द्वारा भेंट

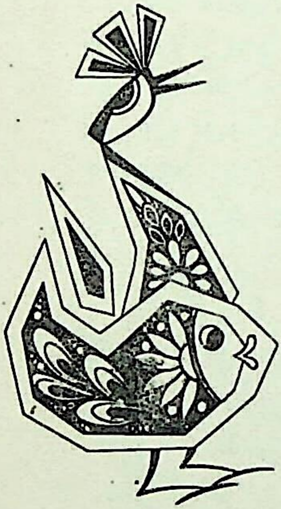

संग्रहण का ग्रहण

वस्तुओं को लेकर है सारी लालसाएँ
सारे झगड़े
उद्दाम आन्दोलन, घोर निराशा
हल्के सुख, सन्तापित भाषा
इन्हीं बंटखरों पर उतरे इन्हीं पर चढ़े।

कभी राज समेटता है वस्तुएँ
लेकर समाज का नाम
कभी व्यक्ति टूटता है इन पर
करके समाज को वदनाम
कभी हो जाते हैं प्रवल शोषक
कभी हो जाते हैं शोषित वड़े !
वस्तुओं को लेकर हैं सारे झगड़े ॥

क्यों हैं प्रधान वस्तुएँ इतनी ज्यादा
वन क्यों गई है ये,
आदमीयत की अलंघ्य बाधा ?
और तो और सन्तों और कवियों तक ने
इन साँपों के सिर नही रगड़े।
वस्तुओं को लेकर हैं सारे झगड़े !!

★★

● **भवानीप्रसाद मिश्र**
२७५६ नेताजी नगर
नई दिल्ली-२२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन एकता के प्रयत्न

धरातल के चुनाव का प्रश्न

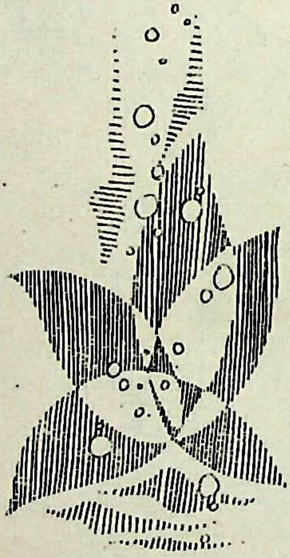

● मुनि श्री नथमल

जल और अग्नि में प्राकृतिक वैर है। दोनों एक साथ नहीं रह सकते। अग्नि उष्ण है और जल शीत है। शीत उष्ण को मिटा देता है, जल अग्नि को बुझा देता है। क्या उष्ण और शीत में कोई सम्बन्ध नहीं है? जल अग्नि को बुझा लेता है, इसलिए इनमें सम्बन्ध की स्थापना कैसे की जा सकती है? जल भी पदार्थ है और अग्नि भी पदार्थ है। पदार्थ का पदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं होने की बात कैसे कही जा सकती है? समस्या के दोनों तटों का पार पाने के लिए समन्वय का सेतु खोजा गया। समन्वय दो सम्बन्धों के व्यवधान को जोड़ने वाला सूत्र है। भगवान महावीर ने उष्ण और शीत के बीच

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समन्वय की स्थापना की। उस सिद्धान्त के अनुसार उष्ण उष्ण ही नहीं है, वह शीत भी है, और शीत शीत ही नहीं है, वह उष्ण भी है। उष्ण और शीत दोनों सापेक्ष हैं। मक्खन को पिघालने वाली अग्नि की उष्मा मक्खन के लिए उष्ण है पर लोह के लिए उष्ण नहीं है। वह अग्नि की साधारण उष्मा में नही पिघलता।

विश्व में जितने तत्त्व हैं वे परस्पर किसी न किसी सम्बन्ध-सूत्र से जुड़े हुए हैं। कोई वस्तु दूसरी वस्तु से भी सर्वथा सदृश नहीं है। और सर्वथा विसदृश भी नहीं है। हम कुछ वस्तुओं को सदृश मानते हैं और कुछ को विसदृश। इसका हेतु वस्तु की वास्तविकता नहीं है। यह हमारी दृष्टि का अन्तर है। हम सदृशता देखना चाहते हैं तब देख लेते हैं और विसदृशता देखना चाहते हैं तव उसे भी देख लेते हैं। वस्तु में दोनों हैं, इसलिए जिसे देखना चाहें उसका मिलना स्वाभाविक बात है।

सदृशता और विसदृशता का सिद्धान्त वस्तु की यथार्थता है, इसलिए कोई भी यथार्थवादी विचार एकांकी नही हो सकता, अपेक्षा से शून्य नहीं हो सकता।

भगवान महावीर ने विचार और व्यवहार दोनों क्षेत्रों में समन्वय का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। उनकी परम्परा ने विचार के क्षेत्र में समन्वय के सिद्धान्त की सुरक्षा ही नहीं की है, उसे विकसित भी किया है। किन्तु व्यवहार के क्षेत्र में उसकी विस्मृति ही नहीं की है, उसकी अवहेलना भी की है।

हरिभद्रसूरि ने नास्तिक को दार्शनिकों के मंच पर उपस्थित कर दर्शन जगत् को समन्वय की शक्ति से परिचित करा दिया। आस्तिक दर्शन नास्तिक को दर्शन की कक्षा में सम्मिलित करने की कल्पना नहीं करते थे। हरिभद्र ने उसे आकार दे दिया।

उपाध्याय यशोविजयजी के सामने प्रश्न आया कि आस्तिक कौन और नास्तिक कौन ? उन्होंने समन्वय दृष्टि से देखा और वे कह उठे पूरा नास्तिक कोई नहीं है और पूरा आस्तिक भी कोई नहीं है। चार्वाक आत्मा को नहीं मानता इसलिए नास्तिक है तो एकांतवादी दर्शन वस्तु के अनेक धर्मों को नहीं मानते फिर वे नास्तिक कैसे नहीं होंगे। धर्मों को स्वीकार करने वाले एकांतवादी दर्शन यदि आस्तिक हैं तो धर्मों का स्वीकार करने वाला चार्वाक आस्तिक कैसे नहीं है ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य अकलंक ने कहा—आत्मा चैतन्य धर्म की अपेक्षा से आत्मा है, शेष धर्मों की अपेक्षा से आत्मा नहीं है। आत्मा और अनात्मा में समान धर्मों की कमी नहीं है।

सिद्धसेन, समंतभद्र, अकलंक, हरिभद्र, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने समन्वय की परम्परा को इतना उजागर किया कि जैन दर्शन का सिंधु सब दृष्टि-सरिताओं को समाहित करने में समर्थ हो गया।

वेदांत का अद्वैत, जैन दर्शन का संग्रह नय है। चार्वाक का भौतिक दृष्टिकोण जैन दर्शन का व्यवहार नय है। बौद्धों का पर्यायवाद जैन दर्शन का ऋजु सूत्र नय है। वैयाकरणों का शब्दाद्वैत जैनदर्शन का शब्द नय है। जैन

धर्मों को स्वीकारने वाले एकांतवादी दर्शन यदि आस्तिक

दर्शन ने इन सब दृष्टिकोणों की सत्यता स्वीकार की है, किन्तु एक शर्त के साथ। शर्त यह है कि इन दृष्टिकोणों के मन में समन्वय के धागे में पिरोए हुए हों तो सब सत्य है। और वे अपनी सत्यता प्रमाणित कर दूसरों के अस्तित्व पर प्रहार करते हैं तो सब असत्य हैं। समन्वय का बोध सत्य का बोध है। समन्वय की व्याख्या सत्य की व्याख्या है। अनंत सत्य एक दृष्टिकोण से गम्य और एक शब्द से व्याख्यात नहीं हो सकता।

समन्वय सिद्धान्त के प्रसंग में एक जिज्ञासा उभरती है कि भगवान महावीर ने सब दर्शनों की दृष्टि का समन्वय कर अपने दर्शन की स्थापना की या उनका कोई अपना मौलिक दर्शन है? महावीर के दो विशेषण हैं—सर्वज्ञ और सर्वदर्शी। वे सबको जानते और सबको देखते थे। सर्वज्ञान और सर्वदर्शन के आधार पर उन्होंने अपने दर्शन की व्याख्या की। उनका मौलिक स्वरूप यह है कि प्रत्येक द्रव्य में अनेक धर्म हैं और प्रत्येक धर्म अपने विरोधी धर्म से युक्त है। एक द्रव्य में अनन्त विरोधी युगल एक साथ रह रहे हैं। यह सिद्धान्त विभिन्न दृष्टियों के समन्वय से निष्पन्न नहीं हुआ है। किन्तु इस सिद्धान्त से समन्वय का दर्शन फलित हुआ है। समन्वय का सिद्धान्त मौलिक नहीं है। मौलिक है एक द्रव्य में अनंत विरोधी युगलों का स्वीकार और प्रतिपादन। सामान्य और विशेष दोनों द्रव्य के धर्म हैं, इसलिए महावीर को समझने वाला सामान्यवादी वेदांत और विशेषवादी बौद्ध का समर्थन या विरोध नहीं कर सकता। वह दोनों में समन्वय देखता है, संगति देखता है। जब हम पर्याय की ओर पीठकर द्रव्य को देखते हैं तब हमें सामान्य केवल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामान्य, अद्वैत केवल अद्वैत दिखाई देता है। और जब हम द्रव्य की ओर पीठकर पर्याय को देखते हैं तब हमें विशेष केवल विशेष, द्वैत केवल द्वैत दिखाई देता है। किन्तु महावीर को समझने वाला इस बात को नहीं भूलता कि कोई भी द्रव्य पर्याय से शून्य नहीं और कोई भी पर्याय द्रव्य से शून्य नहीं है। केवल सामान्य या केवल विशेष को देखना दृष्टि के कोण हैं, मर्यादाएँ हैं वास्तविकता के सागर में सामान्य और विशेष दोनों एक साथ तैर रहे हैं।

समन्वयवादी बाह्य और अन्तरंग, स्थूल और सूक्ष्म, मूर्त और अमूर्त दोनों के समन्वय सूत्र को खोजकर वस्तु की समग्रता का बोध करता है।

है तो धर्मों को स्वीकारने वाला चार्वाक आस्तिक कैसे नहीं ?

क्या आज का महावीर का अनुयायी समाज समन्वयवादी है ? इस प्रश्न का उत्तर सिद्धान्त में नहीं खोजा जा सकता। यह खोजा जा सकता है चिंतन-भेद, घृणा अथवा व्यक्तिगत अथवा सांप्रदायिक महत्वाकांक्षा के धरातल पर। सब लोगों का और एक समाज में रहने वाले सब लोगों का भी चिंतन एक जैसा नहीं होता। जब तक उसका समीकरण होता रहता है, तबतक वे साथ में रह पाते हैं और जब अहं की प्रबलता समीकरण नहीं होने देती तब चिंतन भेद, स्थिति भेद में बदल जाता है। घृणा और महत्वाकांक्षा भी स्थिति भेद उत्पन्न करती है। इन परिस्थितियों में बौद्धिक समन्वयवाद व्यवहार को प्रभावित नहीं करता। उसे प्रभावित करता है अहिंसक समन्वयवाद। भगवान महावीर का समन्वय का सिद्धान्त वस्तु जगत् में बौद्धिक हैं, प्राणी जगत में वह अहिंसक है। जैन समाज में एकता के प्रयत्न बौद्धिक या सैद्धान्तिक धरातल पर चल रहे हैं। उनके परिणाम उसी धरातल के अनुरूप आ रहे हैं। यदि हमारे एकता के प्रयत्न अहिंसक समन्वय के धरातल पर हों तो मुनियों और श्रावकों को पहले अपने आप में बदलना होगा। पुस्तकों को उद्धृत करने की अपेक्षा जीवन व्यवहार के पृष्ठ उद्धृत करने होंगे। ऐसा होने पर ही विचार और व्यवहार की विसंगतियाँ दूर हो सकती हैं, किन्तु कितना कठिन है विचार और व्यवहार में सामंजस्य लाने वाले अहिंसक समन्वय की दिशा का उद्घाटन ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किसी नगरी में अनेक धर्मों के आचार्य और मुनि प्रवास कर रहे थे। जनता उनके पास जाती और वे अपने अपने धर्म से सम्बन्धित चर्चा करते। किसी व्यक्ति ने जाकर राजा के कान भरे कि अपने नगर में भिन्न-भिन्न धर्मों के प्रतिनिधि हैं। सब अपने अपने धर्म की विशेषता बताते हुए जन मानस को गुमराह बना रहे हैं। भला किस धर्म को सही माना जाए और किस धर्म को गलत। राजाने उसकी बात को महत्व दिया और तत्काल आदेश प्रसारित किया कि जितने भी धर्म गुरु हैं उन सबको एक कमरे में

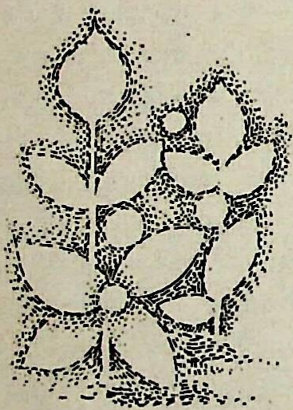

क्या मत भेद में मन भेद मिट सकते हैं ?

● **साध्वी श्री जिन प्रभा**

बन्द कर दिया जाय और विचार विमर्श का अवसर दिया जाए। जिस दिन वे सब विचारों की विविधता को मिटाकर एकमत हो जाएंगे उसी दिन छोड़ दिये जाएंगे। सब धर्म गुरुओं को कमरे में बन्द किया गया।

एक समझदार व्यक्ति ने सारा रहस्य जाना। उसने सोचा बहुत बड़ा अन्याय हो रहा है। भला विचार भी कभी किसी के एक हो सकते हैं। कहा भी है—'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" विचारों को एक करने का मतलब ही है सबकी बुद्धि और दिमाग को कुण्ठित करना। मैं राजा को सही स्थिति से अवगत कराऊंगा। यह सोचकर वह राजा के पास आया और बोला—राजन् !

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मैं व्यापारार्थ किसी बड़े नगर में जा रहा हूँ। वहाँ मुझे कोई पूछ बैठे कि तुम्हारी नगरी की क्या-क्या विशेषतायें हैं तो मैं क्या बताऊँ। राजा ने कहा—हमारी नगरी की विशेषताओं से कौन अनजान है? यहाँ दस अस्पताल है २० स्कूल हैं ११ कॉलिज हैं और सबसे विशेष बात तो यह है कि यहाँ चार बड़े-बड़े बाजार हैं और प्रत्येक बाजार में सौ-सौ दूकानें हैं, कि वह व्यक्ति बीच में ही बोल पड़ा-- राजन्! इतने बाजार और इतनी दूकाने क्यों? क्यों नहीं सबको मिलाकर एक बाजार और एक दुकान बना दी जाय। राजा ने कहा– कैसी मूर्खता करते हो? यह भी कभी हो सकता है? अगर एक ही दुकान हो जाए तो सब व्यक्ति कैसे मन चाही चीजें खरीदेंगे, कितनी कठिनाई उत्पन्न हो जाएगी। वह व्यक्ति बोला--- महाराज! कोई दुकानदार किसी चीज को दिखाता है और कोई किसी चीज को। व्यक्ति गुमराह हो रहे हैं, वे किस-किस को देखें और किस-किस को लें। राजा ने कहा—तुम नहीं समझे। इसमें व्यक्ति गुमराह नहीं होता है, जिसको जैसी जिस मूल्य की वस्तु की आवश्यकता होती है उसको उस प्रकार की वस्तु आसानी से उपलब्ध हो जाती है।

समझदार व्यक्ति विनम्र स्वरों में बोला– राजन्! जब एक नगर की दुकानें भी मिलाकर एक दुकान नहीं बनाई जा सकती तो फिर विश्व के सब धर्मों को मिलाकर एक कैसे किया जा सकता है? सारे विश्व के लोग एक ही व्यक्ति के पास कैसे पहुँचेंगे? बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो जाएगी। बात राजा की समझ में आई। सब धर्म गुरुओं को छोड़ दिया गया।

आज भी सब धर्मों के समन्वय की चर्चा चल रही है। समन्वय से तात्पर्य है विविधता को मिटाकर एकरूपता का स्थिरीकरण। सब सम्प्रदायों के जिम्मेदार व्यक्ति यह चाहते हैं कि भिन्न-भिन्न धर्मों के अस्तित्व को मिटाकर एक व्यापक धर्म की स्थापना करदी जाये। क्योंकि धर्मों की विभिन्नता में मनुष्य गुमराह हो जाता है वह किसे सही माने और किसे गलत।

मैं सोचती हूं, समन्वय की चर्चा से पहले हमें यह जान लेना अत्यन्त अपेक्षित है कि धर्म क्या है? धर्म सम्प्रदाय क्या है, और उनका समन्वय कहाँ तक व क्यों आवश्यक है?

धर्म एक सार्वभौम सत्य है। वह देश, काल, जाति, सम्प्रदाय आदि की सीमाओं में विभक्त नहीं हो सकता। वह हर क्षण, हर समय प्राणी मात्र के लिये समान उपयोगी है। धर्म के पीछे जितने भी जैन, बौद्ध, वैदिक आदि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशेषण लगे हैं सब धर्म की अनेकता के सूचक नहीं, धर्म सम्प्रदाय के सूचक हैं। धर्म हमारा लक्ष्य है और सम्प्रदाय हैं लक्ष्य प्राप्ति के विभिन्न मार्ग।

लक्ष्य एक हो और मार्ग अनेक हों इसमें कोई दो मत नहीं हैं। दिल्ली पहुंचना है। लक्ष्य सबका एक है पर मार्ग सबका एक नहीं हो सकता।

धर्म आकाश के समान विशाल और व्यापक हैं और सम्प्रदाय है—आकाश को अपनी सीमा में बांधने वाले विभिन्न मकानों के समान। मकान छोटे भी हैं बड़े भी हैं, नये भी हैं, पुराने भी हैं। यहां कोई विरोध नहीं है। विरोध वहाँ आता है जहां एक मकान दूसरे के अस्तित्व को नकारने लगे।

धर्म एक है और धर्म की अभिव्यक्ति के हेतु सम्प्रदाय अनेक हैं सब सम्प्रदायों का अपना अपना अस्तित्व है। आज तक न सम्प्रदायों का अस्तित्व मिटा है और न मिटने की सम्भावना है। यदि वलात् सबके अस्तित्व को कुचल कर एक बनाने की कोशिश की जाती है तो वह है व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन।

भारतीय इतिहास में धर्म के नाम पर अनेक साम्प्रदायिक झगड़े होते रहे हैं। एक सम्प्रदाय ने दूसरे सम्प्रदाय को गलत ठहराने का प्रयास किया है। एक सम्प्रदाय ने दूसरे सम्प्रदाय के प्रति विरोधी वातावरण तैयार किया है। इसी के फलस्वरूप आज बुद्धिजीवियों के द्वारा भी धर्म पर यह आरोप लगाया जाता है कि धर्म ने मानव जाति को विभक्त किया है। धर्म ने मानवता को जर्जरित किया है और धर्म ने ही घृणा, विद्वेष व तनाव का वातावरण फैलाया है। इसलिये धर्म के अस्तित्व को सर्वथा मिटा देना चाहिये।

मैं सोचती हूँ यह हमारे चिन्तन की भूल है। धर्म के अस्तित्व को मिटाने का अर्थ है—मानव जाति को अस्तित्व शून्य करना।

धर्म सबको धारण करता है। धर्म कभी अनेकता नहीं सिखाता। वह तो टूटे दिलों को जोड़ने वाला है। आज जो यह धर्म के नाम पर विषम स्थिति उत्पन्न हो रही है उसका एकमात्र कारण है हमने धर्म की आत्मा को भुला दिया और अपने-अपने सम्प्रदायों के विकास में लग गये। यह सोचने का अवकाश भी नहीं रखा कि मूल के बिना शाखाओं का अस्तित्व नहीं टिक सकता। धर्म मूल है और सम्प्रदाय उसकी शाखाएं हैं। धर्म रूपी मूल को सींचे बिना शाखा रूपी सम्प्रदायों का सींचना वृक्ष को मिटाना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आज युग जिस गति से आगे विस्तार पा रहा है उस गति से अगर धर्म सम्प्रदाय अपना विकास न कर केवल एक दूसरे को कुचलने में ही अपनी शक्ति और समय का अपव्यय करते रहेंगे तो युग के साथ वे अपना-त्तादात्म्य नहीं विठा सकेंगे।

आज वहुत से धर्माचार्यों का ध्यान इस ओर अकर्षित हुआ है। वे चाहते हैं कि सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न होते हुये भी किसी विशेष कड़ी से सव जुड़े हुये हों। विचार भेद भले विकसित हों पर उसके साथ मन भेद का विकाश न हों। शक्ति का उपयोग विरोधी वातावरण तैयार करने में न होकर विकाश की दिशा में हों।

इस चिन्तन और प्रयत्न के फलस्वरूप एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय के निकट आया है और एक दूसरे के साथ किसी सीमा तक तादात्म्य विठाने के लिए प्रयत्नशील है।

●●

निस्पृह सेवा

- हे प्रभु ! यदि मैं नरक के डर से तेरी पूजा करती होऊँ तो मुझे नरक की आग में जला डाल ! और यदि स्वर्ग के लोभ से तेरी सेवा करती होऊं तो वह स्वर्ग का द्वार मेरे लिए बंद करदे ! किन्तु यदि मैं तेरी प्राप्ति के लिये ही तेरी सेवा करती होऊं तो तू मुझे अपने अपार सुन्दर स्वरूप में मिलालें।

—तपस्विनी रबिया (तुर्किस्तान)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

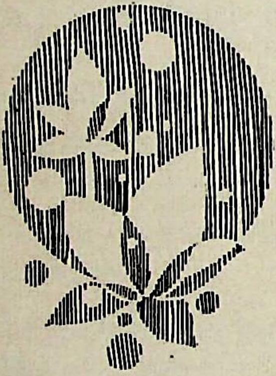

महावीर ने अनेकांत को 'वाद' नहीं, दर्शन के रूप में प्रकट किया है।

●●

समन्वय दर्शन में धार्मिक मत भेद क्यों ?

● श्री उदयजैन धर्मशास्त्री,
संचालक
श्री जवाहर विद्यापीठ,
कानौड़

वीर का अनेकान्त सिद्धान्त और समन्वय दर्शन

महावीर ने अनेकान्तवाद का प्रचार नहीं किया और न अनेकान्तवाद का उपदेश ही दिया। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि वीर को, सन्मति वीर को और महावीर को अनेकान्तवाद के साथ जोड़ दिया गया है। महावीर ने वादों का अन्त करने के लिये अनेकान्त सिद्धान्त का उपदेश दिया और इसी का प्रचार-प्रसार किया। बड़े-बड़े विद्वान यह भूल जाते हैं कि वादों का अन्त करने के लिये पुनः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाद का प्रतिष्ठान कैसे किया जा सकता है। धर्म-दर्शन के ज्ञाता आज तक अनेकान्तवाद शब्द का व्यवहार करते आ रहे हैं। मैं स्पष्ट बता देना चाहता हूं कि वीर का ज्ञान सम्पूर्ण था और सम्पूर्ण ज्ञान के द्वारा प्रकट वाणी सिद्धान्त की ही निकलती है। जिसका अन्त सदा सिद्ध हो—सफल हो। जिसमें पुनः तर्क या वितर्क का स्थान न हो, वही सिद्धान्त है। महावीर ने जो कुछ कहा सिद्धान्त कहा है। नया वाद कोई खड़ा नहीं किया।

यह अनेकान्त सिद्धान्त क्या है ?
और क्यों प्रकाश में आया ?

जब एकान्तवाद ने भारत के कौने-कौने में वितण्डावाद, शास्त्रार्थ और वाद-विवाद के साथ परस्पर के संघर्ष पैदा किये। हर एक धर्म (पंथ) प्रवर्तक या आचार्य अपनी अपनी मान्यता को सही साबित करने के लिए अपने-अपने पक्ष की पुष्टि में अनेक तरह की कुतर्कों द्वारा साधारण जनता में धर्म के नाम पर ऐन्द्रजालिक क्रियाएँ और ऐसे ही दूसरे करतवों से आकर्षण पैदा किया जाय अथवा वाक्-युद्ध किये जायें। अनेकों ऋषि-आश्रम थे, अनेकों विहार थे अनेकों मठ थे और अनेकों ऋषि कुल और गुरुकुल थे। उनके आचार्य या मठाधीश अपने आप में पूर्ण ईश्वर के रूप थे। उनके वाक्य ईश्वर-ब्रह्म वाक्य थे। जनता में जो अपनी विशेष छाप डाल देता जनता उस तरफ झुक जाती। जनमानस ऊहापोह का शिकार था। शंकित और उद्विग्न था। तब जनता को इस झगड़े से बचाकर सही रास्ते पर लाने के लिए महावीर ने "यह ही सत्य है को,यह भी सत्य है। वह मिथ्या है को, वह भी मिथ्या हो सकता है" की प्ररूपणा की। किसी अपेक्षा से "यह है", लेकिन अन्य की अपेक्षा से "यह नहीं है।" एक ही पदार्थ में "है और नहीं है" दोनों का अस्तित्व है, अतः "यह है, यह नहीं है" युगपद है। दोनों को एक साथ बोल नहीं सकते अतः अवक्तव्य है। और "है और अवक्तव्य भी है" "नहीं है और अवक्तव्य भी है" तथा है और नहीं के साथ भी अवक्तव्यपना वर्तमान है अतः एक पदार्थ में सातों विवक्षाएं वर्तमान हैं।

नयवाद की दृष्टि से संग्रह, व्यवहार, निश्चय, ऋजु सूत्र, शब्द, समभिरूढ एवंभूतनय आदि से एक ही पदार्थ की भिन्न भिन्न विवक्षाऐं हैं।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की दृष्टि से भी भिन्न विवक्षाऐं एक ही पदार्थ में वर्तमान हैं। इस तरह अनेक और असंख्य तथा अनन्त विवक्षाऐं एक ही पदार्थ में वर्तमान रहती हैं। अनेकान्त अनन्त हैं। एक पदार्थ को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जानने के अनन्त तरीके होते हैं और वे सब मिलकर अनेकान्त सूर्यरूप पूर्ण ज्ञान के लिए होते हैं अत: मैं कहता हूँ कि अनेकान्त से सम्पूर्ण ज्ञान और सत्यज्ञान होता है इसी से समन्वय दर्शन भी मिलता है। इन तरीकों से वादों का समन्वय किया जा सकता है । समन्वयार्थ महावीर ने एकान्त की जगह अनेकान्त का मार्ग प्रशस्त किया ।

अनेकान्त वह सिद्धान्त है जो सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन का मार्ग प्रशस्त करता है । मिथ्यात्व का नाश करता है । एकान्त के दुराग्रह और कदाग्रह से बचाता है । हठाग्रह से सत्याग्रह की तरफ मोड़ता है । यह स्याद्वाद का दूसरा और पूर्ण रूप है । अपेक्षावाद का पिता है और सभी वादों का अन्त करने वाला सिद्धान्त है । अनेकान्त सिद्धान्त में अनेकवाद प्रश्रय पा सकते हैं । अनेक वादों का सम्मिलन हो सकता है और अनेकवादों की व्यवस्था हो सकती है, लेकिन स्वयंवाद नहीं है । अनेकान्त अनेकवादों का अन्त करने वाला समन्वय दर्शन का दाता है । अनेकान्त सूर्य है । जो वादों के मिथ्या अहंकार रूपी अंधकार को नष्ट कर समन्वय दर्शन का प्रकाश करता है । अनेकान्त सारे विश्व मानव समुदायों और विश्वधर्म मार्गों का एक सर्वमान्य सिद्धान्त हो सकता है, यदि इसे विश्व के सम्मुख ठीक ढंग से रखा जाय । यों आइंस्टीन ने इसके एक अंग सापेक्षवाद को पूर्ण सत्य माना है । सापेक्षवाद भी सभी समस्याओं का हल है और हल करने के लिए समन्वय दर्शन को अपनाना आवश्यक है ।

नयवाद, स्याद्वाद और सापेक्षवाद आदि अनेकान्त सूर्य की भाममान विशिष्ट किरणें हैं; जिनसे सारा विश्व भिन्न भिन्न मार्गों से प्रकाशित होकर जीवनमय बन जाता है । सभी झगड़ों और वादों का अन्त ही अनेकान्त है । इसे मान्य करने वाला समन्वय दर्शन अवश्य होगा । समन्वय बिना अनेकान्त व्यवहार में नहीं आ सकता, अत: अनेकान्त का व्यवहार पक्ष समन्वय है ।

समन्वय का अर्थ सम्यक् प्रकार से अन्वय करना है । अन्वय का अर्थ है व्यवस्थित करना । हम छोटे बच्चे थे तब हिन्दी व संस्कृत पदों का अन्वय सहित अर्थ लिखते थे । पदों में शब्द आगे पीछे होते हैं, उन्हें व्यवस्थित रखना अर्थात् कर्ता, कर्म, क्रिया आदि को व्यवस्थित करना ही अन्वय है । इसी तरह संसार के सभी वादों को, निश्चय को, निश्चय, व्यवहार आदि नयों की अपेक्षा व्यवस्थित करना ही अन्वय है और जो किस स्थान और समय के लिए उपयुक्त है उसे उसी रूप मानकर स्थान देना समन्वय है और इसकी पद्धति को समन्वय दर्शन कहते हैं । अनेकान्त सिद्धान्त और समन्वय दर्शन को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बताने पर अब मैं प्रस्तुत विषय पर आता हूँ। चूँकि अनेकान्त और समन्वय को समझे बिना धार्मिक मतभेद क्यों ? पर प्रकाश डालना व्यर्थ है।

धार्मिक मतभेद और कारण

विश्व के अनेक भूखण्ड हैं। उनमें भिन्न भिन्न भाषाएँ बोली जाती हैं और भिन्न भिन्न ढंग का जलवायु है। इसी कारण वहां के लोगों का खानपान तथा रहन सहन भी भिन्न भिन्न है। वहां की शान्ति और व्यवस्था भी भिन्न भिन्न है। शान्ति और व्यवस्था के नियम भी भिन्न हैं। शान्ति और व्यवस्था के निमित्त ही धर्म की उत्पत्ति हुई है। अतः धर्म भी उसी के अनुकूल बनेगा। शान्ति और व्यवस्था के साथ शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति के लिये जो नियम बनते हैं, वे ही धर्म कहलाते हैं या यों कह दें कि आत्मिक गुणों की प्राप्ति या उन्नति और कल्याण की सिद्धि अथवा **"धारणाद् धर्म मित्याहुः धर्मेण विधृतः प्रजाः ।"** सबका एक ही तात्पर्य है। लेकिन भिन्न भिन्न भूखण्डों में धर्म के व्यवहार में भिन्नता आना स्वाभाविक है अतः धार्मिक मतभेद सदा बने रहेंगे। विविध धर्म-पथ (धर्म के मार्ग) भी भूतकाल से भिन्न रहे हैं और रहेंगे। वर्तमान में भी "भिन्न मतिर्हि लोकः या "मुण्डे मुण्डे मति-भिन्नाः" के अनुसार जो जिसको जंचेगा धर्म का मार्ग अनुसरण करेगा। किसी को दबाव देकर मार्ग परिवर्तन करना अधर्म है। समझाकर मति को बदल देना धर्म है।

अब यह देखना है कि भिन्न भिन्न खण्डों में आवर्भूत धर्ममार्ग दूसरे भू-खण्डों में दबाव पूर्वक क्यों प्रचलित किया जाता है ? इसमें उन प्रवर्तकों का अहं ही मुख्य है। यही वादों की जड़ है। इसके अलावा एक ही भूखण्ड में भिन्न भिन्न मतिवाले विशेष बुद्धिवाले प्रतिभासम्पन्न मानव भिन्न भिन्न काल में सामान्य जनता में अपनी मान्यता को मनाने के लिए अपना मार्ग प्रशस्त कर जाते हैं और उसके लिए उन मान्यताओं पर ईश्वरोक्त या ईश्वरत्व प्राप्ति से उत्पन्न होने की छाप लगा देते हैं। उनके अनुयायी और प्रवर्तक वर्गों को उनके प्रचार से धर्म लाभ होगा। मानवों का कल्याण होगा।" यह भी अच्छी तरह जँचा देते हैं। इस तरह विशेष समय में उत्पन्न हुए अवतारों, महापुरुषों और तीर्थंकरों की वाणियों को रूढ रूप मानकर धर्म समझ कर प्रचलित कर दी गई हैं। वे सभी प्रवचन इस समय के भिन्न भिन्न मत या संप्रदायें हैं। ये जैन और अजैन सभी में वर्तमान हैं।

१. अहंता की पूजा

प्रस्तुत लेख में जैनियों में एक ही महावीर के समन्वय दर्शन के मानने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर मतभेद क्यों ? इसका उल्लेख करना है । इसमें भी वही बात आती है । अन्य मतों में महापुरुष और अवतार रूप से अपनी वाडाबन्दियां बनाते हैं या उनके नाम से बना दी जाती है। जैनों में प्रबुद्ध धर्माचार्यों और प्रवर्तकों द्वारा बना दी गई या उनके अनुयायियों ने उनको प्रमुखता देकर उनकी मान्यताओं को मानकर मतभेद बढ़ा दिये हैं । अलग अलग सम्प्रदायें कायम कर दी है । सभी तत्वज्ञ यह जानते थे कि महावीर की वाणी अनेकान्तमयी है फिर भी अहंता की पूजा उन्हें प्यारी थी । उनके अनुयायियों ने भी उनको महत्व देकर विषमताएँ पैदा कर दी हैं। वे मान्यताएँ अब रूढ़ बन गई हैं । अतः संप्रदायों का पूर्ण रूप उभर आया है ।

२. समर्थ व्यक्ति का अभाव

समय समय पर महावीर एवं महावीर जैसे समन्वय दर्शक समर्थ व्यक्तित्व का अभाव भी मतभेद बढ़ने का कारण है । तत्वदर्शी सर्वज्ञ या सर्वदर्शी सर्वज्ञ के रहते हुए सचेलक और अचेलक साधु एक साथ मान्य किये जाते रहे हैं । यहाँ तक कि पार्श्वस्थ संघ के बहुरंगी वस्त्र पहनने वाले भी शासन में वर्तमान थे । चातुर्यामिक धर्म और पंचमहाव्रती साथ समान भाव से आदर पाते थे । अनेक मतभेदों का समन्वय महावीर के समय किया जाता था । उनका वर्चस्व सभी को मान्य था । वीर शासन में उनके मोक्षगमन के बाद कुछ समय तक गौतम स्वामी, जम्बू स्वामी आदि का समर्थ व्यक्तित्व का सद्भाव रहा, लेकिन कालान्तर में शासन चालक समर्थ तत्वज्ञों के अभाव में विशुद्ध ज्ञान का प्रसार रुकता गया । और विशेष बुद्धि वाले तार्किक शास्त्रज्ञों ने अपनी अपनी मान्यताएँ उनके अनुयायियों ने मान्य कर रूढ बना दीं । इस तरह पृथक्-पृथक् शासन चलने लगे । उन शासनों की व्यवस्थाएँ पृथक् पृथक् होने से कभी मिलकर वीर शासन के सिद्धान्तों को समन्वय दृष्टि से सोचने का अवसर नहीं दिया । इसलिए भी धार्मिक मतभेद बने रहे और बढ़ते रहे ।

३. साधारण जनता का अज्ञान और सिद्धान्त ज्ञान के प्रति अरुचि

तीसरा कारण यह भी है कि साधारण जनता सूत्र सिद्धान्तों से अनभिज्ञ रहती गई । साधारण जनता अधिक ज्ञानवान नहीं होने के कारण उस समय के प्रवर्तक संतों या आचार्यों के प्रवचनों तथा मान्यताओं को तथ्य रूप में स्वीकार करती गई । जब तक श्रावक-श्राविका तथा साधु-साध्वियों में अनेकान्त सिद्धान्त को समझने की बुद्धि रही तब तक समन्वय की कद्र की जाती रही । साधारण जनता की अनेकान्त सिद्धान्त के प्रति अरुचि तथा अज्ञान धार्मिक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
आचार्य, श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, द्वारा भेंट

मतभेदों के बढ़ाने के प्रबल कारण हैं। समय समय के जैन शासन के अनुयायी यदि यह समझ पाते कि विभिन्न मान्यताएें मानते हुए भी हम एक शासन में रह सकते हैं। सबका समीकरण या समन्वय कर हम वीर शासन को एक सूत्र में चला सकते हैं, तो धार्मिक मतभेद बढ़ नहीं पाते और इनके कारण पृथक् सम्प्रदायें बन नहीं पाती । पृथक् सम्प्रदायें बनने के बाद साधारण जनता में तत्वज्ञान आने पर ही आशा की जा सकती है।

४. प्रचार और यातायात की असुविधा

यदि समय-समय पर कोई विशेष तत्वज्ञ एवं शास्त्रज्ञ अनेकान्त एवं समन्वयदर्शी थे भी तो उनके पास दूर दूर भारत के कौने कौने में फैले हुए जैन समुदाय में उनकी मान्यताओं को पहुँचाने के लिए उपयुक्त प्रचार साधनों का अभाव था तथा यातायात के मार्ग भी सुगम नहीं थे। चोर, डाकू, लुटेरों तथा वन्यपशुओं के भय के अलावा मार्ग बीहड़ थे तथा सड़कें बनी हुई थी। अनेकान्त सिद्धान्त को भिन्न-भिन्न प्रचार करने वाले साधुओं का अनेकान्त सिद्धान्त का ठीक तरह से उपयोग नहीं होने में प्रचार एवं यातायात सुविधा का अभाव प्रधान कारण है। इसलिए मतभेद बढ़ते गये।

५. आगमिक ज्ञान की सुरक्षा का अभाव

चली आ रही परम्परा में आगम कंठाग्र ही रखे जाते रहे थे। सभी आगम सभी संत सतियां याद नहीं रख सकती थीं और विशेषज्ञों का लाभ प्रचारक-साधु समुदाय को नहीं मिल सका अतः धीरे-धीरे कंठस्थ ज्ञान भी विस्मृत होता गया। लम्बे समय के बाद, लम्बे समय तक आगमि के ज्ञान के लिपिवद्ध नहीं होने से बहुत ज्ञान लुप्त हो गया। जितना याद रहा लिखा गया। भिन्न भिन्न विशेषज्ञों की स्मृतियों के आधार पर लिपिबद्ध किये आगमों में भी कमियां रह गईं, कमियों के कारण तर्क को कसौटी पर कसने और समझने के भिन्न भिन्न ढंग चलते रहे। इस तरह धार्मिक मतभेद पनपते रहे। १५वीं सदी में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने सम्मेलन बुलाकर आगम लिपिबद्ध किये।

६. समय समय पर लम्बे-लम्बे अकाल पड़ना

वीर के निर्वाण के कुछ समय बाद भारत में लम्बे लम्बे समय तक अकाल पड़ते रहे। बारह बारह वर्ष के अकाल ने शासन सूत्र की संचालन व्यवस्था भग कर दी। निर्ग्रन्थ धर्म की शुद्ध आराधना में कई साधु पीछे रह गये। कई शिथिलाचारी बन गये। कईयों ने संयम छोड़कर यति धर्म की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्थापना की और भट्टारक मार्ग चलाया। वीर शासन के समय की परिचर्या नष्ट हो गयी। तत्वज्ञान विशेष जानकार साधुओं के पास रह गया था और वे एक दूसरे से दूर हो गये । आपसी मिलन नहीं हो पाया। जिसके जहां जैसा जँचा, मार्ग का अवलम्बन किया और वैसा ही प्रचार किया।

कई साधु वैताड्य गिरि (विंध्याचल) के दक्षिण में चले गये। वास्तविक स्थिति का बोध अभी तक इतिहास वेत्ता को भी नहीं हुआ। दिगम्बर और श्वेताम्बर दो बड़ी सम्प्रदायें बन गईं। दोनों अपने आपको वीर प्रभु की शासन की धरोहर बताती हैं। लम्बे अकालों से मतभेद बढ़ गये और मान्यताएँ रूढ़ होकर कई छोटी छोटी सम्प्रदायें भी बन गईं।

७. लम्बे समय तक आचार्यों के परस्पर मिलन का अभाव

वीर प्रभु के निर्वाण के बाद जम्बूस्वामी और सुधर्मास्वामी का शासन तथा उसके बाद कुछ सदियों तक शासन व्यवस्थित रहा। अनेकान्त सिद्धान्त से समन्वय दर्शन होता रहा। बाद में १५वीं शताब्दी के पूर्व तक संघ चालकों का कभी सम्मेलन नहीं हुआ। आगमिक विस्मृत और स्मृत वाणियों का परिवर्धन, परिवर्तन और परिशोधन कार्य का अवसर नहीं मिला। जब संघ चालक आपस में मिले ही नहीं तो मतभेद बना रहना स्वाभाविक ही था। सिद्धान्तों के विवेचन में जो अन्तर पड़ा उसे परस्पर के मिलन और वार्तालाप से दूर किया जा सकता था। श्री देवर्धिगणी क्षमाश्रमण द्वारा बुलाया गया सम्मिलन भी उत्तरी भारत के साधुओं का ही था, दक्षिण भारत में प्रचार करने वाले संघचालक इसमें सम्मिलित नहीं हुए अतः मतभेद बने रहे। श्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के बाद भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय में बीसवीं सदी के पूर्व तक तत्वज्ञों का कोई सम्मेलन नहीं होना मतभेद बने रहने का कारण है। आज के वैज्ञानिक युग में सभी सम्प्रदायों का वीर शासन की एकसूत्रता और आगमवाणी निष्कर्ष पर एक सम्मेलन बुलाना अत्यावश्यक है।

समन्वय का वर्तमान समय सबके अनुकूल

आज यातायात की सुविधाएँ हैं। साधु व आचार्य सड़कों पर आराम से सारे देश के किसी भी भू-भाग पर आ-जा सकते हैं। आज का युग संगठन में शक्ति को पहचानने लगा है और आचार्य लोग भी रूढ़ मान्यताओं में समन्वय की आवश्यकता को महसूस करने लगे हैं। यद्यपि सिद्धान्त स्वयं सिद्ध होते हैं लेकिन रूढ मान्यताओं ने सिद्धान्त को समझने के तरीकों में अन्तर डाल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिये हैं। सम्प्रदायवादियों ने सिद्धान्त को भिन्न अर्थों में परिणत कर दिया था अतः अब सभी सम्प्रदाय के अग्र श्रावक एवं श्रमण गण अपनी मान्यताओं को वीर प्रभु के चरणों में समर्पित कर समन्वय दिशा में बढ़े तो सभी वर्तमान आचार्य वीर के अनेकान्त सिद्धान्त से अपनी-अपनी मान्यताओं को व्यवस्थित स्थान पर सुयोजित कर एक शासन व्यवस्था संगठित प्रचार कर सकते हैं।

समन्वय के लिए सम्यग्दर्शन और ज्ञान की पूर्ण आवश्यकता है। महावीर तो इस समय नहीं आ सकते और न वे आकर सिद्धान्तों का सही हल प्रस्तुत कर सकते हैं। उनका समन्वय दर्शन ही सम्यक् बुद्धि दान कर सकता है और उसी के द्वारा वीर शासन व्यवस्थित बन सकता है।

परिभाषा समझाने और क्रियाकांडों को लेकर मतभेद अत्यधिक है सैद्धान्तिक मतभेद नहीं हैं। सिद्धान्त तो बदल नहीं सकते और न कभी बदले जा सकते हैं अतः सैद्धान्तिक मतभेद कहा जाता है वह व्यवहार दृष्टि से कहा जाता है। भिन्न मान्यताओं को ही सैद्धान्तिक भिन्नता कहते हैं।

दिव्य चक्षु वाले शास्त्र-मर्मज्ञ, विद्वद्वर, साधु और श्रावक समन्वयकार्य भलीभाँति कर सकते हैं। जहाँ पूर्व और पश्चिम जैसी दरारें पड़ गई हैं वहाँ उन्हें समन्वय करने के लिए भी प्रबल त्याग और समत्वबुद्धि का प्रयोग करना परमावश्यक होगा।

समन्वय दर्शन में भी मतभेद होते हैं और होने बुरे नहीं हैं, लेकिन वे मतभेद समन्वय से व्यवस्थित हों, शृंखलित हों, शासित हों और एक सिद्धान्त की ओर लक्ष्य करने वाले हों यह परमावश्यक है।

यदि सभी आचार्यों, धर्मोपदेशकों, शास्त्रज्ञ पण्डितों और सुज्ञ श्रावकों को अपना एक और अखण्ड वीर शासन प्रिय हो तथा इस वैज्ञानिक युग में विश्व के सम्पूर्ण मानवों में प्रेम और सहयोग द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना चाहते हों तो युग की पुकार है। सभी एक छत्र की छाया में आजावें। अपने मतभेद भुला कर अनेकान्त सिद्धान्त के समन्वय मार्ग द्वारा व्यवस्थित संघ बनाकर सम्पूर्ण विश्व में शान्ति और व्यवस्था कायम कर वीर शासन की ध्वजा फहरावें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

● महासती उमराव कुंवर 'अर्चना'

धर्म अमृत है, प्रकाश है,
धर्मान्धिता जहर है, अन्धकार है....
जो धर्म दूसरों को वाधा पहुंचाता है, हानि पहुँचाता
है वह धर्म नहीं, कुधर्म है, अधर्म है।

धर्म एवं धर्मान्धता...!

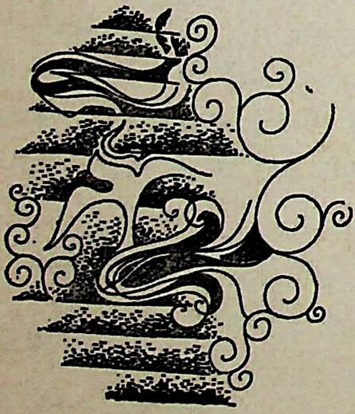

धर्म' शब्द का उद्गम संस्कृत की 'धृ' धातु से हुआ है। इसका अर्थ है धारण करना। अर्थात् जो संसार को धारण करे, उसे नष्ट होने से बचावे वही धर्म है। मनुष्य अगर धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझ ले और उसे हृदय में धारण करे तो निश्चय ही कालांतर में शाश्वत-सुख प्राप्त कर सकता है। धर्म ही मानव समाज को नष्ट होने से बचाता है, और उसमें शांति तथा व्यवस्था स्थापित करता है। हमारे शास्त्रों में धर्म के दस प्रकार बताएगए हैं :—

"खंती मुत्ती अज्जव मद्दव लाघव
सच्चे संजम चियाए तवे बंभचेर।'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात् – क्षमा, निर्लोभता, सरलता, मृदुता, लघुता, सत्य, संयम, तप त्याग और ब्रह्मचर्य, इन्हें ग्रहण करना तथा सम्यक्रूप से इनका पालन करना ही धर्म है। ये सब आत्मा को उन्नत बनाने वाले सहज गुण हैं। इन सद्वृत्तियों के द्वारा ही जीवन का विकास होता है। धर्म को दूसरे शब्दों में हम मनुष्योचित कर्म भी कह सकते हैं। इनके द्वारा जीवन मर्यादित और विकार मुक्त बनता है।

धर्म से जीवन का आध्यात्मिक पक्ष प्रबल होता है। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि मानव-जीवन का आध्यात्मिक पक्ष उसके भौतिक पक्ष से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। एक पाश्चात्य दार्शनिक का कथन है :—

इस जीवन में क्या रखा है ? निर्जीव शव को आत्मा ढोती फिरती है।

दार्शनिक का कथन अक्षरशः सत्य है। वास्तव में ही आत्म-तुष्टि के बिना देह-पुष्टि निरर्थक है। इसीलिये शास्त्रकारों ने शरीर की प्राकृतिक खुराक के साथ ही आत्मिक खुराक की भी व्यवस्था की है। प्राकृत भोजन शरीर का पोषण करता है और आत्मिक भोजन आत्मा को बल देता है। धर्म के उपरोक्त जो दस प्रकार बताए गए हैं उनका मनन करना और उनके अनुकूल आचरण करना ही आत्मा को खुराक देना और उसका उत्कर्ष करना है। सद्वृत्तियों के पोषण से आत्मबल बढ़ता है और हृदय उत्तरोत्तर पवित्र बनता हैं। इसके विपरीत जब मनुष्य, अन्याय, अत्याचार और अकर्म करता है तो देह-पुष्ट होने के बावजूद भी उसका हृदय भय, चिन्ता, विषाद और ग्लानि से अन्दर ही अन्दर जर्जर होने लगता है। इसलिये व्यक्ति को चाहिये कि वह आत्मा के सहज गुणों को या सद्वृत्तियों को जताए और उनको आचरण में लाए। यही सच्चा धर्म है। कहा भी हैं :—

"वत्थु सहावो धम्मो।"

अर्थात्—प्रत्येक वस्तु का जो सहज स्वभाव है वही धर्म है। जैसे जल का स्वभाव शीतलता प्रदान करना, अग्नि का स्वभाव उष्णता देना, आकाश का अवकाश प्रदान करना और धरती का सहज स्वभाव भारवहन करना है, उसी प्रकार आत्मा का सहज स्वभाव चेतना है और यही उसका धर्म है। क्षमा आदि चेतना के विकास और विशुद्धि के कारण होने से धर्म हैं और उनका उद्देश्य आत्मा को पवित्र, निष्कलंक और उन्नत बनाना है। अगर ऐसा नहीं होता है तो मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

गाँधीजी का कथन है —"धर्म बुद्धि ग्राह्य नहीं, वरन् हृदय ग्राह्य है और वह जिन्दगी की हर साँस के साथ अमल में लाने की चीज है।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महावीर से किसी ने प्रश्न किया—"साधु-जीवन श्रेष्ठ है या गृहस्थ जीवन ?" भगवान् ने उत्तर दिया—"जीवन के क्षेत्र में श्रेष्ठता और निम्नता का नाप-तोल आत्म-परिणति पर निर्भर है। अगर साधु अपने कर्त्तव्य का भली-भांति पालन नहीं करता और गृहस्थ अपने कर्त्तव्य-पथ पर पूर्ण सच्चाई और ईमानदारी से चल रहा है तो उसका जीवन साधु जीवन से श्रेष्ठ है।"

अनेकान्त दृष्टि में संकीर्णता और अपने ही दृष्टिकोण को सही मनवाने की प्रवृत्ति नहीं होती, इसीलिये जहाँ अनेकान्त की ज्योति जलती है, वहाँ घृणा, द्वेष, तिरस्कार और अवहेलना की क्रूर-धारा नहीं वहती। वह बुराई में भी अच्छाई ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है।

आज के युग में जो संघर्ष चल रहा है उसका मूल कारण अनेकान्त दृष्टि का न होना ही है। प्रत्येक व्यक्ति अपने दृष्टिकोण को सही समझता है और दूसरे के दृष्टिकोण को गलत। दूसरे की उपेक्षा करके वह अपनी वात को ही सत्य सावित करने का प्रयत्न करता है। परिणाम-स्वरूप संघर्ष खड़े हो जाते हैं। किन्तु अनेकान्त दृष्टि हमें ऐसी पवित्र दृष्टि प्रदान करती है, हमें बताती है कि सामने वाले के विचारों को समझे बिना और उस पर विचार किये बिना उसके लिये किसी भी तरह का निर्णय देना गलत है। एक दृष्टि में जो विचार असत्य प्रतीत होता है, वही विचार दूसरी दृष्टि में सत्य भी हो सकता है। एक ही दृष्टिकोण से पदार्थ का अवलोकन करने की पद्धति अपूर्ण मानी जाती है। सत्य असीम एवं अनन्त है और उसे समझने के लिये हमारा दृष्टिकोण विशाल तथा उदार होना चाहिये। तभी हम पूर्ण सत्य को हृदयंगम कर सकेंगे और सही माने में धर्म को अपना सकेंगे।

धर्म सरल और निष्कपट होता है। मायावी पुरुषों की धर्म में गति नहीं होती। आज हम देखते हैं कि कितने ही व्यक्ति थोड़ा सा ज्ञान हासिल करके महाज्ञानी बन जाने का दम भरते हैं। लोक दिखावे के लिये थोड़ा बहुत जप तप करके सरल और भोले व्यक्तियों को दबाते हैं। ऐसे वगुला-भगत न अपना कल्याण कर पाते हैं और न दूसरों का ही, धर्म के नाम पर अधर्म का विषपान करते हुए इस लोक और परलोक दोनों को ही बिगाड़ लेते हैं।

धर्म के साथ जो रूढ़ियाँ और अन्ध-परम्पराएँ चल पड़ी हैं, वे ही मनुष्य की उन्नति को रोकने वाली वेड़ियाँ हैं। उनसे मुक्त होकर अपनी बुद्धि और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust eGangotri
... द्वारा भेंट

विवेक से धर्म की मूल भावनाओं को समझकर उन्हें ग्रहण करे तो मनुष्य निश्चय ही भविष्य को समुज्ज्वल बना सकेगा, और सच्चे धर्म-पथ पर आगे बढ़ सकेगा। सच्चा धर्म किसी भी धर्म के मार्ग में रोड़े नहीं अटकाता। अनेकान्त दृष्टि से संयुक्त धर्म किसी धर्म से घृणा करना नहीं सिखाता क्योंकि सच्चे धर्म के मूल सिद्धांत सभी धर्मशास्त्रों में एक सरीखे हैं और वे मानवमात्र के लिये आचरण में आने योग्य हैं। जो धर्म अन्य धर्मों को बाधा पहुँचाता है वह धर्म नहीं अधर्म है। किसी ने कहा भी है :—

धर्मो यो बाधते धर्मं न धर्मः कुधर्म तत्।
धर्माविरोधी यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रमः॥

अर्थात् – जो धर्म दूसरे धर्म को बाधा पहुँचाता है वह धर्म नहीं कुधर्म है। जो धर्म का अविरोधी है वही धर्म सत्य पराक्रमशील है।

धर्मान्धता—अब हमें यह देखना है कि धर्मान्धता क्या है? और वह किस प्रकार धर्म के नाम पर लोगों को अधर्म की राह पर ले जाती है। धर्मान्धता का विष किस प्रकार धर्म के नाम पर मनुष्यों के हृदय में उँड़ेला जाता है और उन्हें गुमराह किया जाता है। अगर हम इतिहास उठाकर देखें तो जान सकते हैं कि धर्म के नाम पर कितने अन्याय और अत्याचार होते आए हैं और किस प्रकार मनुष्य एक दूसरे का गला काटते रहे हैं। आज भी धर्मान्धता का प्रसार कम नहीं है। इसी के कारण मनुष्य धर्म के नाम से चौंकते हैं और उसका उपहास तथा उपेक्षा करके जीवन को लक्ष्यहीन बना डालते हैं। परिणाम यह होता है कि उनका धर्मरहित जीवन पतवारविहीन नौका के समान इतस्ततः डोलता हुआ एक दिन जन्म-मरण के भयंकर भँवर में विलीन हो जाता है और यह मानव-भव निरर्थक चला जाता है।

ऐसे व्यक्तियों की आज भी कमी नहीं है जो धर्म के नाम पर अधर्म का पोषण करते हैं। पूजा-पाठ, वेष-भूषा और तिलक-छापे को ही धर्म का अकाट्य चिह्न मानते हैं। प्राचीन काल में शैव और वैष्णव भक्त सिर्फ तिलक को लेकर ही परस्पर घोर संघर्ष करते रहे हैं। तिलक को इतना महत्त्व दिया गया था कि उसके बिना मुक्ति असंभव मानी जाती थी। वैष्णव परम्परा में तो एक कथानक भी आता है—

एक अत्यन्त दुराचरी व्यक्ति किसी वन में एक पेड़ के नीचे सो गया। दुर्भाग्यवश उसी समय उसकी मृत्यु हो गई। उस वृक्ष की एक डाली पर एक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चिड़िया बैठी थी उसने बीट की और वह उस व्यक्ति के मस्तक पर तिलक के समान आ गिरी। ठीक उसी समय यम के दूत और विष्णु के दूत मृत व्यक्ति की आत्मा को ले जाने के लिये आ पहुँचे। यमदूतों का कथन था कि यह व्यक्ति दुराचारी था अतः इसे नरक में ले जाएँगे और इसके विपरीत विष्णु-दूत कह रहे थे—"चाहे कितना भी दुराचारी यह क्यों न रहा हो, पर इसके माथे पर तिलक लगा है अतः यह स्वर्ग का अधिकारी है। दोनों स्थानों के दूतों में बड़ा संघर्ष हुआ पर आखिर विष्ण के दूत उसे स्वर्ग में ले ही गए।"

अंध-विश्वास की पराकाष्ठा है। जीवन भर किये गये दुराचार का कोई फल उस व्यक्ति को नहीं, भुगतना पड़ा। सिर्फ मस्तक पर का तिलक ही उसके स्वर्ग में पहुँच जाने का कारण बन गया और तिलक भी कैसा? चिड़िया की बीट का बना हुआ।

धर्म की पवित्रता और महानता का इससे बढ़कर और क्या उपहास हो सकता है? इस प्रकार की ही नहीं सैकड़ों अंध-मान्यताओं से आज भी धार्मिक मानस ग्रस्त हो रहा है। ऐसे व्यक्तियों के लिये ही कहा जाता है:—

साधुता, सद्धर्म चर्चा, ब्रह्मनिष्ठा कुछ नहीं,
तिलक-छापे लगाकर ही मूढ़ स्वामी बन गए।

प्रत्येक धर्म क्रिया में तथा भगवान् का स्मरण करने में सर्वप्रथम सचाई और सरलता आवश्यक है। धर्म के प्रति कट्टरता मनुष्य को धर्मान्ध बनाती है, धर्मान्ध व्यक्ति कैसी भी धर्मक्रिया क्यों न करे वह धर्म की श्रेणी में नहीं आती। स्वार्थ के कारण दिखावे के लिये किया जाने वाला पूजा-पाठ जप तप तथा और भी अनेक प्रकार का ढोंग मनुष्य को मुक्ति की ओर नहीं ले जाता। और वह इस संसार में बगुला भगत बनकर रह जाता है। ऐसे धूर्त व्यक्ति बाह्य व्यवहार में तो अत्यन्त नम्रता तथा पवित्रता का दिखावा करते हैं। किन्तु उनके अन्तर्मानस धर्म के नाम पर खोखले रहते हैं। आज के युग में श्वेताम्बर, पीताम्बर, रक्ताम्बर, कृष्णाम्बर दिगम्बर तथा और भी तरह-तरह के भेषधारी साधु नजर आते हैं। किन्तु परमात्म-पंथ पर चलने वाले तथा धर्म के वास्तविक रूप को समझने वाले सत्पुरुष विरले ही होते हैं। मान-पूजा यश प्राप्ति की आकांक्षा से दिखावा करने वाले व्यक्ति परमात्मपद को प्राप्त नहीं कर सकते।

कहते हैं, पेरिस में इब्राहीम नामक एक व्यक्ति अपने परिवार के साथ एक झोंपड़े में रहता था। अपने धर्म पर उसे प्रगाढ़ श्रद्धा थी, साथ ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसका हृदय भी उदार था। सड़क पर ही झोंपड़ी होने के कारण आने वाले यात्री अक्सर उसके यहाँ ठहरा करते थे। इब्राहीम उनका यथाशक्ति आतिथ्य करता। कोई भी अतिथि जब उसके और उसके परिवार के साथ खाने बैठता, तब इब्राहीम खाने से पहले एक प्रार्थना बोलता और ईश्वर का आभार मानता। उसके मेहमान भी प्रार्थना में शासिल होते।

बहुत दिनों बक यह क्रम चलता रहता। लेकिन सब दिन समान नहीं होते। कुछ वर्षों के बाद इब्राहीम बहुत गरीब हो गया, फिर भी इब्राहीम ने यात्रियों का स्वागत करना बन्द नहीं किया। वह अपने परिवार सहित एक वक्त खाता तथा दूसरे वक्त का भोजन मेहमानों के लिये रख दिया जाता। इब्राहीम को इससे बड़ा आनन्द होता। मगर धीरे-धीरे उसे अभिमान होने लगा कि वह बड़ा पुण्मातमा है और उसका धर्म सबसे बड़ा है।

एक दिन एक अत्यन्त वृद्ध व्यक्ति इब्राहीम के यहाँ आया। जर्जर तन वाले उस थके-माँदे व्यक्ति ने इब्राहीम का द्वार खटखटाया। इब्राहीम ने अन्दर बुलाकर उसका स्वागत किया। बूढ़े ने कहा—बेटा! मैं बड़ी दूर से आया हूँ, भूखा हूं।

इब्राहीम उठा और तुरन्त खाना ले आया। परिवार के सभी व्यक्ति खाने बैठ रहे थे। इब्राहीम ने खाना प्रारम्भ करने से पहले अपनी प्रार्थना पढ़ी। सभी ने उसमें भाग लिया। पर इब्राहीम ने देखा कि वह वृद्ध व्यक्ति प्रार्थना में शामिल नहीं हुआ। अतः उसने उससे पूछ लिया—"क्या तुम हमारे ईश्वर में विश्वास नहीं करते?"

बूढ़े ने उत्तर दिया—"हम अग्नि की पूजा करते हैं।" सुनकर इब्राहीम आग-बबूला हो गया। उसने चिल्लाकर कहा—"अगर तुम्हें मेरी प्रार्थना बोलने से इनकार है तो तुम इसी वक्त मेरे घर से निकल जाओ।"

इब्राहीम ने बूढ़े को बिना खिलाये घर से निकाल दिया और दरवाजा बन्द कर दिया। लेकिन ज्यों ही उसने ऐसा किया कि कमरे में प्रकाश की एक ज्योति फैली और एक फरिश्ता प्रकट हुआ। वह इब्राहीम से बोला—

"यह तुमने क्या किया? ईश्वर उस गरीब बूढ़े का सौ वर्ष से पोषण कर रहा है मगर तुम धर्मात्मा बनकर भी उसे अन्य धर्मावलम्बी होने के कारण खाना नहीं खिला सके। दुनिया में कितने भी धर्म हों, लेकिन ईश्वर एक ही है और वह सबका पिता है।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह कहकर फरिश्ता गायब हो गया। इब्राहीम को अपनी धर्मान्धता का ज्ञान हुआ। वह बूढ़े के पीछे भागा और उससे क्षमा माँगी।

सच्चे धर्म की लौ जब उठती है तो भेद-भाव का अंधकार पलायन हो जाता है। व्यक्ति, परिवार, समाज और देश में भेद नहीं करता। धर्मों और पंथों में भिन्नता नहीं समझता। उसकी दृष्टि अन्तर के अखण्ड सत्य पर टिकी रहती है, वह चाहे उसे कहीं से भी मिले। किन्तु इसके विपरीत भेद-दृष्टि मानवता की ज्योति को बुझा देती है। जिसकी दृष्टि ऐसी होती है, समझना चाहिये कि उसके हृदय में धर्म नहीं वरन् धर्माभास है। उपाध्याय श्री अमरचंद जी महाराज ने अपने संस्मरण में एक घटना का उल्लेख किया हैं—

राजगृह के एक दिगम्बर मन्दिर में अलग-अलग वेदियों पर तेरापंथी और बीसपंथी मूर्तियाँ स्थापित हैं। दोनों की पूजाविधियों में कुछ अन्तर है। बीसपंथी भगवान् के सामने फूल चढ़ाते हैं, तेरापंथी नहीं।

कभी वे मूर्तियों को लेकर झगड़ते हैं, कभो मंदिरों को, कभी मुखवस्त्रिका को और कभी क्रिया-कांडों को....।

एक बार एक बीसपंथी श्रावक मन्दिर में आया, उसने बीसपंथी मूर्ति की पूजा की, फूल चढ़ाए और साथ ही तेरापंथी मूर्ति के सामने भी फूल चढ़ाकर चला गया। उसी दिन मन्दिर में एक तेरापंथी (दिगम्बर) मुनि दर्शन करने आए। तेरापंथी मूर्ति के आगे भी फूल चढ़े हुए देखकर उन्हें बड़ा क्रोध हो आया। उसी समय मैनेजर को बुलाकर कहने लगे :—

"हमारे भगवान् कहाँ हैं? अब हम किसके दर्शन करें? बड़ा अंधर है तुम्हारे यहाँ। तेरापंथी भगवान् को भी बीसपंथी बना दिया।"

मैनेजर विचारा क्या करता? उसने कहा – "क्षमा करें महाराज! लीजिये मैं ये फूल यहाँ से हटाए देता हूँ। अब आप दर्शन कीजिये।

इस प्रकार की भावनाओं से धर्म का सुरम्य स्वरूप भी कितना विकृत और घृणित बन जाता है? जो धर्म प्रेम का मंगलमय द्वार होता है, वहा दुर्भेद्य दीवार बनकर मनुष्य की उन्नति को रोक देता है। धर्म का विराट् रूप आज अत्यन्त संकुचित बना दिया गया है। उसकी विशालता सीमित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य, श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी
द्वारा भेंट

हो गई है। और अखंडता खंडित हो गई है। जीवन कहीं और है और धर्म कहीं और है। ऐसी स्थिति में की जाने वाली शुभक्रियाएँ भी शुभ फल का कारण नहीं बनती। व्यक्ति आत्म-कल्याण करने का प्रयत्न करता हुआ भी आत्मा का पतन कर लेता है और मुक्ति के बदले अनन्त-पाश में आत्मा को जकड़ लेता है।

धर्मान्धता का जनून जब मनुष्य के दिल और दिमाग पर अधिकार कर लेता है तो वह खूँख्वार पशु से भी अधिक भयानक बन जाता है। अनेक राजा महाराजाओं और बादशाहों के सिर पर सवार होकर इसने नर-बलि के भीषण दृश्य उपस्थित किये हैं। बादशाह औरंगजेब के विषय में आप सभी जानते होंगे कि किस प्रकार उसने हिन्दुओं को मुसलमान बनने से इन्कार करने पर कत्ल करवाया था। गुरु गोविन्दसिंह के दो मासूम बच्चों को जीवित ही दीवार में चुनवा दिये जाने की अमानुषिक कथा आज भी हमारे हृदय को हिला देती है।

धर्म कभी भी भ्रष्ट नहीं होता, जो धर्म ऐसा निर्बल होता है, वह सच्चा धर्म नहीं माना जा सकता। सच्चे धर्म में तो पतित से पतित को भी पावन करने की शक्ति होती है।

बहुत बार कहा जाता है कि धर्मान्धता अत्यन्त भयानक विष है। 'विष' शब्द सुनते ही हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। जिस प्रकार संखिया या अन्य किसी विष की कल्पना करते ही हम भयभीत हो जाते हैं उसी प्रकार धर्मान्धता के इस विष के कारण अतीत में हुई भयंकर घटनाएँ भी हमारे रोम-रोम को कंटकित कर देती हैं। फिर भी इस जीवन-रूपी वन में भटकते समय, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा वैर आदि अनेक प्रकार के जहर हमारे अनजाने ही हमारी आत्मा के गुणों का नाश करते रहते हैं। धर्मान्धता भी ऐसा ही एक भयानक विष है जो हमारे जीवन को मटियामेट कर देता है। आज के जीवन में धर्मान्धता का यह जहर किसी न किसी प्रकार से फैलाता जा रहा है।

महापुरुष कहते हैं, धर्म में उदारता और विशाल दृष्टि होती है। धर्म में वैर-विरोध और झगड़ों को स्थान नहीं होता, किन्तु आज के समाज में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनुष्यों की धारणाएँ अभी भी यही हैं कि हमारी जाति, हमारा कुल और हमारे भगवान् ऊँचे हैं, तथा औरों के नीचे। धर्माभिमान और जाति का अभिमान आज भी मनुष्यों के हृदयों में कूट-कूट कर भरा हुआ है। ऐसे धर्मात्मा व्यक्ति स्याद्वाद के सिद्धांत को भी एक ओर रख देते हैं। उन्हें यह भान नहीं रहता कि वे धर्म के नाम पर क्या-क्या करते हैं। **कभी वे मन्दिरों को लेकर झगड़ते हैं, कभी मूर्तियों को। कभी मुखवस्त्रिका को लेकर और कभी क्रिया-कांडों को।**

जिस समय हिन्दुस्तान का अन्तिम राजपूत राजा पृथ्वीराज चौहान हारा और मुस्लिम सुल्तान शाहबुद्दीन गोरी ने इस्लामी राज्य की स्थापना की उस समय देश में भयानक खून-खच्चर हुआ। राज्यसत्ता हाथ में आते ही मुगलसत्ताधारियों पर धर्मान्धता का जनून बुरी तरह हावी हो गया। और उन्होंने देश के समस्त निवासियों को मुसलमान बनाने में ही अपने धर्म के प्रति अपनी वफादारी समझी। परिणाम स्वरूप लाखों व्यक्तियों को जबर्दस्ती मुसलमान बनाया गया। उन दुख के मारे व्यक्तियों ने हिन्दुओं के पास आकर गिड़गिड़ाते हुए बार-बार कहा—"हमें जबर्दस्ती मुसलमान बनाया गया है, कृपा करके हमें पुन: हिन्दू बनाओ।" फिर से हिन्दू बनने के लिये प्रजा छटपटा रही थी और प्रार्थना कर रही थी, लेकिन उस समय हिन्दू जाति में ऊँचे और होशियार माने जाने वाले ब्राह्मणों ने घोर घृणा करते हुए उनकी प्रार्थनाओं को ठुकरा दिया। और धर्मान्धता के जहर से बुझी हुई छुरी के सदृश अपनी जिह्वा द्वारा निर्णय दिया—

'तुम लोग अब हिन्दू नहीं हो सकते। तुमने मुसलमानों का पानी पीकर अपने को भ्रष्ट कर दिया है, अत: इस जन्म में अब किसी भी प्रकार तुम्हारा हिन्दू बनना संभव नहीं है।"

कैसी भावनाएँ थीं हिन्दुओं की? उनके धर्मोन्माद ने उन्हें यह भी नहीं समझने दिया कि धर्म कभी भी भ्रष्ट नहीं होता। और जो धर्म ऐसा निर्बल होता है वह सच्चा धर्म नहीं माना जा सकता। सच्चे धर्म में तो पतित से पतित को भी पावन करने की शक्ति होती है। यही बात राम, कृष्ण, बुद्ध तथा अन्य पैगम्बरों ने समझाई है। धर्म के नाम पर नोआखाली में हुई हृदय विदारक घटनाओं के समय गाँधीजी ने भी सच्चे धर्म का स्वरूप लोगों को समझने का प्रयत्न किया था। उन्होंने जबर्दस्ती बनाए हुए अनेक मुसलमानों को पुन: हिन्दू बनाया। अस्पृश्यता तथा जाति भेद के कारण व्यक्तियों को ऊँचा या नीचा न माने जाने के लिए हमारी वर्तमान सरकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वादशाह सुलेमान की पुत्री हिन्दू धर्म ग्रहण करना चाहती थी, ब्राह्मणों ने निर्णय दिया ..."यह अशक्य है। मुसलमान कभी हिन्दू नहीं वन सकता"........निराश कालिचन्द्र मुसलमान बन गया और अपने तिरस्कार का बदला लेने विशाल सेना के साथ उसने जगन्नाथ पुरी, आसाम और पूर्व भारत के अनेक मंदिरों पर आक्रमण किया......"लाखों हिन्दुओं को बलपूर्वक मुसलमान बनाया....... मंदिरों को नष्ट किया ......

ने कानून भी वनाए हैं, किन्तु मनुष्यों के दिलों में धर्मान्धता का जहर ऐसा रम गया है कि वह निकाले नहीं निकलता।

यद्यपि हम आज भी 'पतित पावन सीताराम' का अखंड जप करते हुए अनेक मंडलियों को देखते हैं, किन्तु ये शब्द सिर्फ उनकी जबान से निकले हुए ही होते हैं, हृदय से नहीं। जिन्हें वे पतित-पावन कहते हैं उन्हीं सीता-राम की मूर्तियों का अगर कोई निम्न जाति का व्यक्ति स्पर्श कर ले, कोई पतित आकर राम की मूर्ति के चरण छू ले तो वे हाय-हाय करने लग जाते हैं। अपने भगवान् को अपवित्र मानने लगते हैं। कैसी वेहूदी कल्पनाएं हैं? अगर ऐसा ही हो जाता हो तो फिर वे भगवान् पतित-पावन कैसे हुए? राम का नाम तो एक बार लेकर ही अनेक पतित और पापी तर गए हैं।

एक राजा से ब्रह्म हत्या हो गई। इस घोर पाप के प्रायश्चित्त के लिये वह एक ऋषि के आश्रम में गया। ऋषि कहीं बाहर गए हुए थे, लेकिन उनका पुत्र वहाँ था। राजा की बात सुनकर ऋषि-पुत्र ने कहा—'राम का नाम तीन बार लो, तुम्हारे दोष का प्रक्षालन हो जाएगा'— राजा चला गया।

जब ऋषि लौटकर आश्रम में आए तो पुत्र के मुँह से प्रायश्चित के विधान के विषय में सुना। सुनते ही रुष्ट होकर बोले—'भगवान् का नाम केवल एक बार लेने से ही असंख्य जन्मों के पाप कट जाते हैं। तेरा विश्वास कितना है तूने तीन बार नाम लेने के लिये कहा।'

जिसके हृदय में धर्म का सच्चा रूप होता है वे उदार-हृदय वाले व्यक्ति ऐसा ही सोचते हैं किन्तु इसके विपरीत धर्म को कलंकित करने वाले व्यक्ति धर्म के नाम पर साम्प्रदायिकता की मजबूत दीवारें खड़ी कर लेते हैं और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिणाम स्वरूप अपना ही अधःपतन करते हैं। धर्मान्धता का जहरीला उन्माद कैसा भयंकर परिणाम लाता है, यह एक कथानक से समझा जा सकता है—

बंगाल के बीजापुर गाँव में नयनचन्द्र नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसके सर्वगुण सम्पन्न पुत्र था। उसका नाम कालिचन्द्र था। नयनचन्द्र की मृत्यु के बाद कालिचन्द्र जीविकोपार्जन के उद्देश्य से गौड़ प्रदेश में गया और उसने वहाँ के बादशाह सुलेमान की फौज में नौकरी करली।

एक बार सुलेमान की कन्या ने कालिचन्द्र को देखा और उसके रूप-गुण पर मुग्ध होकर उससे विवाह करने का निश्चय किया। बादशाह उदार था। उसने जब शाहजादी की इच्छा को जाना तो कालिचन्द्र को बुलाकर शाहजादी से विवाह करने का आग्रह किया।

कालिचन्द्र ने विनयपूर्वक उत्तर दिया—"हुजूर! मैं तो हिन्दू हूँ।"

बादशाह बोले—"युवक! तुम हिन्दू हो तो कोई बात नहीं। तुमसे विवाह करके शाहजादी भी हिन्दू-धर्म अंगीकार कर लेगी। मैं तुम्हारे धर्म में कोई बाधा नहीं डालूँगा बल्कि तुम्हारे समाज के लिये भी यथा-संभव सुविधाएँ प्रदान करूँगा।"

बादशाह की बात सुनकर कालिचन्द्र ने कुछ समय पश्चात् उत्तर देने की प्रार्थना की और वहाँ से चला आया। घर आकर उसने विचार किया कि बादशाह की पुत्री रूप-गुण सम्पन्न है साथ ही हिन्दू-धर्म भी ग्रहण करना चाहती है। इस स्थिति में उस कन्या से विवाह करने में क्या हर्ज है? सोच-विचार करके वह शास्त्र पारंगत विद्वान् ब्राह्मणों के पास गया और अपनी इच्छा उन्हें बताई।

पर अपने को हिन्दू जाति का शिर-मौर मानने वाले ब्राह्मण देवता यह बात सुनते ही आगबबूला हो उठे। उसी समय सबने एक मत होकर निर्णय दे दिया—

"यह अशक्य है। मुसलमान कभी हिन्दू बन ही नहीं सकता।'

कालिचन्द्र वहाँ से निराश लौटा। पर साथ ही उसकी हिन्दू-धर्म पर से श्रद्धा हट गई। वह सोचने लगा—"अगर हिन्दू-धर्म ऊँचा और विशाल है तो उसमें किसी को अपनाने की शक्ति क्यों नहीं है? छोटी-छोटी नदियाँ ही तो बड़ी नदी में और फिर समुद्र में जाकर मिलती हैं। उसी प्रकार अगर हिन्दू-धर्म महान् है तो अन्य धर्म के किसी व्यक्ति को अपने में क्यों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं मिला सकता ? इससे लगता है कि हिन्दू-धर्म अत्यंत संकीर्ण और तुच्छ है। जो धर्म औरों को पावन नहीं कर सकता, किसी को अपना नहीं सकता उसका तो मिट जाना ही श्रेयस्कर है।'

अगले दिन कालिचन्द्र बादशाह के समक्ष उपस्थित हुआ और नम्रता-पूर्वक बोला --"जहांपनाह ! मैं शाहजादी के साथ विवाह करने के लिये तैयार हूँ, और साथ ही मुस्लिम धर्म भी अंगीकार करना चाहता हूँ।"

अंधा क्या चाहे ? दो आँखें। बादशाह अत्यन्त विस्मित और प्रसन्न हुए। धूम-धाम से विवाह हो गया। कालिचन्द्र मुसलमान बन गया। उच्च-पद तथा सत्ता प्राप्त हो जाने के कारण कालिचन्द्र के मन में हिन्दू-धर्म के प्रति रही हुई अनास्था ने वैर का रूप धारण कर लिया और उसने बादशाह की सहमति लेकर विशाल सेना के साथ जगन्नाथ पुरी, आसाम और दूसरे अनेक प्रदेशों तक आक्रमण किया।

आक्रमण के दौरान उसने लाखों हिन्दुओं को बलपूर्वक मुसलमान बनाया। आसाम के उन प्रदेशों में, जहाँ मुसलमानों का नाम निशान भी नहीं था, असंख्य मुसलमान दिखाई देने लगे। हिन्दू समाज पुनः उन्हें अपनाता नहीं था अतः उस संख्या के कम होने की संभावना भी नहीं थी। इतिहास बताता है जिस समय भारत में मुसलमानों का आगमन हुआ, उनकी संख्या अधिक से अधिक पचास हजार थी, किन्तु हिन्दुओं को मुसलमान बनाते-बनाते वही संख्या करोड़ों तक पहुँच गई।

जबर्दस्ती मुसलमान बनाए गए हिन्दू पुनः अपने धर्म में आने के लिये रोते थे, गिड़गिड़ाते थे, और सिर धुनते थे, किन्तु हिन्दू और उनमें भी अपने को सर्वोच्च मानने वाले ब्राह्मण पसीजे नहीं। उनका धर्म संकट में पड़ जाता और अपवित्र हो जाता अगर वे उन धर्मान्धता के शिकार व्यक्तियों को अपना लेते। परिणाम यह हुआ कि ज्यों-ज्यों मुसलमानों की संख्या बढ़ी, उनका साहस बढ़ता गया और अंत में जगह-जगह कत्लेआम करते हुए खून की नदियाँ बहाकर उन्होंने पाकिस्तान के रूप में हिन्दुस्तान का एक बड़ा भाग ले लिया।

यह कटु परिणाम हिन्दू और मुसलमान दोनों ही जाति के व्यक्तियों के धर्मान्ध होने के कारण सामने आया। किन्तु मुसलमानों ने जहाँ अन्य किसी भी धर्म के व्यक्तियों को अपने में मिलाकर अपने धर्म को और अपनी जाति को शक्तिशाली बना लिया वहाँ हिन्दू अस्पृश्य हो जाने के भय से हिन्दुओं को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी नहीं अपना सके। हिन्दू धर्म की रक्षा नहीं कर सके। और इसीलिये अन्त में बंगाल और पंजाब आदि स्थानों में लाखों व्यक्तियों को बलि चढ़ानी पड़ी।

डॉ० राधाकृष्णन् के धर्म के संबंध में कितने सुन्दर विचार हैं! उन्होंने कहा है: —

"हिन्दू धर्म का आदर्श सभी मनुष्यों को ब्राह्मण और सभी व्यक्तियों को पैगम्बर बनाना है।"

सच्चा धर्म गम्भीरता, उदारता, विश्वस्तता, तत्परता तथा दयालुता के व्यवहार में है। जिस मनुष्य में ये गुण हों, जानना चाहिये कि उसने सच्चे धर्म को अपना लिया है। महान् संत "तिरुवल्लुवर" तो कहते हैं: —

"मन को निर्मल रखना ही धर्म है, बाकी सब कोरा आडम्बर है।"

कितनी सुन्दर विवेचना है धर्म की। धर्म आत्मा का विषय है। आत्मा की उच्चता और पवित्रता में धर्म का निवास है।

धर्मान्धिता में पाखंड, उन्माद, अत्याचार एवं संघर्ष छिपा है।

अर्थात्—अपनी आत्मा को पहचानो, उसको अच्छी तरह समझो।

धर्मान्धिता के कारण मनुष्य की आत्मा पतित और संकुचित हो जाती है। अतः उसका त्याग कर उसके स्थान में समदृष्टि, उदारता, विशालता और विवेक को हृदय में स्थित करना आवश्यक है। विवेकपूर्वक किया गया मनुष्य का प्रत्येक कार्य धर्ममय होगा।

मनुष्य के जीवन में, चाहे वह साधु हो या गृहस्थ, विवेक जगना चाहिये। भगवान् महावीर से किसी ने पूछा - धर्म किसमें हैं? उन्होंने दो शब्दों में ही बताया—**विवेगे धम्मो**" विवेक में धर्म है। वह किसी मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे या गंगा यमुना में नहीं रहता। सिर्फ विवेकपूर्ण आत्मा में ही रहता है। उसे जीवन की हर सांस में चलता रहना चाहिये, हर क्षेत्र में उसकी प्रतिध्वनि गूँजनी चाहिये। वह स्थान और समय में बँधकर नहीं रह सकता। हमारे आचार्यों ने धर्म का लक्षण ही बताया है—"**दिक् कालाद्यनवच्छिन्नः**।" देश, काल, स्थान आदि की सीमाओं से जो मुक्त है, वही धर्म है।

धर्म के संबंध में भिन्न-भिन्न विचार पाए जाते हैं। कोई पूजा-अर्चना में, कोई तिलक लगाने में या त्रिशूल धारण करने आदि धर्म मानते हैं। कुछ मानते हैं अहिंसा में धर्म है, कुछ सत्य में, और कुछ करुणा या सेवा में धर्म

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मानते हैं। उन्हें भगवान् महावीर का यह कथन स्मरण रखना चाहिये कि यदि अहिंसा में विवेक है तो वह धर्म है, यदि सत्य में विवेक है तो धर्म है, इसी प्रकार पूजा, पाठ, वन्दना और सेवा आदि में विवेक है तो वह भी धर्म है। किन्तु विवेक अगर लुप्त हो गया तो इनमें से कोई भी धर्म नहीं है। तात्पर्य यही कि हमारी प्रत्येक क्रिया धर्म कहला सकती है यदि उसके साथ विवेक जागृत रहता है। विवेकपूर्ण की गई क्रिया आत्मा के लिये अमृत का काम करती है और अविवेक सहित की जाने वाली विष का। एक धर्म है और दूसरी धर्मान्धता, हमें अमृतमय धर्म को ग्रहण करना है और धर्मान्धता रूपी विष से बचना है।

- जिस समय हम लोग कलह-विवाद करते हैं, परस्पर की हानि करते हैं, उग्र चण्डमूर्ति धारण करते हैं, उस समय हम लोग कितने नीचे गिर जाते हैं? सचमुच तब हम हिंस्र पशुओं के समान हो जाते हैं।

  —यूनानी संत एपिक्यूरस (ई० पू० ३४०)

- अच्छा जीवन, ज्ञान और भावनाओं तथा बुद्धि और सुख—दोनों का सम्मिश्रण होता है।

  —महात्मा सुकरात (ई० पू० ३९९)

- यदि मैं मानव और देवदूत की तरह मधुर वाणी बोलता हूं और उदारता से शून्य हूं तो मैं पीतल की झनझनाहट और करताल की खनखनाहट के समान हूं।

  —संत पाल (ईसा के सम-सामयिक)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चले नहीं कदम भर....!

● डा० सुधा गुप्ता
प्राध्यापिका—
राजकीय मीरा महाविद्यालय
उदयपुर (राजस्थान)

चले नहीं कदम भर
लेकिन थक गए पाँव !
तन से थकना कुछ और है
मन से थकना कुछ और ।

रह गया है आजकल
इतना ही चलन
एक-एक दूसरे का कुशलक्षेम
पूछ भर लेना——
और अलग-अलग
राह चल देना
तन से रिश्ता कुछ और है
मन में रिश्ता कुछ और ।

जो चले गए एकबार
लौट कर आए नहीं,
खोजती रही जल की सतह पर
लहरों पर अंकित नाम,
तन से भटकना कुछ और है
मन से भटकना कुछ और ।

टूट गए संकल्प सारे
गूंगे हो गए विश्वास
अंग-अंग में टूटन भरे
विवश उतर आई शाम
तन की पहचान कुछ और है
मन की पहचान कुछ और

चले नहीं कदम भर
लेकिन थक गए पाँव । ● ●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लघु कथा

नरक की बस

● मुनि श्री छत्रमल

कलह के अन्यान्य कारणों में विचारों और मान्यताओं का प्रतिपादन भी एक कारण होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों व मान्यताओं के प्रचार में स्वतन्त्र है, पर जब वह मिथ्या आग्रह में पड़ कर उन्हें दूसरों पर लादना चाहता है तो यह प्रवृत्ति उसके अपमान का कारण बन जाती है।

एक बस में एक महात्मा सफर कर रहे थे। उनकी बगल वाली सीट पर एक वातूनी सज्जन आ विराजे। साधु को छेड़ने की नीयत से बात शुरू की—"स्वर्ग क्या है ? मैं तो नहीं मानता कि स्वर्ग जैसी कोई चीज है।" महात्मा चुप रहे। इन्होंने फिर छेड़ा—"मुझे तो स्वर्ग जाने की जरा भी इच्छा नहीं। "महात्मा फिर भी चुप रहे। परन्तु वे सज्जन यों ही हार नहीं माननेवाले थे। फिर बोले—"मर कर तो क्या, अगर अभी मुझे कोई स्वर्ग जाने को कहे तो भी मना करदूँ।"

महात्मा से अब नहीं रहा गया। उन्होंने कहा —"तो आप नरक में जा सकते हैं ? यह बस न तो स्वर्ग की ओर जा रही है न नरक की ओर, आप अपनी बस में जाकर बैठिए।"

साधुजी की इस मीठी चुटकी से सारे यात्री खिलखिला उठे, और उस सज्जन ने कुछ झेंप से, कुछ अपमान जनित क्रोध से अपनी गर्दन नीची करली। मुझे ऐसा लगा-उनका सारा प्रयत्न तथागत बुद्ध के द्वारा कथित उस मूर्ख की दशा के अनुरूप था। "सभा में जब वे शास्त्रार्थ करते हैं, तब प्रशंसा लूटने की इच्छा से दूसरों पर वाग्बाणों का प्रहार करने लगते हैं। यदि बाद में वे हार जाते हैं तो मारे शर्म के मुँह छिपा लेते हैं। और जब उनकी निंदा होती है, तो क्रोध में आकर दूसरों के दोष ढूँढने लगते हैं।"

● ●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

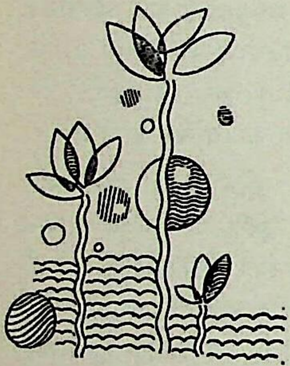

सब धर्मों का एक मंच : संभावना और उपाय

● मुनि श्री नेमिचन्द्र,

धर्मों की उत्पत्ति का कारण

जैन इतिहास की दृष्टि से आदिम मानवजाति यौगलिक (युगलिया) रूप में थी। उस समय जनता अत्यन्त सरल और उदार स्वभाव की थी। खाने, पीने, पहनने और रहने की समस्या पेड़ों, पत्तों, फूलों, फलों जलाशयों आदि से हल हो जाती थी। उनमें कभी परस्पर संघर्ष, झगड़ा या मन-मुटाव नहीं होता था। इसी कारण उस युग में धर्म स्थापना की कोई आवश्यकता नहीं पड़ी। उनमें से कोई भी हिंसा, झूठ, चोरी, बेईमानी, ठगी आदि का व्यवहार किसी के साथ नहीं करता था। इसलिए धर्म का पालन सहज रूप में हो ही जाता था। किन्तु जब भोगभूमि समाप्त होकर कर्मभूमि का युग प्रारम्भ हुआ, यौगलिक काल पूर्ण हो गया। इधर जनसंख्या बढ़ने लगी, उधर सबकी आवश्यकताएँ बढ़ गईं। इसलिए आवश्यकतापूर्ति के लिए परस्पर तू-तू मैं-मैं मचने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

... पं. कैलाश चंद्र जी शास्त्री ... वाराणसी

लगी। ऐसे समय में तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने धर्मस्थापना की। समाज की सारी व्यवस्था की, सारे वर्गों को अपना-अपना विशिष्टधर्म तथा समस्त आम जनता के लिए सामान्यधर्म के पालन की बात कही। जो व्यक्ति समाज की व्यवस्था तोड़ता, समाज में अपने दुष्कार्यों से अशान्ति फैलाता समाज की संस्कृति एवं नीति के विरुद्ध कार्य करता, उसके लिए दण्डव्यवस्था बनाई। निष्कर्ष यह है कि इसी प्रकार प्रत्येक धर्म, समाज में सुव्यवस्था सुखशान्ति और मानवतायुक्त नैतिक मर्यादाओं की स्थिरता के लिए पैदा हुआ। मानवजीवन को त्याग, वैराग्य, सहिष्णुता, बन्धुत्व और वात्सल्य के मार्ग पर ले जाने के लिये ही प्रत्येक धर्म की स्थापना हुई है। सभी धर्म मानवता से लेकर सर्वभूतमैत्री या आत्मौपम्य तक की बात को लेकर विभिन्न देश, काल और परिस्थितियों में आए हैं। धार्मिक विचारों और आचारों को लेकर ही प्रत्येक धर्म बना है। असल में ये सब धर्म हैं तो एक प्रकार के समाज (संघ) ही, किन्तु इनमें धर्मयुक्त विचार-आचार होने के कारण ये सब धर्म कहलाने लगे। आगे चल कर उर्दू भाषा में ये सब मजहब कहे जाने लगे।

धर्मों में आपस में भेद क्यों ?

सवाल यह होता है कि जब सभी धर्म पूर्वोक्त उद्देश्य को लेकर प्रचलित हुए हैं तो फिर इनमें परस्पर अन्तर क्यों ? और उस अन्तर को लेकर परस्पर विरोध, द्वेष और विवाद क्यों ? वास्तव में देखा जाय तो प्रत्येक धर्म के दो रूप होते हैं। एक उसका अन्तरंगरूप होता है, एक बाह्यरूप। अन्तरंगरूप को हम धर्म की आत्मा कह सकते हैं और बाह्यरूप को शरीर। अन्तरंगरूप में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, दया, मानवता, न्याय, नीति आदि धर्म के विविध अंगों का समावेश होता है और बाह्यरूप में धर्म के विविध क्रियाकाण्डों, उपासनाओं, साधनाओं, रीतिरिवाजों पर्वों, त्यौहारों, धर्माचरण के तोरतरीकों का अन्तर्भाव होता हैं। जहाँ तक धर्म के अन्तरंगरूप का सवाल है, प्रायः सभी धर्मों ने एक या दूसरे प्रकार से अहिंसा, सत्य, न्याय, नीति आदि धर्मांगों का पालन करने की बात कही है। यह बात दूसरी है कि एक धर्म ने किसी बात पर जोर दिया है, दूसरे धर्म ने दूसरी बात पर। परन्तु किसी भी धर्म ने यह नहीं कहा कि चोरी करो, झूठ बोलो, अन्याय करो, हिंसा करो आदि। मतलब यह है कि सभी धर्मों की आत्मा या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्तरंगरूप धर्मतत्त्व है। उसमें कोई विभेद या अन्तर नहीं। अन्तर है तो धर्मों के केवल बाह्यरूप में है।

और बाह्यरूपों में भी अन्तर किन्हीं कारणों को लेकर पैदा हुए हैं। चूंकि जितने भी धर्म हैं, वे विभिन्न देशों, विभिन्नकालों, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में पैदा हुए हैं। जैसे ईसाई धर्म झेरुसलम में पैदा हुआ है, इस्लामधर्म अरबस्तान में, वैदिकधर्म आर्यावर्त में, जैन और बौद्ध धर्म भी भारतवर्ष में पैदा हुए हैं। इनका उत्पत्तिकाल भी अलग-अलग रहा है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि जिसदेश में, जिसकाल में मनुष्यों के जो रीतिरिवाज, या संस्कार थे या जैसी उनकी प्रकृति थी, उनमें सुधार करने के लिए उन्हीं बातों पर संशोधन करने के लिए जोर दिया गया हो। जैसे डॉक्टर या वैद्य जैसा-जैसा जितनी मात्रा में जिसका रोग होता है, वैसी-वैसी और उतनी ही मात्रा में रोगी को दवा देता है। वैसे ही धर्मसंस्थापकों ने भी जैसी-जैसी और जितनी मात्रा में जहाँ बुराइयाँ थीं, वैसी-वैसी और उतनी ही मात्रा में वहाँ के निवासियों को धर्मरूप दवा देते हैं। वहाँ की जो वेशभूषा सुविधाजनक होती है, वैसी ही वेशभूषा अपने साधको और अनुगामियों के लिए विहित करते हैं और वहाँ की जनता की जो भाषा होती है, उसी में धर्म का उपदेश और मार्गदर्शन देते हैं। उदाहरण के तौर पर ईसामसीह ने झेरुसलम की जनता को लेटिन या हिब्रू भाषा में धर्मोपदेश दिया। वहाँ के लोगों में अन्यन्त स्वार्थभावना देखकर प्रेम और सेवा की प्रेरणा दी। हजरत मुहम्मद ने मक्का में अनेक देवीदेवों की पूजा और बुतपरस्ती देखकर उसे बंद करके एक मात्र ईश्वर पर विश्वास रखने की बात पर जोर दिया। अरबी भाषा में ही उनके उपदेश हुए। भगवान बुद्ध और भगवान महावीर ने अपने युग में यज्ञों में निर्दोष पशुवध तथा दास-दासी के क्रयविक्रय की भयंकर अमानुषिकप्रथा देख कर अहिंसा पर ज्यादा जोर दिया और पाली एवं प्राकृत भाषा में अपने उपदेश दिए। भगवान कृष्ण ने कर्मयोग और भक्तियोग पर ज्यादा जोर दिया। भगवान राम ने न्याय, नीति, कर्तव्यपालन और आर्यसंस्कारों को अपनाने पर बल दिया। मतलब यह है कि विभिन्न धर्म के महापुरुषों ने अपने-अपने देश, काल और परिस्थिति के अनुसार धर्म का बाह्यरूप बताया, इसलिए इन धर्मों में परस्पर अन्तर दिखाई देने लगा। अतः विभिन्न धर्मों के बाह्यरूपों में अन्तर के मूल कारण ये हो सकते हैं— (१) देशभेद, (२) कालभेद, (३) परिस्थितिभेद, (४) भाषाभेद, (५) वेशभूषाभेद, (६) पात्रों की योग्यता में भेद, (७) रुचिभेद, (८) परम्परागत संस्कारों की पृथक्ता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बाह्यरूपों में अन्तर के कारण झगड़ा व्यर्थ

प्रारम्भ मे सभी धर्म प्रायः समान उद्देश्य को लेकर चले हैं, देश कालादि के अनुसार उनके बाह्य आचारों में अन्तर जरूर रहा है। परन्तु उस बाह्य-आचार को ही धर्म का असली रूप मान कर विभिन्न धर्मावलम्बियों में अपने-अपने धर्म का आग्रह जोर पकड़ता गया। इसी आग्रह ने आगे चल कर अपनी जीवनशुद्धि के लक्ष्य को भुलाकर दूसरे धर्मों और धर्मानुयायियों के प्रति घृणा, द्वेष, वैर-विरोध और विग्रह का रूप ले लिया। यहीं आकर धर्म अधर्म बन गया। अपने धर्म के अहंकार के कारण मनुष्य धर्म के नाम पर (धर्मवृद्धि, धर्मानुगामियों की संख्यावृद्धि की चकाचोंध में पड़ कर) हिंसा झूठ, फरेब, वैरविरोध, द्वेष, परिग्रहवृद्धि, आडम्बर आदि अधर्मों को उत्तेजन देता गया। यही कारण है कि आगे चल कर एक धर्म या धर्मावलम्वी दूसरे धर्म या धर्मावलम्वी का शत्रु बन गया। उसे नीचा दिखाने और उसकी निन्दा करके लोगों में उसके प्रति घृणा फैलाने लगा। दूसरे धर्म सम्प्रदाय के व्यक्ति के प्रति वैर पैदा करने के लिए इन धर्म सम्प्रदायों ने काफिर, ऑर्थोडॉक्स, मिथ्यात्वी, नास्तिक, कुसंगी आदि शब्द गढ़ लिये। द्वेष की यह आग इतनी भयंकर रूप में फैली कि झेरुसलम के मैदान में कई वर्षों तक ईसाइयों और मुस्लिमों के जम कर क्रूजेडो (धर्मयुद्ध) हुए। परस्पर एक दूसरे का कत्ले आम करके खून की नदियाँ बहाई गईं। भारत में भी जैनों और शैवों और वैष्णवों का, बौद्धों और शैवों का तथा बौद्धों और जैनों का परस्पर भयानक संघर्ष हुआ। आगे चलकर यह द्वन्द्व हिन्दुओं और मुस्लिमों का केवल छोटी-छोटी बातों को लेकर खड़ा हो जाता। प्रायः सभी धर्मों में से पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय बने और उनमें भी परस्पर सिरफुटौवल होने लगी।

परन्तु सच पूछा जाय तो यह सब झगड़ा धर्मों के बाह्यरूपों के कारण पैदा हुए स्वत्वमोह (अहं) एवं कालमोह से प्रेरित होकर हुआ। वास्तव में इस झगड़े के मूल में ही अज्ञानता, मोह, अन्धविश्वास एवं नासमझी थी। अगर धर्मों के अन्तरंगरूप की ओर देखा जाय एवं बाह्यरूपों में विभेद के कारणों पर विचार किया जाय तो ये सब झगड़े व्यर्थ साबित हुए बिना न रहेंगे। कोई भी धर्म किसी दूसरे धर्म या धर्मस्थापक से वैर या द्वेष रखना नहीं सिखाता। सायर इकबाल ने सच ही कहा था—

'मजहब नहीं सिखाता आपस में वैर करना'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रियाकाण्ड, उपासना या साधना के विविध रूप तो धर्म तत्त्व के आचरण करने के लिए साधन हैं। साधनों की विभिन्नता को देखकर झगड़ा क्यों? जैसे रोटी भूख मिटाने के लिए एक साधन है, उसी तरह चावल, फल, दूध या अन्य खाद्य पदार्थ भी भूख मिटाने के लिए साधन हो सकते हैं। परन्तु कोई आग्रहवश यही कहै कि रोटी ही भूख मिटाने का साधन है, अन्य वस्तु नहीं; तो उसका कहना यथार्थ नहीं। इसी प्रकार पूजा, नमाज, भक्ति, सन्ध्या प्रतिक्रमण और प्रार्थना आदि साधन आत्मजागृति के लिए हैं। विविध धर्मावलम्वी यदि अपने-अपने साधन को लेकर आग्रह रखे और यह कहे कि अमुक साधन से ही आत्मजागृति हो सकती है, दूसरे से नहीं और दूसरे साधन अपनाने वालों से झगड़ा करें, उनकी निन्दा करें, उन्हें गाली दें या मारे पीटे तो व्यर्थ है। इसी तरह विभिन्न धर्म की क्रियाओं के वारे में भी समझ लेना चाहिए। विभिन्न धर्म की क्रियाओं का उद्देश्य भी ज्ञान-दर्शन-चारित्र द्वारा आत्मा को अपने रूप में स्थिर करना, शुद्ध वनाना है। परन्तु इस विषय में भी अपनी-मानी हुई या परम्परा से मिली हुई क्रियाएँ करे यह तो समझा जा सकता है; परन्तु अपनी ही क्रियाओं से आत्मस्वरूप में स्थिर हो सकता है, दूसरी से नहीं, ऐसा एकान्त आग्रह भी गलत है। जैसे रोटी तवे पर सेकी जा सकती है, तंदूर पर भी, अँगीठी पर भी और अँगारों पर भी। इस बारे में जैसे अपनी वात का एकान्त आग्रह गलत है, वैसे ही किसी धर्म की क्रिया का एकान्त आग्रह करके दूसरी क्रिया वाले से झगड़ा कर उसे झूठा वताए, यह गलत है। और इन साधन और क्रियाओं के विभेद को लेकर दूसरे धर्म के साधनों और क्रियाओं को अपनाने वालों के प्रति घृणा फैलाना, उन्हें मारना पीटना तो और भी खराब है।

इसी कारण जो धर्म सबको परस्पर जोड़ने वाले थे, एक ध्येय के नीचे लाने वाले थे, वे ही आज तोड़ने वाले, सिरफुटौव्वल कराने वाले, वैर-विरोध घृणा-द्वेष बढ़ाने वाले वन जाए। जैन-दर्शन का अनेकान्तवाद बाह्यरूप से क्रियाकाण्डों व आचारों की अनेकता के कारण अलग-अलग दिखाई देने वाले विभिन्न धर्मों को जोड़ने वाला है, वह विरोध दूर करके उन-उन धर्मों के उस-उस दृष्टिकोण को वताकर उनमें समन्वय, मेलजोल और सहिष्णुता स्थापित करता है। जैसे भाषाभेद के कारण 'वेलकम्, स्वागतम् भले पधारो' कहकर परस्पर विवाद करने वाले विभिन्न भाषाभाषी लोगों को समझदार आदमी उनकी भूल समझा कर परस्पर समन्वय स्थापित कर देता है, वैसे ही अनेकान्तवाद विभिन्न धर्मों के पृथक्-पृथक् वाह्य रूपों का दृष्टिकोण समझा कर उनमें समन्वय, सामञ्जस्य और मेल स्थापित कर देता है। जैन-धर्म का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहना है—विभिन्न धर्मों में रहे हुए सत्य को ग्रहण करो। **'सच्चंमि धिइं कुव्वहा'** अपनी बुद्धि को सत्य में स्थिर करो।"

विभिन्न धर्मों के उच्च साधकों की वेशभूषा अलग-अलग देखकर उनके प्रति घृणा या द्वेष और अपने माने हुए साधकवेष के प्रति मोह या अतिराग मत करो। ये दोनों ही गलत चीजें हैं। अपने माने हुए धर्म के प्रति मोह अहंकार या मिथ्याभिनिवेश झूठा है। इसी प्रकार अपने माने हुए क्रियाकाण्डों या साधनों के सिवाय दूसरे धर्मों के क्रियाकाण्डों या साधनों को सर्वथा मिथ्या बताना भी यथार्थ नहीं। क्योंकि सारा सत्य तुम्हारे धर्म के क्रियाकाण्डों या साधनों में ही नहीं समा गया है। स्वत्वमोह की तरह प्राचीनता का मोह भी झूठा है। कोई भी धर्म प्राचीन होने के कारण ही अच्छा और सच्चा हो, ऐसा एकान्त नहीं होता। पाप भी कम प्राचीन नहीं है, फिर भी उसे कोई अच्छा या उपादेय नहीं कहता। यह तो संयोग और परिस्थिति पर निर्भर है कि कौन-सा धर्म पहले हुआ, कौन-सा बाद में। जैन धर्म के तीर्थंकरों ने तो अपने अपने युग में पूर्व तीर्थंकरों द्वारा बताए गए धर्म के बाह्यरूपों में बहुत संशोधन परिवर्धन एवं परिवर्तन किया है। फिर भी उन्होंने पूर्व तीर्थंकरों द्वारा प्रज्ञप्त क्रियाकाण्डों या साधनों को मिथ्या या खराब नहीं कहा। इसी प्रकार हमें भी धर्मों के बाह्य रूपों में अन्तर देखकर न तो घबराना चाहिए न दूर भागना चाहिए और न घृणा करनी चाहिए; बल्कि उनमें देश, काल, भाषा और परिस्थिति की दृष्टि से समन्वय स्थापित करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

धर्मों के द्वन्द्वों से हानि; समन्वय से लाभ

धर्मों की पूर्वोक्त कारणों से विभिन्नता या अनेकरूपता के कारण परस्पर संघर्ष, द्वेष, वैर विरोध, घृणा, निन्दा और झगड़ा करने से तो हानि ही हानि है। एक तो इससे विभिन्न धर्मों वाले अपनी शक्ति केवल आपसी झगड़ों में खर्च करने के साथ धन, जन और समय का बहुत बड़ा अपव्यय करते रहेंगे। उनको मानसिक शक्ति भी प्राप्त करनी कठिन होगी। दूसरे, विभिन्न धर्मों वालों के परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, वैर विरोध से परस्पर असहयोग ही बढ़ेगा। जबकि विभिन्न धर्मों वाले परस्पर स्नेह भ्रातृत्व और सहयोग से बड़े से बड़ा भगीरथ कार्य थोड़े-से समय में कर सकते थे, जिसे बिखरे और अनमने रह कर कभी नहीं कर सकते।

तीसरे, विभिन्न धर्म वालों में परस्पर रागद्वेष, घृणा, वैर विरोध से अशुभ कर्म बन्धन होते हैं, जिनका कटुफल भोगना पड़ता है। मनुष्यगति या देवगति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो दूर रही, ऐसे व्यक्तियों को कलुष कर्म के फलस्वरूप तिर्यञ्चगति या नरक गति का मेहमान बनना पड़ता है । औरंगजेब की मजहबी कट्टरता ने जो बलात् धर्म परिवर्तन कराए या लाखों मनुष्यों को मौत के घाट उतारे क्या ऐसा व्यक्ति सद्गति का अधिकारी हो सकता है ? यह धर्म की सेवा नहीं, कुसेवा है, चौथे, धार्मिक कट्टरता या मिथ्याआग्रह दूसरे धर्मों में रहे हुए सत्य को ग्रहण नहीं करने देते । ऐसा मनुष्य सत्य से वञ्चित रहता है, असत्य को ही सत्य मानकर मतमोही और मतान्ध बन जाता है । पांचवें, धार्मिक कानून से मानवता भी खत्म हो जाती है । वह प्राणिमात्र तो दूर रहा, मजहबी दीवारें खींच कर अपने माने हुए धर्म सम्प्रदाय से भिन्न धर्म सम्प्रदाय के मानवों के प्रति दया, सेवा, सहानुभूति और मानवता का व्यवहार प्रायः नहीं कर पाता । छठे, कभी-कभी मजहबी दीवाना व्यक्ति लोगों को धर्म झानूनी बनाकर 'धर्म खतरे में है' का नारा लगाकर अपना राजनैतिक स्वार्थ सिद्ध करता है । उसे धर्म के आचरण से कोई मतलब नहीं होता, और न अपने धर्म के लोगों की वास्तविक सेवा से ही वास्ता है । उसे तो चुनाव में जीतना है, एम० एल० ए० या एम० पी० की कुर्सी प्राप्त करनी है । उसे अपने जीवन में धर्म को रमाने से कोई मतलब नहीं । ऐसे धर्माभास लोगों में धर्मावलम्बियों की संख्या बढ़ाने और अपने राजनैतिक स्वार्थ सिद्ध करने की ही धुन होती है । यह बहुत बड़ा नुकसान है, जीवन का ।

सर्व धर्म समन्वय से सबसे बड़ा लाभ तो यह है कि दूसरे धर्म वालों की सहानुभूति, सहयोग या मैत्री मिलती है, इससे बड़े से बड़ा सत्कर्म एकजुट होकर अल्प समय में किया जा सकता है । दूसरा लाभ है—आत्मशान्ति, सत्यता और सहिष्णुता की प्राप्ति; जिसके फलस्वरूप रागद्वेष-मोह दूर होने से धर्मतत्त्व के आचरण का अवसर मिलता है । तीसरा लाभ है—विभिन्न धर्म वालों में परस्पर विश्वास बढ़ता है । तथा कभी किसी धर्मवाला अपने धर्म के मूल सिद्धान्तों से च्युत होकर अधर्म की ओर बढ़ रहा हो तो उसे उस धर्म के शास्त्रों द्वारा समझा कर सत्पथ पर लाया जा सकता है । चौथा लाभ है—धर्म का उद्देश्य इससे पूर्ण होता है । दूसरे धर्मों में रही हुई अच्छाइयों, सत्यों और सद्गुणों को वह ग्रहण कर सकता है । जीवन में मानवता का दृष्टिकोण पनप जाता है । जिससे मानवमात्र ही नहीं, प्राणिमात्र तक की वह सेवा कर सकता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्व धर्म समन्वय कैसे हो ?

अब सवाल यह है कि विभिन्न धर्मों का समन्वय कैसे स्थापित हो ? इससे भी आगे बढ़ कर यों कह सकते हैं कि सभी धर्मों का एक मंच कैसे बने ? मनुष्य की दृष्टि सब धर्मों को आत्मीय मानने लगे और सब धर्मों का एक परिवार मान लिया जाय तो यह कार्य जरा भी कठिन नहीं है। इसमें केवल दृष्टि बदलनी है। जो दृष्टि अभी तक संकीर्ण सम्प्रदायाभिनिवेश से ग्रस्त, पूर्वग्रह से व्याप्त और स्वत्वमोह-कालमोह से घिरी हुई थी, उसे उदार, विशाल, सहिष्णु, समन्वयात्मिका और वात्सल्यमयी बनानी है।

जब व्यक्ति सभी धर्मों का एक परिवार मानकर अपने को उस वृहत् परिवार का एक अंग मानने लगेगा तो अपने धर्म में आई हुई विकृतियों का संशोधन करने का अधिकार है, वैसे ही दूसरे धर्मों में आई हुई विकृतियों का भी संशोधन का अधिकारी हो जायेगा। उन-उन धर्मों में आए हुए दोष को वह अपना दोष मान कर उसकी शुद्धि करने के लिए तत्पर रहेगा। जैसे अपने परिवार के ही चाचा ताऊ को मनुष्य चाचा ताऊ नहीं कहता, पड़ौसी एवं स्नेहीजन के चाचा, ताऊ आदि को चाचा-ताऊ आदि कहता है उसी प्रकार अपने धर्म के संस्थापक को अगर वह पिता मानता है तो दूसरे धर्म के संस्थापकों को भी चाचा, ताऊ आदि मानने में नहीं हिचकेगा। उन-उन धर्म संस्थापकों के प्रति उसका आदरभाव होगा। इस प्रकार सभी धर्मों में परस्पर स्नेह सद्भावना और सहयोग होगा। परस्पर मेलजोल होने से विपत्ति आने पर वे एकजुट होकर उसे दूर करेंगे।

सब धर्मों के एक मंच की कुछ व्यावहारिक बातें

जब सब धर्मों में आपसी मेलजोल बढ़ जाय तो वे निम्नोक्त व्यवहार से उस मंच को स्थायी और सुदृढ़ बनाऐंगे।

(१) विभिन्न धर्मों वाले एक-दूसरे के त्योहारों और पर्वों में शामिल हों, एक दूसरे के उत्सवों में या खुशी गमी के मौके पर भी शरीक हों।

(२) जिस-जिस धर्म के त्यौहार में शामिल हों उस-उस धर्म के परिभाषिक शब्दों में ही बोलें, समझें और अपने धर्म से उसका मिलान करें।

(३) गले से गला लगाकर पर्वादि के समय मिलें। अपने स्नेह में वृद्धि करें। एक मानवजाति की दृष्टि से दूसरे धर्म वाले को भी उसका अंग समझे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और खुद को भी। धर्म सम्प्रदाय की दृष्टि से दूसरे का नापतौल या मूल्यांकन न करें।

(४) एक दूसरे के साथ दुःख, संकट और आफत के समय हमदर्दी रखें। दुःख पीड़ित को आश्वासन दें। उसके संकट को दूर करने के लिए भरसक प्रयत्न करें। मानव सेवा को भगवान् की सेवा समझ कर करें।

(५) धार्मिक कानून या मजहबी कट्टरता भरने वालों या साम्प्रदायिकता की शराब पिला कर उन्मत्त बनाने वालों से दूर रहें। ऐसे लोगों को साफ-साफ सुना दें। और ऐसे साम्प्रदायिकता के उन्माद वाले समारोहों में स्वयं शरीक न हों, न दूसरे सम्प्रदायों या धर्मों का मिथ्या खण्डन करें, न झूठी निन्दा, घृणा या द्वेष ही करें, न दूसरे धर्म-सम्प्रदाय वालों पर व्यर्थ की कीचड़ उछालें। अगर किसी धर्म वाले में कोई धर्म विरुद्ध बात हो तो उसे प्रेम सहानुभूति और धैर्य से उचित अवसर पर कहें, समझाएँ और उसके दोष को दूर कराने के लिए प्रयत्न करें। कोरी नुक्ताचीनी न करें।

(६) किसी भी व्यक्ति को धर्मान्तर या सम्प्रदायान्तर न करावें, न खुद ही भय या लोभ के वशीभूत होकर धर्म या सम्प्रदाय का परिवर्तन करें। क्योंकि धर्म परिवर्तन करने-कराने से धर्मों का पारस्परिक विश्वास उठ जाता है। जिसे जो धर्म या सम्प्रदाय परम्परा से प्राप्त है, उसे उसी धर्म या सम्प्रदाय में रहना या रखना चाहिए। अगर उसे किसी धर्म के गुणों के प्रति आकर्षण है तो वह उस धर्म के गुणों को जरूर अपनाए, पर धर्मान्तर न करें।

सब धर्मों का एक मंच हो जाने पर....

हमारे सामने मानव समाज के अगणित प्रश्न बिना हल किए पड़े हैं, बहुत-सी अटपटी समस्याएँ बिना सुलझी हुई मुँह बाए खड़ी हैं, सब धर्मों का एक मंच हो जाने पर सभी धर्मों वाले एकमत और एकजुट होकर जुट पड़ें तो अल्प समय में ही वे प्रश्न हल हो सकते हैं और वे समस्याएँ सुलझ सकती हैं। इसके लिए समय-समय पर सर्व धर्म-समन्वयी लोग मीटिंगों के रूप में परस्पर मिलें, परस्पर चर्चाएँ और विचार-विनिमय करें। उसके पश्चात् सर्व-मान्य, सर्वहितकर और विश्व सुख शान्तिकर कुछ कार्यक्रम बना कर उन कार्यक्रमों के जरिए समग्र मानव समाज की सेवा करें। नीचे कुछ सर्व धर्म-मान्य कार्यक्रम सुझाए जा रहे हैं—

(१) मानव जीवन के सभी क्षेत्रों में अहिंसा के सामूहिक रूप से विविध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रयोग करने जरूरी हैं। महात्मा गाँधीजी ने कुछ प्रयोग किए थे; मुनि श्री संतबालजी के निमित्त गुजरात में भी अहिंसा के सामूहिक प्रयोग हुए हैं और हो रहे हैं। सभी धर्म अहिंसा को तो मानते ही हैं। इसलिए अहिंसा के सामूहिक प्रयोग करने में किसी भी धर्म की दो राय नहीं हो सकती।

(२) मानव समाज में व्याप्त गरीबी, बेकारी, और बेरोजगारी मिटाने में सभी धर्म एकमत हैं। अतः इसके लिए सामूहिक प्रयत्न हो।

(३) सभी धर्म शराब, मांसाहार, व्यभिचार, जुआ, चोरी, बेईमानी आदि बुराइयों को दूर करने की बात कहते हैं। अतः इन बुराइयों के खिलाफ सभी धर्म वाले मिलकर प्रयत्न करें।

(४) सभी धर्म युद्धों, कलहों एवं युद्ध तथा संघर्ष के कारण सैन्य और शस्त्रास्त्र में वृद्धि के खिलाफ हैं, क्योंकि इससे विश्व शान्ति को खतरा है। अतः सभी धर्म वाले मिलकर एक स्वर से युद्धों, कलहों, पारस्परिक विवादों, अणु अस्त्र प्रयोगों, सेना एवं शस्त्रास्त्र संसार में वृद्धि का सदा के लिए अन्त करने की आवाज उठाएँ और विश्व में शान्ति स्थापित करें।

(५) सभी धर्म राष्ट्र में होने वाले दंगों, उपद्रवों, तोड़फोड़, अग्निकाण्ड, हत्याकाण्ड आदि के खिलाफ हैं। इसलिए सभी धर्म वाले एक मंच से इनका विरोध करें।

(६) बाढ़, भूकम्प, सूखा, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी आदि प्राकृतिक संकटों के समय सभी धर्म इन्सानियत की बात कहते हैं। अतः ऐसे समय में सभी धर्म वाले इन्सानियत के नाते एकजुट होकर संकट निवारण करने लगें।

(७) सभी धर्म धर्मतत्त्वों की दृष्टि से मानव समाज के जीवन का निर्माण करना चाहते हैं, मानव को वे अहिंसक, सदाचारी, सुसंस्कारी, नम्र एवं धर्म-परायण बनाना चाहते हैं। अतः सभी धर्म वाले मिलकर समाज को योग्यता-नुसार विविध इकाइयों में संगठित एवं परस्पर धर्मानुबन्धित करके पूर्वोक्त प्रकार से धर्म परायण बनाएँ।

इस प्रकार के और भी सर्वधर्ममान्य कार्यक्रम सोचे जा सकते हैं। ऐसे सार्वजनिक कार्यक्रमों से सभी धर्म विश्व में शान्ति, सुव्यवस्था और सुख-वृद्धि स्थापित करके धर्म स्थापना के वास्तविक उद्देश्य को पूर्ण कर सकते हैं।

सब धर्मों का एक मंच अब असम्भव नहीं

महात्मा गांधीजी ने हमारे राष्ट्र में सर्वधर्म समन्वय की एक लहर पैदा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर दी है। उन्होंने सर्व धर्मप्रार्थना करके और सभी धर्म लोगों को अपनाकर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-संग्राम में सभी धर्म से लोगों में भ्रातृत्व पैदा करके सहयोग लेकर सर्व धर्म समन्वय सक्रिय रूप से सींच कर दिखाया है। इसलिए वर्तमान युग में सब धर्मों का एक मंच होना कोई कठिन बात नहीं है। पुरानी रूढ़ एवं अहितकर मान्यताएँ टूट रही हैं, पुराने राष्ट्र घातक, समाज घातक आग्रह खत्म हो रहे हैं, पुराने गलत मूल्य बदल रहे हैं, पुरानी गली-सड़ी धर्म विरुद्ध आस्थाएँ, मानवता विरुद्ध परम्पराएँ और अन्धश्रद्धापूर्ण मान्यताएँ भी लद रही हैं। ऐसे समय में नए मूल्य, नई आस्थाओ और नई सर्व धर्ममान्य परम्पराओं में अपने को फिट करके हमें सब धर्मों का एक सर्वहितकरी मंच बनाना चाहिए। वही मानवजीवन की सुखशान्ति, सफलता और सुव्यवस्था के लिए उपयोगी रहेगा।

●●

विचार कण

●●

है धर्म पहुंचना नहीं,
धर्म तो जीवनभर चलने में हैं।
फैला कर पथ पर स्निग्ध ज्योति
दीपक समान जलने में हैं।

—दिनकर (रश्मिरथी)

●

वाणी का वर्चस्व रजत है,
किंतु मौन कंचन है।

—दिनकर (उर्वशी)

●

शांति कहाँ, तब तक जब तक
सुख भाग न नर का सम हो।
नहीं किसी को वहुत अधिक हो,
नहीं किसी को कम हो।

— दिनकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मा के लिए नीरोग शरीर, मणि के लिए स्वर्ण कंगन दूध के लिए शुद्ध वर्तन और विद्युत तरंगों को प्रवाहित करने ऊपर का तार जितना आवश्यक है, धर्म के लिए शुद्ध संप्रदाय भी उतना ही आवश्यक है, संप्रदाय बुरा नहीं, हेय नहीं हैं, हेय है... ....

● श्री सुदर्शन सिंह

धर्म और सम्प्रदाय

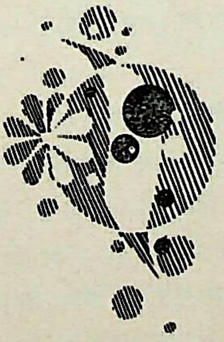

धारणाद् धर्ममित्याहु धर्मो धारयति प्रजाः।
यत्स्यात् धारणासंयुक्तं स धर्म इति कथ्यते ।।

—महाभारत

धृञ्धारणपोषणयोः यह धर्म-शब्द की व्युत्पत्ति है। 'धृञ्' धातु का अर्थ है धारण करना तथा पोषण करना। इसी धातु से "धर्म" शब्द बना है अतः धर्म का अर्थ है धारण करने वाला— "धार्यत इति धर्मः।" यह धारण तथा पोषण करना कहाँ तक ?

यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः जिससे इस लोक में उन्नति हो तथा परलोक में कल्याण हो, वह धर्म कहलाता है। इसका अर्थ हुआ कि लोक तथा परलोक दोनों को जो धारण करें वह धर्म है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्म से मनुष्य महान् है

अग्नि का धर्म है उष्णता। उष्णता ही अग्नि के अग्नित्व को धारण करती है। अग्नि में उष्णता न रहे तो वह भस्म होगी, अग्नि नहीं रहेगी। इसी प्रकार मनुष्य में धर्म न हो तो द्विपाद होकर भी वह पशु या पिशाच भले हो, मनुष्य नहीं कहला सकता। भगवान् व्यास ने कहा है :—

नहि मनुष्यात् परतरं हि किंचित्

मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ नहीं है। विश्वकवि ने इसी स्वर में स्वर मिलाया :—**सर्वोपरि मानुष। मानुषोपरि नाहि।**

लेकिन मनुष्य सर्वोपरि क्यों है? तड़क-भड़क वाले वस्त्र पहिनने के कारण? ऊँचे महलों में रहने के कारण? मोटर या हवाई जहाज में घूमने के कारण अथवा शीघ्र से शीघ्र अधिक से अधिक प्राणियों के संहार के नवीन-नवीन उपायों को खोज निकालने के कारण?

देखिए, मनुष्य की बुद्धिमत्ता की डींग मत हांकिए! मनुष्य की बुद्धि ने जितना अनर्थ किया है और कर सकती है, उतना कोई पशु-पक्षी न कर सका न कर सकता है। योजना-पूर्वक विश्व-संहार के शस्त्र पशु नहीं बना सकता। पशु अपने आहार के लिए हिंसा भले करे, पाल-पाल कर पशु-पक्षियों को पेट में पहुंचाने की नृशंसता वह नहीं करता।

अच्छा, इसे भी छोड़िए। जंगल में केवल कोपीन लगाने वाली, पेड़ों पर रहने वाली जो जातियाँ हैं, उन्हें आप मनुष्य मानते हैं या कुछ और? हाथी, कुत्ते, घोड़े, कबूतर, चींटियां अनेक बार इतनी सूझ-बूझ का काम करते देखे गये हैं कि अनेक मनुष्यों में उतनी समझदारी नहीं होती। इसलिए बुद्धि के कारण मनुष्य श्रेष्ठ है, यह बात ठीक नहीं और न भगवान व्यास अथवा विश्वकवि ने ही मनुष्य होने के कारण पक्षपातपूर्वक मनुष्य को श्रेष्ठता का पदक दिया है।

मनुष्य श्रेष्ठ है धर्म के कारण। धर्माधर्म-कर्तव्य अकर्तव्य का विचार, मरण के पश्चात् भी जीव की सत्ता की मान्यता तथा ईश्वरानुभूति की क्षमता केवल मनुष्य में है। इसीलिए मनुष्य श्रेष्ठ है।

प्रकृति ने ऊर्ध्वस्रोत, तिर्यक्स्रोत तथा अधःस्रोत—ये तीन प्रकार के प्राणी बनाये हैं। वृक्ष ऊर्ध्वस्रोत है। उनका रस मूल से ऊपर जाता है। इसका अर्थ है कि वे विकासोन्मुख है। पशु-पक्षी प्रभृति तिर्यक्स्रोत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। उनका शरीर भूमि के समानान्तरप्राय रहता है। उनका आहार मुख से तिर्यक् टेढ़ा चलता है। मनुष्य अवाक् 'अधः' स्रोत प्राणी है। उसका आहार ऊपर से नीचे जाता है। इसका तात्पर्य है कि प्रकृति से प्रवाह में विकास की अन्तिम सीमा पर मनुष्य पहुंच गया। प्रकृति का चक्र जहाँ तक उठा सकता था, उठा चुका। अब वह स्वतः प्रयत्न से प्रकृति-प्रवाह से पार न हो जाय, जन्म-मरण से मुक्त न हो जाय तो अवाक् गति के द्वार पर पहुंच गया है। यही जीवन इस प्रकृति-प्रवाह से मुक्त होने का द्वार है, इसलिए यह सर्व श्रेष्ठ है।

धर्म सहज सिद्ध है

मनुष्य के इस जीवन में सहज-सिद्ध, सहज स्वभाव धर्म है। अधर्म तो मनुष्य की विकृति है। अधर्म पर निष्ठा रखकर उसका आचरण कोई कर नहीं सकता। हिंसा की बात छोड़िए। क्योंकि हिंसा का व्रत लेंगे तो फाँसी का तख्ता दो चार दिन में ही दीखने लगेगा। चोरी भी कारागार में बन्द करा देगी। लेकिन असत्य के विषय में ही सोच देखिए। आप सत्य नहीं बोलने का व्रत लें तो कितने समय उसका निर्वाह कर सकेंगे? अपना नाम, अपने पिता का नाम, स्थान, व्यवसाय तथा प्रत्येक जानकारी आपको मिथ्या बतलानी पड़ेगी तो कितने दिन आप कारागार से बाहर रह सकेंगे? समाज में कितने समय आपका निर्वाह सम्भव होगा?

असत्य का निर्वाह ही सत्य के सहारे होता है। धर्म की आड़ लेकर ही अधर्म जी पाता है। वह स्वयं जीवित रहने में भी समर्थ नहीं है। उसका अवलम्बन करने वाला डूबेगा, नष्ट होगा।

धर्म मनुष्य का सहज स्वभाव है। सत्य बोलने के लिए, अहिंसा-अस्तेय का पालन करने के लिए, परोपकारादि धर्म के लिए कोई योजना, कोई बुद्धिपूर्वक चिन्तन नहीं करना पड़ता, यथार्थ का पालन करना होता है। धर्म का पालन शक्ति देता है, सत्तावान बनाता है। लोक-परलोक में उन्नत करता है। जैसे स्वास्थ्य के नियमों का पालन शरीर के लिए है, वैसे ही संयम का पालन मन के लिए है।

"धर्म की दासता से मुक्ति की बात आज के प्रगतिशील लोग बड़े गर्व से करते हैं, किन्तु इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ है—मन-इंद्रियों की दासता की स्वीकृति। यह स्वीकृति विनाश की ओर ले जाती है। संयम की दासता से मुक्ति लेकर मनमाना आहार-विहार करने वाला रोगों तथा मृत्यु का शिकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बनता है। इसी प्रकार धर्म की दासता से मुक्ति का अर्थ मन-इन्द्रिय की दासता है और उसका फल है रोग, शोक, अशांति। स्वतंत्र वह है जो मन-इन्द्रिय का स्वामी है, जो धर्म को अपना मार्ग दर्शक बनाकर चलता है, क्योंकि जीवन एवं मनुष्यता का धारणकर्ता धर्म उसका आधार है। स्वास्थ्य जीवन एवं शांत मन उसके स्वत्व है।

धर्म एक ही है

मुझे हंसी आती है 'विश्वधर्मपरिषद्' या 'विश्व धर्म सम्मेलन' की बात सुनकर। जैसे मनुष्य एक प्राणी नहीं, पशु या पक्षी के समान वर्ग है और उसमें बहुत-से प्राणी हैं कि उनके बहुत-से धर्म होंगे ? "विश्वधर्म का क्या अर्थ ? आप मनुष्य, पशु, पक्षी तथा पदार्थादि सबके प्रतिनिधि एकत्र करके उनके धर्मों की विवेचना करना चाहते हैं ? ऐसा नहीं है तो मनुष्य तो एक प्राणी है। एक प्राणी के दो-चार या दस-बीस धर्म हो कैसे सकते हैं ?

मानव धर्म :—मनुष्य का धर्म और मनुष्य शाश्वत, सनातन है, अतः मनुष्य का धर्म भी शाश्वत, सनातन है। वह सनातनधर्म ही एकमात्र है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि जो धर्म के दस लक्षण मनु ने गिनाए हैं, इनका अपवाद मिला है कहीं आपको ? कोई धर्माचार्य झूठ, चोरी, हत्या को धर्म कहता है ? ऐसा तो नहीं है। तब एक ही उपदेश देने वाले अनेक लोगों को आप पृथक-पृथक धर्मों का प्रवर्तक क्यों कहते हैं ?

देखिए—मनुष्य धर्म के अनिवार्य रूप से ये लणक्ष हैं :—

१—उसमें सब मनुष्यों को उनकी वर्तमान स्थिति में ही उनकी रुचि-शक्ति-क्षमता के अनुसार मनुष्य जीवन के परम लक्ष्य जन्म-मरण से मुक्त होने का साधन देने की क्षमता होनी चाहिए।

२—जो जहाँ है, वह वहीं से अपने इस लोक में उन्नति तथा परलोक में कल्याण का साधन प्राप्त कर सके, ऐसी उसमें शक्ति हो।

सनातन धर्म ही एक ऐसा धर्म है, जिसमें मनुष्य की रुचि, स्थिति तथा अधिकार-भेद को स्वीकार करके साधन-भेद, आचार-भेद की व्यवस्था है। मनुष्य सनातन प्राणी है, अतः उसका धर्म भी सनातन ही है।

सम्प्रदाय

"सम्यक् प्रदीयत इति सम्प्रदाय :" गुरु परम्परा से जो सम्यक् रूप से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चला आ रहा है और गुरु जिसमें शिष्य को सम्यक् रूप से मन्त्र, आराध्य, आराधना-पद्धति तथा आचार-पद्धतिप्रदाय करता है, उसका नाम सम्प्रदाय है।

सम्प्रदाय का अर्थ सीधे शब्दों में है—धर्म का पथ-विशेष। एक सम्प्रदाय साधक को—अनुयायी को एक पथ प्रदान करता है, जिस पर चलकर वह धर्म के द्वारा निर्दिष्ट लक्ष्य तक पहुंच सके। एक ग्रन्थ, एक उपासना, एक आचार-पद्धति जहाँ भी प्रचलित है। जहाँ भी कहा जाता है—कल्याण का यही मार्ग है, वह सम्प्रदाय है।

सम्प्रदाय-शब्द न संकीर्णतायुक्त है और न हेय है। यह तो विवेकहीन लोगों की एक लम्बी परम्परा ने इस शब्द के प्रति लोक में अरुचि उत्पन्न कर दी। "इस साधन एवं मार्ग के अतिरिक्त मनुष्य का कल्याण सम्भव ही नहीं। दूसरे सब मार्ग भ्रान्त, हेय तथा त्याज्य है।" यह मिथ्या भ्रम, अहंकार एवं अविवेक के कारण पुष्ट हुआ और उसने इस शब्द के प्रति उपेक्षा उत्पन्न कर दी। साम्प्रदायिक का अर्थ ही संकीर्ण मोनवृत्ति का व्यक्ति माना जाने लगा।

"हमारा मार्ग सर्वथा ठीक है। हमारा मन्त्र, ग्रन्थ, गुरु, उपासना, आचार त्रुटिरहित है। हमारे लिये वही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।" यह निष्ठा आवश्यक है, किन्तु इस निष्ठा के साथ दूसरे मार्गों, मन्त्रों, ग्रंथों, गुरुओं, उपासना एवं आचार-पद्धतियों से द्वेष अथवा घृणा नहीं होनी चाहिए। उनके अनुयायी भ्रान्त ही है, यह धारणा अज्ञानमूलक है। वे मार्ग उनके लिये ठीक होंगे, यह उदारता धार्मिक पुरुष में अनिवार्य रूप से अपेक्षित है।

साम्प्रदायिक का ठीक अर्थ है—साधन-पथारूढ़। जो धर्म के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है, उसे कोई-न-कोई पथ तो अपनाना ही होगा। लक्ष्य तक जाना है तो रास्ता पकड़ कर चलना होगा। यह दूसरी बात है कि आपका रास्ता वहाँ से प्रारम्भ होगा जहाँ आप खड़े हैं। आपके अधिकार के अनुसार आपका साधन-सम्प्रदाय होना चाहिये। लेकिन सम्प्रदाय के विना तो साधन नहीं है। मार्ग के बिना तो लक्ष्य तक गति नहीं है।

धर्म तो सार्वभौम वस्तु है। वह तो भूमि है, जिस पर नाना पथ है। सब पथ भूमि पर है। अतः धर्म का मूल रूप सब सम्प्रदायों में स्वीकृत है, लेकिन पथों की अपनी विशेषताएँ हैं। चलनेवाले के अधिकार के अनुसार हैं ये पथ।

शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर, वैष्णव, बौद्ध, जैन, सिक्ख आदि ही सम्प्रदाय नहीं है। आज जिन्हें भ्रमवश धर्म का नाम दिया जाता है, वे यहूदी, ईसाई,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस्लाम, पारसी आदि भी सम्प्रदाय ही हैं, क्योंकि ये भी लक्ष्य तक पहुंचानेवाले पथ हैं। इनमें एक साधन, एक आचार-पद्धति प्रदान की जाती है। इनको सम्प्रदाय स्वीकार करके आप विश्व-सम्प्रदाय-सम्मेलन बुलायें या विश्व सम्प्रदाय-परिषद् गठन करें, इसमें किसी को भला क्या आपत्ति हो सकती है ?

सम्प्रदाय पथ है, भूमि नहीं। अतः उनका इतिहास है। वे बनते, बदलते और मिटते रहते हैं। महापुरुष नूतन पथ का निर्माण सदा से करते रहे हैं और करते रहेंगे। लेकिन भूमि तो धर्म ही है। उसके बदलने या नष्ट होने का अर्थ है प्रलय। धारण करनेवाले तत्त्व का नाम धर्म है। वह नहीं रहेगा तो मनुष्यता मर जायगी। वह तो नित्य है सत्य है। इसीलिये "धर्म" सनातन है।

●●

★★

- दुनियावी आदमी की आँखें या तो संतोष से भर सकती हैं, या कब्र की मिट्टी से।

—शेखसादी

- जब तब झगड़े का सामान देखो तो खामोश हो जाओ! खामोश-मिजाज झगड़े का फाटक बंद कर देता है। तेज तलवार नरम रेशम को हरगिज नहीं काट सकती।

—शेखसादी

- धनी और कंगाल के बीच का अन्तर कितना नगण्य है। एक ही दिन की क्षुधा या एक ही घंटे की प्यास दोनों को समान बना देती है।

—खलील जिब्रान (सीरिया ई० १८८३)

★★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाज यदि दूध है तो व्यक्ति उसमें शक्कर है, जो अपना सर्वस्व समाज को समर्पित कर उसके तेज की अभिवृद्धि करता है।

व्यष्टि से समष्टि की ओर

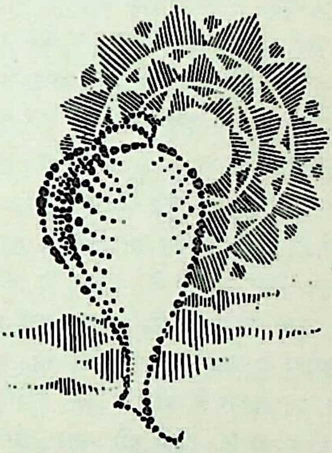

विजयमुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

भारतीय दर्शन का चिन्तन एक तलस्पर्शी चिन्तन रहा है, उसमें अनेक प्रकार के दृष्टिकोणों का समन्वय होता रहा है। भारतीय दर्शन, भारतीय धर्म और भारतीय संस्कृति मानव जीवन को केन्द्र बनाकर इधर-उधर घूमती रही है। धर्म, दर्शन और संस्कृति तथा विज्ञान और कला इन सभी का मूल केन्द्र मानव जीवन रहा है। समाज अथवा संघ अपने आपमें निश्चित ही एक बड़ी शक्ति है, फिर भी यह सत्य है कि समाज और संघ का घटक व्यक्ति ही रहा है। व्यक्ति के अभाव में समाज और संघ का अस्तित्व नहीं रहा पाता। यह सब कुछ होने पर भी समाज की सत्ता व्यक्ति से ऊँची रही है। भारतीय दर्शन में समष्टि और व्यष्टि अथवा समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध में खूब गहरा चिन्तन किया गया है। व्यक्ति और समाज इन दोनों में से महान कौन हैं? इस प्रश्न का उत्तर पाने से पूर्व हमें इस पर गंभीरता से विचार करना होगा। भारतीय साहित्य के पृष्ठों पर दोनों प्रकार की चिन्तन धाराएँ अंकित हुई हैं व्यष्टिवादी और समष्टिवादी। इसी को सामान्य भाषा में व्यक्तिवादी और समाजवादी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहा जा सकता है। समष्टिवादी विचारधारा जन चेतना के समक्ष समष्टि का विचार प्रस्तुत करती है और व्यष्टिवादी विचार धारा व्यक्ति का विचार प्रस्तुत करती है। व्यक्ति एक होकर भी अनेक है, उधर समाज अनेक होकर भी एक है।

व्यष्टिवादी विचारधारा

व्यष्टिवादी विचारधारा के अनुसार हमें अपनी ही चिन्ता करनी चाहिए। अपना सुख, अपना हित और अपना कल्याण जिस मार्ग पर चलने से सधता हो, वही मार्ग हमारा होना चाहिए। समाज का सुख, हित एवं कल्याण होता है, अथवा नहीं होता ? इस झमेले में हम क्यों पड़े ? समाज वनता है अथवा बिगड़ता है, हमें इससे क्या ? हमें तो अपना ही हित करना है और अपना ही उद्धार करना है। व्यक्ति के अतिरिक्त अथवा स्वयं के अतिरिक्त जो कोई अन्य है, वह सब स्वार्थमय है। संसार में सर्वत्र स्वार्थ का जाल विछा हुआ है, कोई किसी का नहीं है, हम अकेले आए हैं और अकेले ही चले जाएगें, फिर दूसरों के सुख-दुःख की चिन्ता हम क्यों करें ? दूसरे व्यक्ति जो दुःख भोग रहे हैं, अथवा सुख भोग रहे हैं, उससे हमारा क्या बनता विगड़ता है, सब अपने कर्मों का फल भोग रहे हैं, हम किसी का न कुछ बुरा कर सकते हैं और न कुछ भला। दूसरा सुखी है, इस से हमें क्या लाभ ? दूसरा दुःखी है इससे हमें क्या हानि ? फिर दूसरे की चिन्ता में हम क्यों पड़े। यह एक व्यष्टिवादी दृष्टि है जो दर्शन के माध्यम से समाज में आई है, इसमें व्यक्ति उन्नति और अवनति तथा उत्थान और पतन आदि सब कुछ व्यक्तिगत मानकर चलता है। इस दृष्टिकोण में वह अन्य किसी पीड़ित के श्रेय एवं कल्याण के लिए प्रयत्नशील नहीं होना चाहता। दूसरे की सुख सुविधा में निमित्त बनने में उसे किसी भी प्रकार की आनन्दानुभूति नहीं होती। इस प्रकार के दृष्टिकोण को सन्त-परम्परा में वैराग्यवादी अथवा उदासीनतावादी दृष्टिकोण भी कहा गया है।

समष्टिवादी विचारधारा

इस विचारधारा के अनुसार व्यक्ति विचार करता है कि जब मैं अपने दुःख को समस्त का दुःख बनाना चाहता हूं तब यह भी आवश्यक है कि मैं अपने सुख को भी सब का सुख बना डालूँ ? मानव-मन की यह दुर्बलता रही है कि वह अपना दुःख वांटना चाहता है किन्तु अपना सुख बटोर कर रखना चहता है। वस्तुतः समष्टिवादी दृष्टिकोण भारतीय दर्शन का एक मुख्य और मूलभूत दृष्टिकोण रहा है। भारत के महान् दार्शनिक कवि जय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शंकर प्रसाद ने अपने दार्शनिक काव्य कामायनी में इस सिद्धान्त की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति की है। प्रसादजी कहते हैं कि—

अपने में सब कुछ भर कैसे
व्यक्ति विकाश करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है,
अपना नाश करेगा।

अतः समष्टिवादी विचारधारा ने जनचेतना के समक्ष एक व्यापक दृष्टिकोण यह रखा कि सबके लाभ में हमारा लाभ है, सबकी हानि में हमारी हानि है, सबके सुख में हमारा सुख है, और सब के दुःख में हमारा दुःख है, सब के उत्थान में हमारा उत्थान है और सब के पतन में हमारा पतन है। इसी को सहजीवन, सह-मरण और सहअस्तित्व की भावना कहा जा सकता है। निश्चय ही यदि समाज में कुछ पीड़ित व्यक्ति है तो दूसरे सुखी व्यक्ति भी सुखी कैसे रह सकेंगे ? समष्टि में सब कुछ सब का ही होगा, किसी एक का नहीं।

भारतीय चिन्तन की धारा आदिहीन युग से आज तक तीन मार्गों से प्रवाहित रही है। यद्यपि मूल स्रोत सबका एक ही है, और अन्तिम लक्ष्य भी सबका एक ही है, तथापि उसके गन्तव्य पथ तीन ही रहे हैं। तीन पथ से प्रवाहित भारतीय चिन्तन धारा तीन नामों से अभिहित होती रही है वैदिक, जैन, और बौद्ध। मैं आपके समक्ष अपने इस विचार को प्रस्तुत करना चाहता हूं कि इन तीनों विचारधाराओं में एक समन्वय और सामंजस्य यह रहा है कि अपने मूल स्वरूप में तीनों ही व्यष्टिवादी विचार धाराएँ रही हैं। व्यष्टिवाद एक होकर भी यह आवश्यक नहीं है कि उसकी अभिव्यक्ति भी एक ही प्रकार से है। यदि सत्य, सत्य है तो यह आवश्यक नहीं कि उसकी अभिव्यक्ति सर्वत्र एक ही प्रकार से हो। पर यह आवश्यक होगा कि उसका मूल स्वरूप एक रहे। समष्टिवाद भी इसी प्रकार का एक सत्य है. जो अपने मूल स्वरूप में एक होकर भी अभिव्यक्ति में अनेक प्रकार का रहा है। जैन दर्शन, वैदिक दर्शन और बौद्ध दर्शन—इन तीनों में समष्टिवाद की अभिव्यक्ति बड़े ही सुन्दर ढंग से हुई है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि भारत की मूलभूत तीनों परम्पराओं में समष्टिवाद एवं समाजवाद को अपने-अपने ढंग से अभिव्यक्ति मिली है। यह प्रश्न अर्थहीन होगा कि कौन पहले एवं कौन बाद में ? कौन नूतन और कौन पुरातन ? सत्य न कभी नूतन होता है और न पुरातन। यदि सत्य को पुरातन कहा जाय तो उसे एक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिन मरना भी होगा, यदि सत्य को नूतन कहा जाय तो उसे जन्मना भी होगा ? जब कि वस्तुस्थिति यह है कि सत्य न कभी जन्मता है, न कभी मरता है, उसकी तो एक मात्र अभिव्यक्ति होती है। भारतीय दर्शनों में यह समष्टिवाद समय-समय पर अपना रूप तो बदलता रहा, उसमें परिवर्तन तो आता रहा, और भविष्य में आता भी रहेगा, यही कारण हैं कि हम इसको अभिव्यक्ति देने के लिए अथवा उसे वाणी में उतारने के लिए उसके विभाग करके चलते हैं। ताकि उसे समझने में आसानी हों।

जैन परम्परा का समष्टिवाद

जैन परम्परा अपने मूल रूप में एक समष्टिवादी परम्परा रही है, आप देखेंगें कि उसके साहित्य में यत्र तत्र सर्वत्र व्यष्टिवादी विचारधारा के विचार बीज बिखरे पड़े हैं। यह तो सर्वविदित है कि भगवान् महावीर अनेकान्तवादी थे। उनका दर्शन अनेकान्त दर्शन है, वह एक सत्य को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखता है। सत्य अनन्त है, अनन्त धर्मात्मक है। उसे किसी एक दृष्टिकोण से देखकर, किसी एक पहलू को ही एकान्त ही, के प्रयोग स्वरूप प्रचारित करना, महावीर को अभीष्ट नहीं था। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि महावीर व्यष्टिवादी भी है और समष्टिवादी भी। वे व्यक्ति के पक्ष में समाज ओ और समाज के पक्ष में व्यक्ति को बलिदान नहीं करते। उनकी दृष्टि दोनों ओर है। वे व्यक्ति और समाज दोनों के ही संतुलित विकाश के पक्ष में हैं। आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि जिस महावीर ने जिस संघ की रचना की, वही उस संघ को नमस्कार करते हैं, चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु ने अपनी निर्युक्ति में कहा है—'**णमोतित्थस्स**' मैं तीर्थ को नमस्कार करता हूं। तीर्थ का अर्थ है संघ, संघ का अर्थ है समाज जिस संघ एवं समाज की रचना महावीर ने उसी को उन्होने नमस्कार भी किया, इस से पर सिद्ध होता हैं कि जैन परम्परा अपने मूल स्वरूप में समष्टिवादी परम्परा रही है। संघ तीर्थंकर को नमस्कार करता है, और तीर्थअर संघ को। यह कितना ऊँचा, सिद्धान्त है ! इसका अर्थ यही हुआ कि व्यक्ति कितना भी ऊँचा क्यों न हो किन्तु वह समाज में समाहित हो जाता है। व्यक्ति का व्यक्तित्व समाज से भिन्न कुछ भी अर्थ नहीं रखता। समाज यदि दुग्ध है तो व्यक्ति उसमें शक्कर है, जो अपना कण-कण समाज में मिलाकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखता, फिर भी उसकी अभिव्यक्ति स्वतंत्र रूप में होती ही रहती है। यही स्थिति व्यक्ति और समाज की भारतीय दर्शन में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रही है, यही कारण है कि श्रमण परम्परा में भगवान् महावीर ने समष्टिवाद को इतना महत्त्व दिया था।

भगावन् महावीर का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण तो सर्वत्र उजागर है। आज के प्रायः सभी शिक्षित जानते हैं और कहते हैं, कि भगवान् महावीर वैयक्तिक जीवन को महत्त्व देते थे। व्यक्ति का उत्थान एवं विकाश ही उनके जीवन का परम एवं चरम ध्येय था। इन्होंने व्यक्ति के हित में ही कहा है, समाज के हित में नहीं। इस प्रकार भगवान् महावीर के दर्शन को व्यक्तिवादी दर्शन करार दे दिया गया है। यह सत्य है कि महावीर व्यक्ति के अपने स्वयं के वैयक्तिक हित को महत्त्व देते थे, लेकिन यह महत्त्व 'भी' के साथ है, 'ही' के साथ नहीं। व्यक्ति और समाज परस्पर विरुद्ध दो इकाइयां नहीं हैं। व्यक्ति समाज में सन्निविष्ट है, और समाज व्यक्ति में। अतः महावीर जब व्यक्ति के हित की बात करते हैं, तब उसका यह अर्थ नहीं कि वे समझ के हित की उपेक्षा एवं अपलाप करते हैं। किन्तु आगे चलकर हो गया कुछ ऐसा ही है। जैन चिन्तन धीरे-धीरे व्यक्तिवादी बनता—चला गया, और उसका यह परिणाम आया कि विचारकों की दृष्टि में महावीर भी व्यक्तिवादी हो गये। आप लोगों के ध्यान में यह तथ्य रहना चाहिए कि मैं भगवान् महावीर के समष्टिवादी चिन्तन पर कुछ प्रकाश डालना चाहता हूं।

भगवान् महावीर ने व्यक्ति की अपेक्षा संघ को अधिक महत्त्व प्रदान किया था। व्यक्ति कितना भी विशिष्ट और महान् क्यों न हो जाय, फिर भी संघ के समक्ष वह नत-मस्तक ही होता है। आचार्य भद्रबाहु ने अपनी निर्युक्ति में 'नमो तित्थस्स' कहकर इसी भाव की अभिव्यक्ति की है। तीर्थ और तीर्थंकर में से बड़ा तीर्थ ही होता है। क्योंकि जब तीर्थ ही नहीं है, तब तीर्थंकर कैसे होगा ? जब कभी संघ और व्यक्ति में कुछ संघर्ष भी हुआ, तब हम व्यक्ति को ही पराजित देखते हैं, संघ को नहीं। भगवान् महावीर का दृष्टिकोण एक समाजवादी दृष्टिकोण था। जैन-परम्परा के अनुसार आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वोच्च शक्ति तीर्थंकर होता है, और भौतिक दृष्टि से सर्वोच्चशक्ति चक्रवर्त्ती होता है, पर दोनों ही संघ का एवं समाज का समादर करते हैं। यही कारण है कि हजारों वर्ष के बाद भी आज हमारे यहाँ पर संघ-व्यवस्था अक्षुण्ण रही हैं। धर्म दर्शन और संस्कृति का एकमात्र आधार समाज ही रहा है।

तथागत बुद्ध ने भी व्यक्ति की अपेक्षा संघ को ही अधिक महत्त्व दिया था। बौद्ध परम्परा के मूल मंत्र में बुद्ध और धर्म से पहले संघ की शरण को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वीकार किया गया है। बुद्ध ने एक बार कहा था--मुझे कुछ अर्पित करने की अपेक्षा संघ को अर्पित करने में अधिक लाभ है। बौद्ध-परम्परा की महायान शाखा के एक आचार्य ने कहा था—मुझे तब तक मेरे निर्वाण की आकांक्षा नहीं है, जब तक विश्व के सभी प्राणियों को निर्वाण प्राप्त न हो जाय। बौद्ध परम्परा की यह कितनी विशालता है। इस पर से ज्ञात होता है कि इस परम्परा के महान् आचार्यों ने भी वैदिक परम्परा के समान व्यक्ति की अपेक्षा समाज को और व्यष्टि की अपेक्षा समष्टि को अधिक गौरव एवं अधिक सम्मान दिया था।

भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों में यह तत्व सर्वाधिक विशिष्ट व महत्व-पूर्ण रहा है कि उसने व्यक्ति का निरादर न करते हुए समाज का गौरव बढ़ाया। व्यक्ति का गौरव इसी में है कि वह अपने को समाज में समाहित करदे। समाज का हित ही उसका अपना हित हो। समाज का सुख ही उसका अपना सुख हो। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने विराट् रूप का जो प्रतिपादन किया है, वह भी इसी तथ्य को प्रमाणित करता है। व्यक्ति कितना भी विराट एवं विशाल क्यों न हो जाय, परन्तु वह समाज से कटकर एवं समाज से हटकर अपने को स्थिर नहीं कर पाता। जलधारा का जो कुछ अंश धारा से कटकर किसी गर्त्त में जा पड़ता है, उसमें न ताजगी रहती है और न प्रवाह। अन्त में वह सड़ जाता है। यही स्थिति सामाजिक जीवन में एक व्यक्ति की भी है। समाज के प्रवाह से कटकर जो व्यक्ति अलग जा पड़ा, तो उसके जीवन का तेज ही नष्ट हो जाता है। अतः हमें जो कुछ करना है वह सब समाज के लिए और समाज में रहकर ही करना है। हमारी साधना का लाभ यदि समाज को न मिले, तो वह साधना कभी फलवती नहीं हो सकती। राष्ट्रपिता गांधी जी के जीवन का भी एकमात्र यही आदर्श रहा है। हमें जो कुछ भी करना है वह समाज के लिए ही करना है। यही वास्तविक समाजवाद है।

●●

★★

• संसार क्या है? जो तुम्हें ईश्वर से अलग रखे।
संग किसका करना चाहिए? जिसमें 'मैं' और 'तू' न हो।

-- तपस्वी जुन्नुनमिसरी (मिश्र)

●●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आप ध्यान में स्थिर क्यों बैठे हैं....? इसलिए बैठे हैं कि आज तक जिस चीज को देखा नहीं, समझा नहीं, उसे देखें, अनुभव करें, कुछ अपूर्व को प्राप्त करें........ध्यान एक नशा है, जो भीतर से पैदा होता है........।

● साध्वी श्री राजीमती

ध्यान और उसकी पूर्व भूमिका

ध्यान चेतना की सर्वोत्कृष्ट रूपान्तरित दशा है। इस स्थिति के बाद मूल से शाखा विलग नहीं होती। यह लहर अपनी एक पतली धार से सारे जीवन में वसन्त भर देती है। वस्तु स्थिति यह-चेतना जहाँ केन्द्रित होती है वहाँ विस्फोट होता है। भीतर कहाँ क्या है? यह अनावृत हो जाता है! जिन्हें खुलना है वे कलियां खुलती हैं और जिन्हें समाप्त होना है वे विष-वल्लरियां झड़ पड़ती हैं। यह वह तूफान है जिस से सारी सोयी शक्तियां जाग उठती हैं। अब ध्याता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के बाहर जाने के मार्ग बदल जाते हैं। न आँखें मन को बाहर लाती हैं, न स्मृतियां और न कल्पनाएं। अब अपने ही द्वारा निर्मित नये द्वार और नये मार्ग होंगे। जगत् के प्रति उसका मधुर आमंत्रण, मुक्तता का हेतु होगा, बन्धन का नहीं। क्योंकि भोग पदार्थ की क्रिया नहीं मन की क्रिया है। **ध्यान करते समय :—**

ध्यान आन्तरिक क्रियाशीलता की स्थिति है। भीतर में अपूर्व परिवर्तन आता है। हमने देखा है, कपड़े का मैल रगड़ (घर्षण) से धुलता है। और वर्तन की धूल झटके से हिलती है। तो क्या हम सोचेंगे मन का मैल किसी आघात के विना ही साफ हो जाए ? आवश्यकता इस बात की है पुस्तकों की तरह मन को पढ़े। आकर्षक दृश्यों की तरह मन को देखें। साल भर ऐसा करें। फिर देखें, भीतर, नया क्या बनता है और पुराना क्या मिटता है। जो बच गया वह खोए नहीं और जो मिट चुका है वह वापिस जागे नहीं, यह ध्यान-प्रवेश का प्रथम सफल चरण है।

इन्द्रियों का सम्यग् प्रयोग व विश्राम

●

इन्द्रियो का विषय के साथ अल्पतम संपर्क ध्यान में-सहायता करता है। आचार्य मंगलदेव, योग-प्रदीप में ध्याता को पूर्ण योग्यता के विषय में लिखते है :—

इन्द्रिय स्वान्त वृत्तीनां, विषयात् परिमोचनम्।

हमारी दो इन्द्रियाँ मन को बहुत तीव्रता से प्रभावित करती हैं—आँख और कान ! ध्यान योग का अभ्यासी आँख के गोलक को कम हिलाए। नीचे देखना है तो शुद्ध पृथ्वी (नंगी) को देखें या दोनों अंगूठों के संयुक्त नखों को देखें। सामने देखना है तो भींत, पहाड़, नासाग्र या ऐसे किसी निर्जीव चेहरे को झांके, जिसकी निस्पन्दता में आपका मन खो जाए। ऊपर आकाश है। उसे देखने का मतलब हुआ उसी में समा जाना। शून्य हो जाना।

इन्द्रियों के अनावश्यक प्रयोग से जो शक्तियां क्षीण होती हैं, उन्हें बचाना बहुत जरूरी है। संभव है वही शक्ति, संचित होकर मन में भीतर की ओर मुड़ने का साहस पैदा कर सके। ध्यान करते समय हमें यदा-कदा थकान महसूस होती है। ध्यान खोल दिया जाता है। इसके पीछे कई कारण हो सकते हैं। परन्तु मुझे ऐसा लगा-ऐन्द्रयिक विश्राम की अल्पता इसका प्रमुख कारण है। प्रश्न होता है कि ध्यान में इसकी अनुभूति क्यों होती है ? इन क्षणों में तो ताजगी, शान्ति और एकांत स्फूर्ति का सम्वेदन होना चाहिए ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर सीधा सा है—हम जो करते हैं, वह तत्काल समाप्त नहीं हो जाता। उसकी प्रतिक्रियाएं चेतना की सतह पर बराबर चालू रहती है। यह थकान, उन्हीं अवचेतन गत प्रतिक्रियाओं की हैं। उन क्षणों में अनुभव होने का कारण, एकाग्रता (चैतन्य जागरण) है। उस थकान का सही इलाज इन्द्रिय-विश्राम है। जिसके परिणाम स्वरूप हम प्रलम्ब ध्यान के अधिकारी बन सकेंगे!

ध्यान—साधक क्या पढ़े और क्या सुने ?

मूल बात यह है—वह कम पढ़े और कम सुने। जो ग्रन्थ ध्येय प्राप्ति में सहायक हैं उन्हें एक सीमा तक पढ़ा, सुना जा सकता है, ध्येयातिरिक्त पढ़ने से चित्त-शक्ति में बिखराव आता है। विचार विचार ही बने रहते हैं,

---

ध्यान से हृदय बलवान, मन निर्भय निर्मल और आचरण पवित्र होता है।

ध्यान साधना अभ्यास से सिद्ध होती है, किंतु उसमें गुरु का मार्ग दर्शन भी आव यक है। दीपक अपने तेल की बाती से प्रकाशित होता है, किंतु उसमें अग्नि का स्पर्श भी अत्यन्त आवश्यक है।

हिलते हुए जल में जिस प्रकार प्रतिबिम्ब अस्पष्ट दिखाई देता है, उसी प्रकार चंचल चित्त में आत्मा की छवि विशुद्ध रूप से अंकित नहीं हो सकती।

—'अनुभूति के आलोक में'

संकल्पाकार नहीं बन पाते। रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा, समाचारपत्र जैसे साधन मन को सन्तुलित, स्थिर नहीं किन्तु एक्साइड (उत्तेजित) करते हैं। विचारप्रवाह अधिक वेगवान हो जाता है। बुद्धि चेतना की एक लहर है। उसे भी खोना होगा। उसके रहते कोई अतल सागर की गहराई को पा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं सकता। ध्यानाभ्यास-काल में साहित्य-निर्माण का संक्षेपीकरण बहुत आवश्यक है। अन्यथा एक पैर से चलने वाले के लिए मंजिल प्राप्ति में जैसी कठिनाई है, वही स्थिति होगी, कहा भी है—

प्रसिद्धं दैनिकाद्यं च, पत्रं साप्ताहिकं तथा।
ध्यानिना नैव पठ्येत यतो विक्षेपता भवेत् ॥१॥

—योग-प्रदीप-श्लोक ६२

परिधान व विचारों की अल्पता—

सीमा में रहने वाला स्वाधीन होता है। जो अधिक संग्रह करता है, अधिक पहनता है, अधिक खाता है और अधिक सोचता है वह अधिक संकल्प-विकल्पों को जन्म देता है। विचारों में जीने वाला सदा बाहर घूमता है। इसलिए विचार-संग्रह को छोड़कर, निर्विचार होने का अभ्यास, ध्यान की सर्वोत्तम पृष्ठभूमि है।

ध्यान-कायोत्सर्ग—

महावीर ने साधक को वार-वार कायोत्सर्ग करने की सलाह दी। उन्होंने पाया मुक्त होने की प्रक्रिया विसर्जन है। आत्मातिरिक्त मेरे पास कुछ है, जहाँ तक यह अनुभूति रहें तब तक विसर्जित करते रहो। सबसे पहले-शरीर का विसर्जन होता है। क्योंकि आत्मगत सारे बन्धन इसी में जन्मते और पलते रहे हैं। यह चंचलता का प्रेरक ही नहीं, अपितु उत्पादक है, अतः शरीर गत ममत्व का विसर्जन बहुत आवश्यक है। इसके बाद ध्यान में प्रवेश होता है, पहले नहीं। प्रश्न हो सकता है कि शरीर को कैसे भुलाया जाए, जो सदा साथ रहता है ?

१. **उत्तर**—महावीर की भाषा में यथार्थ का ज्ञान ही अयथार्थ से विलग होने का साधन है। जब शुद्धात्म-चेतन-द्रव्य की अनुभूति क्षीण होती है तब हमारा पर के प्रति एटेचमेन्ट गहरा होता है। अपेक्षा है—शरीर आदि पर पदार्थों के अलगाव की। इसका साधन है देहात्मभिन्नता का बोध—भेद विज्ञान। शरीर से मन को अलग करने के लिए प्रारम्भ में यह आवश्यक होगा कि उसी में रहे किसी सूक्ष्म तत्त्व या अवयव विशेष पर मन को एकाग्र करें। हमने कभी अनुभव किया है—श्वास पर ध्यान जमाते ही मन का आलान (खूँटा) वदल जाता है। मन कहीं से खिसकता हुआ-सा नजर आता है। यदि प्रतिदिन कम से कम पांच वार हम ऐसा करें तो आगामी नये दिन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से पूर्व हम कुछ और हो जाएंगे । बहुत सम्भव है मन अपना चिर-परिचित विहार-क्षेत्र उस समय तक बदल दे। आत्मोन्मुख बन जाए।

(२) **दूसरा उपाय**—दिन में कम से कम दो बार आप शान्त होकर इस प्रकार बैठें कि आप क्यों बैठे हैं ? इसका उत्तर आपके दिमाग से निकल जाय। आप इसलिए बैठे हैं—आज तक जिस चीज को देखा नहीं,अनुभव किया नहीं, पाया नहीं, उसे पाने के लिए। उसकी पूर्व कल्पना नहीं होती—वह कैसा है ? क्या है ? कहाँ है आदि-आदि। जब चेतना की उपस्थिति के सिवाय कुछ नहीं बचेगा, तब आप किसी अज्ञात में घूमते हुए से नजर आएंगे। उस समय तक चेतना की दिशा बदल जाएगी।

ध्यान से पहले भावना

जैन तपोयोग की व्याख्या में भावना शब्द का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं मिलता। वह स्वाध्यायान्तर्गत है। ध्यान से पूर्व स्वाध्याय करे यह सुझाव है। इससे ध्यान की ठीक-ठीक पूर्व भूमि तैयार होती है। जैनाचार्यों ने कहा—भावना से ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। क्रमशः इन्द्रियों का विषय-संपर्क शिथिल होता है। मन तदर्थ भावना से भावित होकर ध्येयाविष्ट हो जाता है। भावना ध्यान का प्रवेश द्वार है। ध्यान शतक में चार भावनाओं का उल्लेख है—ज्ञान भावना, दर्शन भावना और वैराग्य भावना। इनमें से किसी एक के सहारे साधक ध्यान—स्थिति तक पहुंचता है।

पुव्व कयब्भासो भावणाहि, झाणस्स जोग्गय मुवेइ।
ताओ य नाणदंसण — चरित्त वेरग्ग नियताओ।

ध्यान खोलने के बाद—अनुप्रेक्षा

नशा बुरा होता है क्योंकि वह हमारी पूर्व स्थिति को बदलता है। किन्तु ध्यान एक भिन्न प्रकार का नशा है। जो भीतर से पैदा होता है। हमने बहुत बार देखा है—चिड़िया दर्पण में अपने रूप को देखते-देखते पागल हो उडती हैं। ठीक ऐसा ही एक भिन्न जातिक पागलपन चेतना के चमत्कारी दर्पण में ध्यानी साधक महसूस करता है। कुछ समय के बाद ध्यान खुलता है। मन फिर से जन्म लेता है। इस पर ध्यानी सन्तों ने कहा—मन को तत्काल बहिर्मुख नहीं बनने दिया जाय। कुछ समय तक अनुप्रेक्षा की जाए अर्थात् ध्यान खोलने के बाद जीवन और जगत् के सम्बन्धों के प्रति चिन्तन किया जाय। ध्यान शतक में अनुप्रेक्षा के चार भेद बताए हैं—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आसवदारा वाए तह संसारसुहाणुभावं च।
भवसंताण मणंतं वत्थूणं विपरिणामं च ॥

१. आश्रव द्वारा वापचिन्तन—मिथ्यात्व आदि आश्रवों की परिणति कितनी दुःख कर है ऐसा चिन्तन।

२. संसार अनुभव चिन्तन—सांसारिक घटनाओं का चिन्तन।

३. भव परम्परा का चिन्तन—संसार की अनादि अनन्त तथा गहन भव परम्परा का विचार।

४. वस्तु विपरिणाम—परिवर्तनशील अशाश्वत जड़ चेतन पदार्थों का सूक्ष्मता से चिन्तन।

इस क्रम के बाद वाहर आने वाला मन ध्येय के प्रति सजग तथा यथार्थ दृष्टा रहेगा।

भोजन में विवेक

ध्यान-अभ्यासी के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव हैं—

हम मानते हैं कि भोजन शरीर की अनिवार्य अपेक्षा है। उससे शरीर बुद्धि और प्राणों को सहयोग मिलता है। उनका एक सीमा तक निर्माण भी होता है। इस प्रसंग में आचार्य कुन्द-कुन्द ने कहा है—आहार विजय के बाद ही साधक निद्राविजय और आसनविजय कर सकता है। हमारा भोजन शक्ति केन्द्रों पर दबाव न डालें उन्हें दुर्बल (प्रवाही) न वनाए। इस पर मंगल सूरि लिखते है—

१. नशीली वस्तुओं से सर्वथा बचाव।

२. अधिक गर्म, अधिक खट्टे और अधिक कड़वे पदार्थों का उपयोग वाधक।

३. लहसुन, प्याज, गाजर और कटहल का सर्वथा वर्जन।

४. दही सर्प-तेल जैसी वस्तुओं आ यथावश्यक कम प्रयोग।

मजबूत संहनन वालों के लिए संभव है—लम्बे अभ्यास की अपेक्षा नहीं रहती। वे बैठे कि ध्यान लगा। किन्तु वर्तमान युग के साधकों के लिए ध्यान की पूर्व—तैयारी (स्वाध्याय, जाप, कायोत्सर्ग, मौन, भावना आदि) उतनी आवश्यक है जितनी अनशन के पूर्ण संलेखना तप की।

अन्त में मैं आपसे यह सुझाव देना चाहूंगी—हम तेजस्वी बनें, और अशान्त विश्व को सही धर्मक्रान्ति का पथ दर्शन दें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

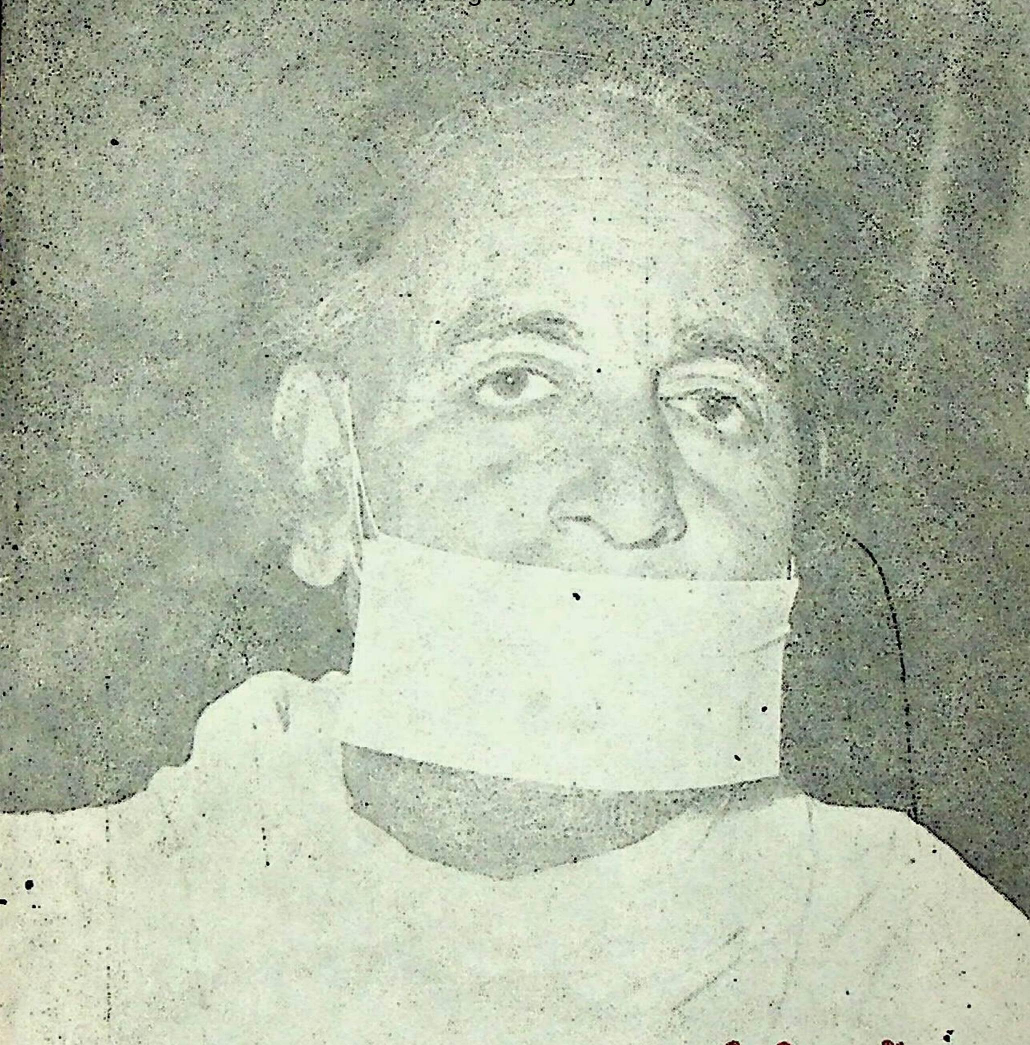

एकता की दिशा में

- समाधान, समन्वय और एकता न शास्त्रों से हो सकती है, न शास्त्रों से। वह तो प्रेम से ही संभव है। प्रेम व बंधुत्व की भावना ही एकता की पृष्ठभूमि बन सकती है।
- एकता की समस्या आज मूलत: निजी स्वार्थों (अपने अहंकार व आग्रह) की समस्या है। स्वार्थों का विसर्जन कर दिया जाय तो तत्काल समाधान, समन्वय और एकता हो जाय।
- एकता की दिशा में पहला प्रयत्न यह होना चाहिए कि हम एक दूसरे को निकट से समझें, एक दूसरे के विकास में सहयोगी बनकर आगे आयें।

—आचार्य श्री तुलसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

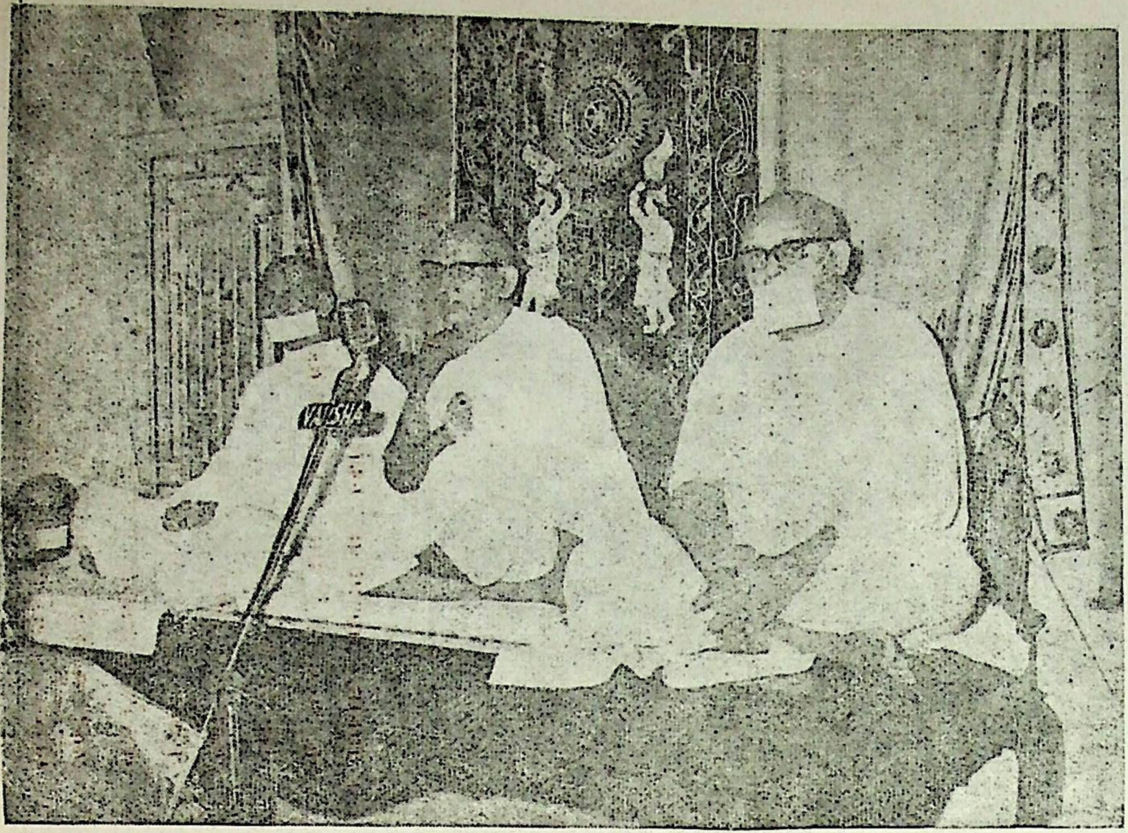

समन्वय की दिशा में :

०—०

म्बई में (सन् १९६९, मई) विश्वमैत्री दिवस के कार्यक्रम में सन्तों की त्रिवेणी :—

बांये से दांये— मुनि श्री नगराजजी डी. लिट् (तेरापंथी), स्व. मुनिश्री पुण्यविजय जी (श्वे. मूर्ति-पूजक), मुनिश्री लाभचन्द्र जी (स्थानकवासी)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकांकी

● राजेन्द्र नगावत

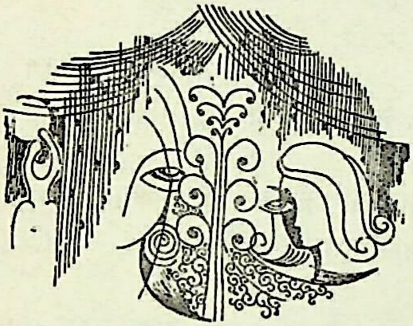

चे त ना

मुख्य पात्र

प्रशांत	:	एक युवा डाक्टर
मां	:	एक अधेड़ा
शांति	:	अधेड़ा की पुत्री
तरुण, किशोर	:	शांति के भाई
समर	:	तरुण का मित्र

दृश्य पहला

[अस्पताल का भीतरी भाग। एक डाक्टर का कक्ष। डाक्टर सोच मुद्रा में बैठा है]

डाक्टर (खोये स्वर में)—वीणा के तारों को इतना मत खींचो कि वे टूट जाय। वीणा के तारों को इतना ढीला मत छोड़ो कि वे बेसुरे हो जाएं।

नर्स—मुझे कुछ कहा आपने ?

डॉक्टर (उंसास भर कर)—जिन्दगी भी क्या चीज है। जब तक संतुलित है तब तक जीवंत है। जब भी शिथिलता अथवा तनाव से भर जाती है कितनी बेतुकी हो जाती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नर्स—मैं कुछ समझी नहीं।

डाक्टर (उसी स्वर में)—सुख और दुःख का समन्वय ही जीवन को विकास-पथ की ओर अग्रसर करता है।

[सहसा एक युवती का प्रवेश]

युवती—डॉक्टर प्रशांत आप ही हैं ?

प्रशांत (सौजन्यता से)—जी हां ! फरमाईये !

युवती (व्यग्रता से) मेरा नाम शांति है, मुझे आपके मित्र सागर ने भेजा है।

प्रशांत (विनम्रता से)—ओह, सागर ने। कहिए मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूं ?

शांति (परेशान-सी)—डॉक्टर साहब ! मेरी शिराओं में बड़ी तेजी से खून दौड़ रहा है, लगता है वे फट पड़ेंगी। (रुआँसी होकर) और—और.... मैं मर जाऊंगी, डॉक्टर साहब !

प्रशांत (सांत्वना भरे स्वर में)—घबराइये नहीं, मैं अभी जांच करता हूं। [पर्दे की ओट की ओर संकेत कर] आप टेबल पर लेट जाइये।

शांति—जी अच्छा !

[शांति जाती है, पीछे पीछे डॉक्टर भी। कुछ देर तक उन दोनों की अस्पष्ट आवाजें आती हैं। डॉक्टर बाहर आता है]

डॉक्टर (नर्स से)—नर्स, पेशेण्ट को शीघ्र ही आपरेशन थियेटर में ले चलो, मैं अभी आता हूं।

नर्स—वस डॉक्टर !

[नर्स जाती है, कुछ ही पल में एक व्यक्ति स्ट्रेचर लेकर आता है। शांति को स्ट्रेचर पर लिटाकर ले जाया जाता है। डॉक्टर भी जाता है। मंच पर कुछ देर चुप्पी रहती है। दो व्यक्तियों का प्रवेश, दूसरी ओर से एक नर्स का प्रवेश]

एक (नर्स से)—डॉ० प्रशांत का कक्ष यही है न् ? (दूसरे से) क्यों किशोर, डॉ० प्रशांत ही वतलाया था न् ?

किशोर—हाँ तरुण भैया !

नर्स—जी यही है। लेकिन इस समय वे एक सीरीयस केस में बहुत बिजी हैं।

किशोर—हमें भी उनसे मिलना जरूरी है।

नर्स—सॉरी सर, आपको इन्तजार करना होगा।

तरुण—इट्स ऑल राइट ! हम इन्तजार करते हैं। जैसे ही वे फ्री हों उन्हें सूचित कर देना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[तीन-चार व्यक्ति एक घायल को ढोकर लाते हैं, वहां पड़ी बैंच पर लिटाते हैं]

तरुण (घायल को देखकर) -- अरे समर तुम ! यह क्या होगया तुम्हें ?

किशोर (चौंककर) - कैसे, कब, कहाँ, किसने तुम्हें इस स्थिति में ला पटका ?

समर (टूटे स्वर में)— मित्रों, अब मैं थक गया हूं। मैंने तुम लोगों को सदा सहयोग दिया। अब मैं मुक्ति चाहता हूं। मुझे मर जाने दो, खत्म हो जाने दो।

तरुण—क्या कहते हो समर, हमारे होते तुम मर नहीं सकते ! हम तुम्हें मरने नहीं देंगे (कुछ ऊंचे स्वर में) डॉक्टर जल्दी आओ। हमारे समर को बचाओ।

समर—(आहत स्वर में)—यह सही है मित्रों कि एक समर के मरने पर तुम लोगों के लिए और समर पैदा हो जाएंगे। लेकिन मेरा शरीर क्षत-विक्षत हो चुका है, मैं ध्वस्त हो चुका हूं और खण्डहर बन कर भला कैसा जीना ! आज एक लम्बी कतार में खड़ा हर कोई अपने साथ खड़े खण्डहर से पूछता है वक्त की दूरी। वक्त है कि धकियाता हुआ चल रहा है।

तरुण—क्या कहते हो समर ? आज अचानक क्या हो गया है तुम्हें ?

समर (दार्शनिक मुद्रा में किन्तु हारे स्वर में)—आज मुझे अपने अस्तित्व का बोध हुआ है। आज मुझे अपना खोखलापन नजर आया है।

तरुण—नहीं समर, नहीं तुम जिन्दा रहोगे, तुम मर नहीं सकते। ऊंचे स्वर में डॉक्टर ! (मेज पीटता हैं)

समर (डूबते स्वर में)—मौत के खिलाड़ी होकर तुम जिन्दगी की भीख मांगते हो। बावले हो। मुझे हंसकर विदा करो। मेरे बाद मेरे बेटे का खयाल रखना। उसे मुझ जैसा क्रूर न बनाना....(सांस उखड़ जाती है)।

तरुण व किशोर (एक साथ) समर ऽ ऽ ऽ।

[जो लोग समर को लाए थे, ढोकर ले जाते हैं। डॉ० प्रशांत का प्रवेश]

प्रशांत कहिए महाशय, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूं ?

तरुण (खोए स्वर में)-- समर खत्म हो गया, हम कुछ न कर पाए, लेकिन शांति कहाँ है ? (स्वस्थ स्वर में) कुछ देर पहले यहां शांति नाम की एक लड़की आई थी ?

प्रशांत—आपका उनसे क्या सम्बन्ध है ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तरुण—वह हमारी बहन है, कहाँ है वह ?

प्रशांत—लेकिन वे तो कहती थीं, उनका कोई नहीं है संसार में।

तरुण (चिढ़कर)—वह नासमझ है, ऐसी बेतुकी बातें ही किया करती है। हम खुद उससे बेहद परेशान हैं। लेकिन, आप हमें केवल इतना बतलाइये, क्या वह यहाँ आई थी ?

किशोर—और अगर आई थी तो यहाँ से गए कितनी देर हो गई है ?

प्रशांत—देखिये मिस्टर....

तरुण (वाक्य पूरा करते हुए)—'तरुण'

प्रशांत—मि० तरुण, सख्त अफसोस की बात है आप लोगों की उपेक्षा ने उसे इस स्थिति में ला पटका।

तरुण—क्या मतलब ?

प्रशांत—इस समय वह जिन्दगी और मौत के बीच झूल रही है।

किशोर (शीघ्रता से)—क्या हुआ है मेरी प्यारी बहन को ?

प्रशांत - तब आपका स्नेह कहाँ गया था, जव उसके सहज जीवन में आप विष घोल रहे थे। चाकू, बर्छों से लेकर आप हथगोलों व वमों के माध्यम से उत्पात करते रहे। जानते हैं जब भी वह पीड़ा से भर उठती, कोई भी टेवलेट या केप्सूल लील जाती। ठीक उसी तरह जिस तरह आपके हाथों से फेंकी गई बारूद निर्दोष जिन्दगी लील लेती है। फिर भी उसके और आपके लीलने में फर्क है। वह जिन्दगी बरकरार रखने के लिए बैचेन है और अन्य जिन्दगी खत्म करने को आतुर।

तरुण—लगता है उस बातूनी ने आपको भी वहका दिया (एक पल रुककर) हम परिवर्तन चाहते हैं ! हम क्राँति चाहते हैं।

प्रशांत—परिवर्तन—क्रांति। हां-हां....। कितने थोथे लगते हैं आपकी जिह्वा से ये शब्द। (कुछ रुककर) तो फिर जाइये कीजिये क्रांति, और अपनी शांति को मरने के लिए छोड़ जाइए। वह भी तो आप लोगों द्वारा प्रताड़ित जिन्दगानियों की एक कड़ी है।

तरुण (दांत पीसते हुए)—लगता है डाक्टर, तुम्हारी भी मौत आ गई है। हम तुम्हारा खून पी जाएंगे। [दोनों के हाथों में चाकू चमचमाने लगते हैं, एक अधेड़ स्त्री का प्रवेश]

अधेड़ा—ठहरो हत्यारों ! तुम्हारी यह रक्त-प्यास कभी बुझेगी भी या नहीं ? (तिलमिलाकर) कहां है मेरी शाँति, मेरी बच्ची। क्या उसे भी—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तरुण—नहीं मां नहीं ! उसका हत्यारा तो यह डॉक्टर है । इसी ने उसे –

किशोर (स्वर में स्वर मिलाते हुए)—इसीलिए तो मां हम····।

माँ (डॉक्टर की ओर देखकर) - डॉक्टर.! क्या यह सही है ? क्या मेरी बेटी ?

प्रशांत—क्या आप एक डॉक्टर से ऐसी अपेक्षा करेंगी कि वह अपने पेशेण्ट की हत्या करदे । डॉक्टर का काम जीवन देना है, लेना नहीं । आपकी बेटी ऑपरेशन टेबल पर जिन्दगी और मौत के बीच कड़ा संघर्ष कर रही है । वह अपने रक्त को विषाक्त कर चली थी । अभी अभी मैं उसके शरीर से दूषित रक्त निकालकर नया रक्त भरकर चला आ रहा हूं । (थोड़ा आवेश भरे स्वर में) आप अपने बेटों से ही पूछिए । इस रक्त-दूषण का दायित्व किस पर है । किसने उसकी जिन्दगी में विष घोला ?

मां—डॉक्टर साहब, मेरी बेटी की जिन्दगी लौटा दो । ये हत्यारे जिन्दगी का मोल क्या जाने !

प्रशांत मैं पूरी कोशिश कर रहा हूं । आप भरोसा रखिए, मैं आपको मायूस न होने दूंगा ।

तरुण (एकाएक स्वर में)—हम नहीं जानते थे डॉक्टर, स्थिति वास्तव में इतनी बिगड़ चुकी है ।

प्रशांत और आप तब भी नहीं जान पाते जबकि उसका रेशा-रेशा छिन्न-भिन्न हो जाता । आपको अपनी हविश, अपनी प्यास बुझाने से फुरसत ही कहां है ।

तरुण—हम बेहद शरमिंदा हैं । हम भटक गए थे । हमारी बहन को बचालो डॉक्टर । हम संकल्प लेते हैं, हम उसका मन कभी नहीं दुखाएंगे ।

किशोर—आज हमें जीवन का मोल मालूम हुआ ।

माँ—डॉक्टर, मेरी बच्ची मुझे लौटा दो । मेरी बच्ची, मेरी शांति !

[एक आगन्तुक का प्रवेश]

आगन्तुक—देखिये डॉक्टर साहब ! ये खून फिर बहने.लगा ।

प्रशाँत—तुम भी चाचा एक दिलचस्प केस हो । न जाने कहां से इतना खून संचित कर पाते हो, जो रिस-रिस कर भी चुकता नहीं ? इनसे मिलिए मि० तरुण, आप खून के खिलाड़ी हैं और ये खून के संग्राहक ।

तरुण—क्या नाम है महाशय आपका ? कहाँ रहते हैं आप ?

प्रशांत—(हँसकर) इनका कोई नाम नहीं, कोई जाति नहीं, कोई ठिकाना नहीं ।

किशोर (दोहराता है)—कोई नाम नहीं, कोई ठिकाना नहीं !

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगन्तुक—हां बन्धु, मैं अनामा हूं। जब मैं बहुत छोटा था, युद्ध काल में भागते हुए शरणार्थियों में से ही मुझे एक फौजी अफसर ने पाया। किसी ने मुझे पहचाना नहीं। वे फौजी अफसर शीघ्र ही रिटायर हो गए और मैं उनके यहीं पलने लगा। उन्होंने मुझे कोई नाम नहीं दिया। अपने मूड में उन्होंने जब जिस नाम से चाहा पुकार लिया। शुरू से ही मुझे यह बीमारी रही है। मैं राम हूं तब भी, रहीम हूं तब भी, जॉन हूं तब भी, पीटर हूं तब भी। मेरा खून हमेशा बहता ही रहता है।

तरुण—सचमुच आप एक दिलचस्प प्रतीक हैं। क्यों किशोर!

प्रशांत—'प्रतीक'! ठीक कहा आपने। कोई नाम, कोई जाति, कोई काल खून के प्रवाह से अछूता नहीं। लगता है इस प्रवाह का कोई अवरोध नहीं कोई निदान नहीं। अब देखिये न अस्थायी रूप से मैं इनका खून रोक पाऊँगा। कुछ दिन बीत भी नहीं पाएंगे कि इन्हें फिर मेरे पास आना पड़ जाएगा।

[आगन्तुक की परिचर्या कर डाक्टर उसे विदा देता है]

प्रशांत—आइये माताजी, मैं आपको मिस शांति के पास ले चलता हूं।

[तरुण व किशोर भी जाने को उद्यत होते हैं]

प्रशांत—आप अभी प्रतीक्षा कीजिए। कुछ देर।

[डाक्टर व अधेड़ा का प्रस्थान, थोड़ी ही देर में कुछ लोगों का प्रवेश। तरुण व किशोर को वहां देख ठिठक जाते हैं, तरुण व किशोर शांत बैठे हैं।]

उनमें से एक (साहसकर)—यह मैं क्या देख रहा हूं। महाशय, आप लोग स्वस्थ तो हैं? आज आपके रक्त का उबाल कहां गया। आइये, बढ़िये हमारी जिन्दगी से खेलिए।

तरुण—अब हम वह सब कुछ त्याग चुके हैं। अब हमसे भय न खाओ।

उनमें से दूसरा—ठिठोली न करो मेरे यार! (और लोगों की ओर आमुख होकर) भाईयों, लगता है यह भी इनका कोई फरेब है। अब हमें संगठित होकर इनका मुकाबला करना ही होगा।

उनमें से कुछ—हां हां ...

[आवेश से भरे, किन्तु भीतर ही भीतर सहमे हुए तीन-चार व्यक्ति बढ़ते हैं, तरुण व किशोर क्रोध से फुफकारते हैं। बढ़े हुए व्यक्ति सहम जाते हैं, डाक्टर प्रशान्त का प्रवेश।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तरुण व किशोर (फुंफकारते हैं)—ठहरो पाजियों वरना ··

प्रशांत—यह क्या तमाशा है ? (तरुण व किशोर से)—मि० तरुण, मि० किशोर ! अभी-अभी आपने एक संकल्प लिया था···· ।

किशोर—हां ! डाक्टर, लेकिन ये लोग ये लोग हमें उकसा रहे हैं ।

पहला—डाक्टर साहब ! आप नहीं जानते ये ही तो वे लोग हैं, जिन्होंने आप तक आने के लिए हमें विवश किया ।

दूसरा—डाक्टर साहब ! ये वहुत बुरे लोग ।

तीसरा—डाक्टर साहब ! ये आतंकवादी हैं ।

प्रशांत—मैं जानता हूं, ये हिंसावादी हैं । जिन्दगी इनके लिए खेल है । लेकिन हिंसा का प्रतिकार प्रतिहिंसा नहीं । आप लोगों का उकसाव इन्हें विवश कर देता है । मैं मानता हूं परिस्थितियाँ ही इन्हें ऐसी स्थिति में ला पटकाती हैं ।

पहला—लेकिन ·· डाक्टर साहब !

प्रशांत—लेकिन वेकिन कुछ नहीं । जाइये, अपनी मरहम पट्टी करवाइये ।

[सभी विस्मय से तरुण व किशोर को देखते हुए चले जाते हैं]

[परदा गिरता है]

दृश्य दूसरा

[वही कक्ष, वैसी ही व्यवस्था । तरुण के हाथ किसी नुकीली वस्तु से कटकर जख्मी हो गए हैं । डाक्टर मरहम पट्टी कर रहा है । मां अर्द्ध-मूर्छित अवस्था में से एक कुर्सी पर ढुलकी पड़ी है । किशोर उद्‌ग्र-सा डोल रहा है ।]

किशोर—ये क्या किया तुमने भैया ? तुम्हारे हाथ···· । माँ····माँ होश में आओ ।

तरुण—किशोर, मेरे इन हाथों ने कई जाने ली हैं । और अगर शांति बच पाई तो उसके भी हत्यारे ये ही होंगे ।

किशोर—अशुभ न बोलो भैया, शांति वहन जरूर बच जाएगी ।

तरुण (हताश स्वर में)—नहीं किशोर, नहीं । अब वह नहीं बच पाएगी । मुझे भी, तुम्हें भी, सभी को ऐसी ही मौत मर जाना होगा । एक विवश मौत ।

[एक नर्स आती है, डाक्टर को धीरे से कुछ कहती है]

प्रशांत—धीरज रखिए मि० तरुण, मिस शांति अब संकट से निकल चुकी हैं ।

[नर्स के साथ डाक्टर का प्रस्थान, तरुण व किशोर में उत्साह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जागता है, चेहरे खिल उठते हैं। वे अपनी अर्द्धचेता मां भी परि-चर्या करते हैं, नर्स मदद देती है। डाक्टर का प्रवेश]

तरुण व किशोर (एक साथ ही)—अब कैसी है वह ?

प्रशांत—मैं इंजेक्शन दे आया हूं। अभी थोड़ा विश्राम चाहिए।

अधेड़ा (थोड़ी स्वस्थ होकर)—शांति ! मेरी शांति !

प्रशांत—धीरज रखिए, अब वे खतरे से बाहर हैं। अभी कुछ देर में यहीं लाई जावेगी।

माँ (आश्वस्त होती है)—डाक्टर साहब ! आप देवता हैं।

प्रशांत—यह तो मि० तरुण व मि० किशोर की संकल्प शक्ति का प्रभाव है। मुझे तो खुशी है कि इतने आगे बढ़ आने पर भी शांति के लिए इनका स्नेह बरकरार रहा।

[शांति की अस्फुट आवाज आती है]

शांति—माँ ऽ ऽ ऽ भैया ऽ ऽ ऽ

तरुण (चिहुंक कर)—मां, शांति की चेतना लौट आई है।

किशोर (हर्ष से परिपूरित)—हां मां ! शांति बहन हमें पुकार रही है।

मां—गनीमत है तुम हत्यारों ने उसकी पुकार सुन ली। शांति की पुकार तुम्हारे बहरे कानों तक पहुंची तो !

डाक्टर वहां खड़ी नर्स को आदेश देता है, नर्स जाती है। स्ट्रेचर पर शांति लाई जाती है। तरुण ठठाकर हँस पड़ता है।

मां—क्या हुआ ? पागल हुआ है ?

प्रशांत - मि० तरुण आप स्वस्थ तो हैं ?

तरुण—मैं ठीक हूं डाक्टर ! हंसी तो इसलिए आई कि आज शांति स्ट्रेचर पर है।

प्रशांत—आप यह कोशिश करें कि इन्हें फिर इस स्थिति में न आना पड़े।

[शांति सभी को निहारती है। उसके चेहरे पर मुस्कान गिर जाती है]

किशोर (आर्द्र स्वर में)—शांति बहन ! हमें क्षमा कर दो।

शांति (द्रवित हो)—भैया !

तरुण—हां, शांति ! हम भटक गए थे। हमने अपने पास के कुतुबनुमा तोड़ दिए और दूरस्थ सितारों के सहारे दिशा खोजते रहे। जबकि हमें तारक मण्डल का ज्ञान भी नहीं है।

शांति—(उलाहना भरे धीमे स्वर में) ज्ञान के जो सोपान आपने अपनाए, वे कितने अपूर्ण थे, कितने खण्डित !

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तरुण—हां, शांति ! हम भ्रष्ट हो गए थे। (कुछ रुककर) अब कैसी हो तुम।

शांति [मां से]—मां तुम चुप क्यों हो, बोलती क्यों नहीं ?

मां (गद्गद् स्वर में)—ये लोग मुझे बोलने दें तब न। मैं तो हमेशा खामोशी से इन लोगों की करतूतें देखती रही हूं।

तरुण—मां, क्या अब तक तुमने हमें क्षमा नहीं किया ?

मां (हर्ष से परिपूरित हो)—आओ मेरे बच्चों; मेरे गले लग जाओ। लगता है मेरी आंखों में नयी रोशनी उभरी है।

[तरुण व किशोर करीब आते हैं। उनके माथे पर हाथ रखकर मां आशीष लुटाती हैं। शांति के चेहरे पर संतोष व खशी की लहर स्थित है। डा० प्रशांत मुस्कराते हैं।]

[पटाक्षेप]

◆ आकर इतना पास फिरे
वह सच्चा शूर नहीं है !
थक कर बैठ गये क्यों भाई !
मंजिल दूर नहीं है।

—दिनकर

◆ प्रायश्चित्त की तीन सीढ़ियाँ हैं—

१ आत्मग्लानि

२ फिर पाप न करने का निश्चय

३ आत्मशुद्धि

—जन्नैद बगदादी (बगदाद)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कौन करेगा यहां समन्वय ?

कौन करेगा यहाँ समन्वय ?
सब खोटे हैं, सभी खरे हैं,
सब मनके, जैसे बिखरे हैं,
धन में डूबे
मन में ऊबे,
दूध-धुले, कितने निखरे हैं।
पग पग दिखलाते नखरे हैं,
करते हैं, सत्ता का विनिमय।

० ०

पग पग पर संघर्ष पनपते,
सभी स्वार्थ की माला जपते,
इधर भ्रांति है,
उधर क्रांति है,
अपने घर में फिरते छिपते,
समाचार-पत्रों में छपते,
करते प्रभुता का क्रय-विक्रय।

० ०

एक पहेली बना धर्म है,
कालिख में, रंग चुका कर्म है,
किसका डर है,
अलग डगर है,
मां का घायल हुआ मर्म है,
चौराहों पर बिकी शर्म है,
कौन सत्य का करता अन्वय ?

० ०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सभी, एकता शंख बजाते,
समय-विहग के पंख जलाते,
कौन तपस्वी,
कौन मनस्वी,
सभी न्याय पर डंक चलाते,
कहां नीति का अंक सजाते,
सभी राष्ट्र-धन का करते व्यय।

० ०

भूत, भविष्यत्, वर्तमान क्या ?
तुला-दान में, तुला-मान क्या ?
मनुज गल रहे,
दनुज पल रहे,
हठधर्मी में, क्षमा-दान क्या ?
अज्ञानी को, ज्ञानवान क्या ?
काल-पुरुष का है किसको भय ?

० ०

मतभेदों की भूलभुलैया,
भटक रही भंवरों में नैया,
आसनवाले,
शासनवाले,
खेल रहे हैं चोर-सिपैया,
नाच दिखाते ताता-थैया,
देखें, कल होती किसकी जय ?

० ०

सत्य, अहिंसा का व्रत भूले,
दानवीर, महिमा पर फूले,
जनता आकुल,
जीवन व्याकुल,
झूल, कल्पना की सब झूलें,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सब है मिटते हुए बबूले,
सभी समझते, जय है निश्चय ।

० ०

उठो, समन्वय शंख बजायें,
भग्न-भूमि का भाल सजायें,
हरकर क्रन्दन,
भरकर वन्दन,
घर घर को हम स्वर्ग बनायें,
धरती को परिवार बनायें,
करें मनुज को कल से निर्भय ।

—सरस्वतीकुमार दीपक
३४ । ५८०, स्टेशन रोड, कुर्ला
बम्बई—७०

जब तू अपने को ही अपनी इच्छा के अनुकूल नहीं बना पाता है तो दूसरों से अपने इच्छानुसार बन जाने की आशा कैसे रख सकता है ?

—थोमस ए केम्पिस (ई० १३८०)

●

साधक तीन प्रकार के हैं—
१. विरागी
२. अनुरागी
३. कर्मयोगी

— संत हैहया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समन्वय के आधारभूत तत्त्व

● साध्वी श्री मंजुला

रेलवे पुल पर दो बकरियां दो भिन्न दिशाओं से आ रही थीं। अचानक गाड़ी आई और पुल पर खड़ी होगई। पुल के पास एक संकरी-सी पगडंडी थी। उस पगडंडी पर दोनों बकरियां आमने-सामने खड़ी होगई। कुछ क्षण वे परस्पर एक दूसरे को देखती रहीं। आँखों ने आंखों की भाषा समझ ली। एक बकरी सिकुड़कर वहाँ लेट गई। दूसरी धीरे से उस पर पांव रखकर निकल गई। मार्ग निराबाध था। लेटी हुई बकरी उठी और अपने गन्तव्य की ओर चल पड़ी।

यह है पशु जगत् की समस्या का एक सौहार्दपूर्ण समाधान, जो मनुष्य जगत् के लिए कड़ी चुनौती है। पशु सामाजिक प्राणी नहीं है। वैयक्तिक जीवन की मर्यादाएं कुछ भिन्न होती हैं। इस जीवन में एक-दूसरे के हितों की उपेक्षा हो सकती है ! किन्तु सामाजिक जीवन में वैयक्तिक हितों की अपेक्षा समूह-हित को अधिक महत्व प्राप्त है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है अत: उसके लिए अपने और समाज के हितों में सामञ्जस्य स्थापित करना बहुत जरूरी है। कुछ विन्दुओं पर व्यक्ति और समाज के हितों में टकराहट हो सकती है किन्तु समन्वय और समझोतावादी मनोवृत्ति से काम लिया जाए तो यह टकराहट बहुत कम हो सकती है।

समन्वय इस युग का बहुचर्चित शब्द है। राजनीति और समाजनीति की सफलता में इसे आधारभूत माना जा रहा है। ऐसी स्थिति में धर्मनीति के लिए यह दिशासूचक यन्त्र का काम कर रहा है। भटकन के समय व्यक्ति दिशा सूचक यन्त्र के सहारे मंजिल तक पहुंच सकता है। इसी प्रकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समन्वय के आधार पर सामाजिक जीवन में उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों को समाहित किया जा सकता है।

समन्वय का अर्थ अपने अस्तित्व का विलीनीकरण अथवा किसी दूसरे का अनुकरण नहीं है। भिन्न अस्तित्व, भिन्न आकार और भिन्न विचारों के परिवेश में जो भावात्मक एकता है, समरसता है, वही समन्वय है। इस समन्वय में जाति, भाषा, देश, वर्ग, वर्ण, सभ्यता और संस्कृति की भिन्नता दरार नहीं डाल सकती।

भिन्नता बुद्धि की निष्पत्ति है, मन की नहीं। बुद्धि से तर्क पैदा होता है। तर्क विश्लेष कर सकती है, पर संश्लेष की क्षमता उसमें नहीं है। संश्लेष मानसिक स्तर पर होता है। विविधता में मानवीय एकता की अनुभूति मानसिक स्तर पर ही हो सकती है। जहाँ मन की अपेक्षा बुद्धि प्रबल होती है, वहाँ एकता में भी भिन्नत्व की अनुभूति गहरी हो जाती है। इसलिए बौद्धिक विकास के साथ मानसिक विकास का सन्तुलन समन्वय की दिशा में सहायक बन सकता है।

समन्वय के भी कुछ आधारभूत मौलिक तत्व हैं, जो मनुष्य की चेतना में एकत्व का अनुभव कराते हैं। वे तत्व वैचारिक और मानसिक स्तरों के बीच का व्यवधान कम करते हैं। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ ये समन्वय के मौलिक सिद्धान्त हैं। इन्हें आधार मानकर चला जाए तो समूह चेतना में टकराहट हो ही नहीं सकती। सामूहिक जीवन की सरसता और एक दूसरे की निकटता प्राप्त करने के ये अमोघ साधन हैं। इनका समुचित उपयोग होने से ही समन्वय की कल्पना साकार हो सकती है।

मैत्री भावना समन्वय का मूलभूत सिद्धान्त है। इस भावना के अभ्यास से शत्रु भाव क्षीण होता है तथा दूसरे व्यक्ति, समाज, देश और राष्ट्र के सम्बन्धों में सुधार हो सकता है। मैत्री भावना के फलित हैं—

- सह अस्तित्व—स्वतन्त्रता, समानता
- सौहार्द
- निष्कलुषता
- मधुरता
- निश्छलता

प्रमोद का अर्थ है गुणों के प्रति अनुराग। किसी दूसरे के विकास को सहने के लिए इस भावना का अभ्यास बहुत आवश्यक है। इससे पारस्परिक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्बन्धों में सुधार होता है और गुणों के प्रति अनुराग होने से ग्राहक बुद्धि का भी विकास होता है। प्रमोद भावना के फलित हैं—

- अनीर्ष्या
- अद्वेप
- अजलन
- अस्पर्द्धा

कारुण्य भावना से तादात्म्य स्थापित किया जाता है। जिस व्यक्ति का मन करुणा से भरा रहता है, वह किसी दूसरे का अनिष्ट नहीं कर सकता। दूसरे का अनिष्ट उसकी दृष्टि में अपना अनिष्ट है। अपनी जानकारी में कोई व्यक्ति अपना अनिष्ट करना नहीं चाहता। तादात्म्य स्थापित होने के बाद एक दूसरे की आलोचना तथा दूसरे को हीन दिखाने की मनोवृत्ति स्वयं समाप्त हो जाती है।

कारुण्य भावना के फलित हैं—

- अहिंसा
- अनुकम्पा
- कोमलता
- सहानुभूति
- संवेदना
- शान्ति

माध्यस्थ भावना विचार परिष्कार में निमित्त बनतीं है। रागमूलक या द्वेप मूलक दृष्टिकोण यथार्थ को समझने में बाधक है। यथार्थ की अवगति के लिए तटस्थ द्रष्टा होना आवश्यक है और वह माध्यस्थ भावना से ही हो सकता है। माध्यस्थ भावना के फलित हैं—

- सहिष्णुता
- अनाग्रह
- असंघर्ष
- तनाव का अभाव
- उग्रता का अभाव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिन लोगों के मन में समन्वय की दिशा में काम करने की तड़प है, उन्हें वैचारिक भेद को अधिक महत्व न देकर असमन्वय के मूल को खोजना चाहिए और समन्वय के आधारभूत तत्वों को पुष्ट करना चाहिए। ये आधार जहाँ पुष्ट होते हैं वहाँ चाहे अनचाहे एकत्व स्थापित हो ही जाता है।

युग का तकाजा है कि बिखरी हुई शक्तियाँ केन्द्रित होकर काम करें। विघटित शक्तियों का मूल्य कम हो जाता है, क्योंकि वे परस्पर पूरक नहीं होती। शक्ति का समुचित उपयोग समन्वय में है। आज-अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर एकता का स्वर गूंज रहा है। ऐसी स्थिति में धर्म सम्प्रदायों पर कितना बड़ा दायित्व आता है जो एकता के क्षेत्र में आदर्श रहे हैं। धर्म के नाम पर अब तक जितना विघटन हुआ है, वह धार्मिक आदर्शों के प्रतिकूल है। धर्म के जो आदर्श धार्मिकों के जीवन से छूट रहे हैं उन्हें पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए चिन्तन और कार्य पद्धति को मोड़ देना आवश्यक है।

धार्मिक क्षेत्र में एकता अत्यन्त अपेक्षित है, किन्तु आधार शून्य एकता और समन्वय सफल नहीं हो सकते। इसलिए समन्वय के आधारभूत तत्वों पर ध्यान देना जरूरी है। समन्वय के आधार सुदृढ़ होंगे तो विचारों की भिन्नता होने पर भी सहअस्तित्व और सौहार्दपूर्ण वातावरण में कोई बाधा उपस्थित नहीं हो सकेगी।

ग्रीक दर्शन के आदिपुरुष सुकरात से किसी ने पूछा—
"जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए किन गुणों की आवश्यकता है?"

सुकरात ने कहा – "बुद्धि और श्रम इन दो गुणों की।"

"और महान बनने के लिए?"

केवल एक गुण – 'सत्यनिष्ठा' की"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

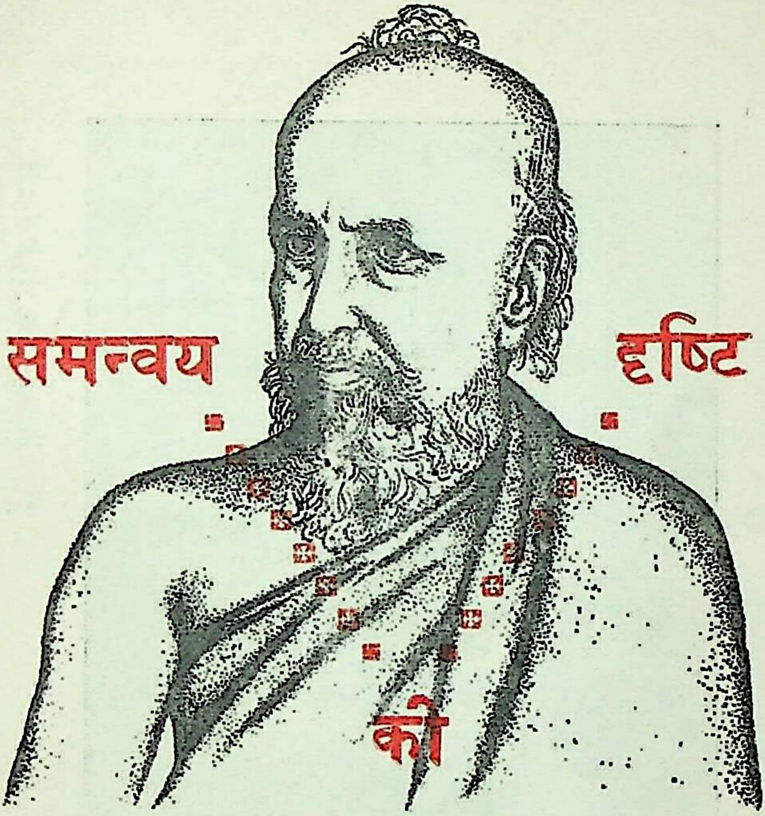

□ पुराने और नये को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि पुराना ही अच्छा है, नया सब खराब है या नया ही ठीक है पुराना सब खराब है यह तो मनुष्य के विवेक पर निर्भर करता है। मनुष्य विवेक की आँखों में देखें, परखें और फिर जो सत्य लगे उसे अपनाये।

□ मैं यह नहीं कहता कि जैन धर्म के सभी सम्प्रदायों का विलीनीकरण हो जाय! ऐसा होना दुःशक्य है। किंतु परस्पर समन्वयीकरण तो होना ही चाहिए। कम से कम,परस्पर में सद्भाव एवं सहयोगी तो अवश्य होना ही चाहिए। यही वर्तमान युग की माँग है। जैन एकता के पीछे मेरा यही दृष्टिकोण है।

□ जो लोग विरोधी बढ़ जाने के डर से या अपने सम्प्रदाय की पकड़ी हुई बात को चाहे वह आज अहितकर हो, छोड़ने में प्रतिष्ठा जाने का खतरा महसूस कर शरमाते हैं ………… वे सत्य के पुजारी नहीं, कुरूढ़ियों के पुजारी हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समन्वय की दिशा में :

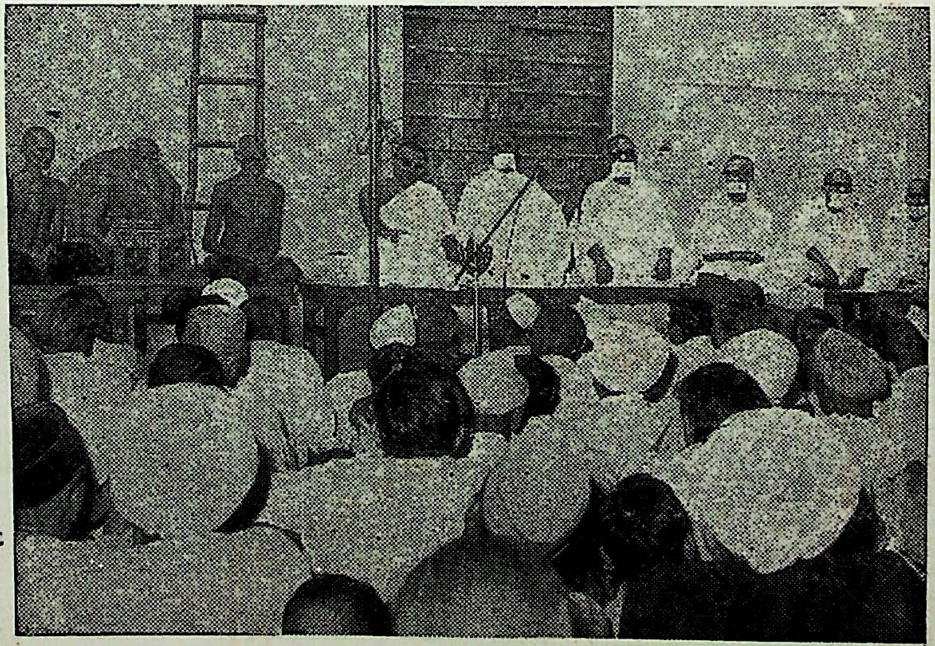

अजमेर में भारत जैन महामण्डल की शाखा के उद्घाटन समारोह में चारों सम्प्रदायों के जैन मुनि एक ही मंच पर।

बांये से दांये—दिगम्बर आचार्य श्री धर्मसागर जीं, श्वे. मूर्तिपूजक संत मुनि श्री मनोहरविजय जी, स्थानक-वासी संत श्री मूलमुनि जी एवं तेरा-पन्थी मुनि श्री बच्छराज जी आदि सन्त।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सांस्कृतिक एकता के
ऐतिहासिक दस्तावेज
हिन्दू-मुसलिम एकता की अलख जगाने वाले
भारत के साधु-संत

• अनवर आगेवान

हमारे यहाँ बहुत से ऐसे साधु-सन्त हुए, जिन्होंने हिन्दू-मुसलमान एकता को धार्मिक रूप दिया। इनमें एक कबीर थे, जो किसी विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे और एक मुसलमान जुलाहे ने उन्हें पाला था। उन्होंने काशी में अपना सत्संग शुरू किया और हजारों अनुयायी-शिष्य तैयार किये जो हिन्दू-मुसलमान दोनों थे। वे जात-पांत के विरोधी वेद-पुराण और कुरान सभी को गौण मानते थे। उन्होंने केवल सत्य, प्रेम और मनुष्यत्व को मुख्य मानकर, हिन्दू मुसलमान दोनों को समान धर्मोपदेश दिया—

हिन्दु कहूं तो मैं नहीं, मुसलमान भी नाँहि।
पांच तत्व का पुतला गैबी खेले मांहि।

पंजाब में नानक जैसे महान सन्त ने एकता और प्रेम का धर्मोपदेश दिया और हिन्दू मुसलमान दोनों के लिए अपना धर्म खुला रखा—

बन्दे एक खुदाय दे, हिन्दू-मुसलमान।
दावा राम-रसूल कर, लड़दे बेईमान।

×

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ना हम हिन्दू ना मुसलमान दोनो बीच बसे शैतान ।

एकै एकी, एक सुभान,
गुरुजी कहिया सुन अब्दुरर्हमान
दावा-भूलो तो इश्क पिछाण ।

यहां स्मरण रखने योग्य बात है कि १५वीं शताब्दी में सभी सम्प्रदायों और साधुओं का जन्म हिन्दू-मुसलमान एकता के संघर्ष से हुआ । अकबर के दीने-इलाही मत की भित्ति भी प्रेम और धार्मिक एकता का सिद्धान्त ही है । अकबर ने स्वयं वैष्णव धर्म को स्वीकार किया था । इसी प्रकार स्वामी नारायण धर्म को मुगल बादशाह मुहम्मदशाह ने स्वीकार किया था । बादशाह मुहम्मदशाह का दस्तखती परवाना अभी तक इस संप्रदाय के मुख्य मठ "बलिया" में मौजूद है ।

बंगाल में भगवान चैतन्य के शिष्यों में कार्तबाबा नामक एक मुसलमान साधु ने कार्तमज संप्रदाय चलाया । इनके २२ शिष्य "बाइस फकीर" के नाम से प्रसिद्ध थे । जिनका मुखिया समदुलाल था । इस मत के लोग एक ईश्वर को मानते थे । जात-पांत, ऊंच-नीच, हिन्दू,-मुसलमान आदि के किसी भेद को नहीं मानते थे । संप्रदाय के सब लोग साथ मिलकर भोजन करते थे ।

महाराष्ट्र में भी तत्कालीन समाज पद्धति पर हिन्दू-मुसलमान एकता का गहरा प्रभाव पड़ा । महादेव गोविन्द रानाड़े के शब्दों में—"इस्लाम का एकैश्वरवाद साधु-संतों के चित्त में घर कर गया था । हिन्दू-त्रिमूर्ति-दत्तात्रेय के उपासक उनकी मूर्ति को मुसलमान फकीर के से कपड़े पहनाते थे । महाराष्ट्र की जनता के दिलों में यह प्रभाव जोरों से काम कर रहा था । वहां पर ब्राह्मण और अब्राह्मण दोनो के प्रचारक लोगों को उपदेश दे रहे थे कि राम और रहीम को एक समझो, कर्मकांड और जाति-भेद के बन्धन तोड़ दो, ईश्वर में विश्वास और मनुष्य-मात्र के साथ प्रेम से मिलकर सब अपना एक धर्म बनाओ ।

नामदेव के शिष्यों में मुसलामन, ब्राह्मण, मराठा, कुर्मी, चमार, ढेढ़, भंगी और वारांगनाएं तक थी । नामदेव जाति-भेद, धर्म-भेद और ऊँच-नीच आदि किसी को नहीं मानते थे । सबको समान रूप से देखते थे ।

बहिराम भट्ट तो हिन्दू से मुसलमान और मुसलसान से हिन्दू, फिर मुसलमान-दो दफे हुए । फिर वे धर्म व संप्रदाय से परे थे । उन्होंने कहा है—न मैं हिन्दू हूं और न मुसलमान ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रसिद्ध सन्त शेख मुहम्मद के अनुयायी मक्का और मण्डलपुर के मंदिर दोनों की यात्रा करते, रोजा और एकादशी व्रत रखते थे। सन्त तुकाराम भी ऐसे ही महात्मा थे।

इस दृष्टि से हम देखें तो मजहब के झगड़े झूठे हैं। सब की इबादत के तरीके अलग हो सकते हैं, किन्तु सबका मकसद एक है। अतः इंसान-इंसान के बीच जो दीवारें बनी हुई हैं। जो भेद बने हुए हैं। वे सारे बनावटी हैं। उन्हें मिट जाना चाहिए—

राम कहो या रहीम कहो दोनों की गरज अल्लाह से है।
इश्क कहो या प्रेम कहो मतलब तो उसी की चाह से है।

संपूर्ण-दृष्टि

हिमालय के सबसे ऊँचे शिखर 'एवरेस्ट' पर चार दिशाओं से चढ़ने वाले चार दलों ने अपने द्वारा लिए गए हिमालय के चित्रों को प्रस्तुत किया। प्रत्येक दल ने अपने द्वारा प्रस्तुत चित्रों के साथ यह नोट भी लिख दिया कि वास्तव में 'एवरेस्ट' का स्वरूप वही है, जो हमारे चित्र में प्रस्तुत है।

पर्वतारोहण दल के अध्यक्ष ने चारों चित्रों को ध्यानपूर्वक देखा, और उनसे कहा, कि चारों दिशाओं से लिए गए एवरेस्ट के चित्रों की अपनी-अपनी विशेषता है। प्रत्येक ओर का दृश्य एवरेस्ट के एक पक्ष को प्रस्तुत करता है, सम्पूर्ण एवरेस्ट को नहीं। सम्पूर्ण ऐवरेस्ट के सौन्दर्य का अवलोकन करना हो, उसकी सुषमा को निहारना हो, तो चारों दिशाओं के लिए गए चित्रों का समन्वय करके, उनको एक साथ रखकर एक चित्र खींचो—वही एवरेस्ट का सही और पूरा चित्र होगा।

वस्तु का एक पक्ष सत्य का एक अंश है, सम्पूर्ण सत्य नहीं। सब पक्षों का समन्वित रूप ही पूर्ण सत्य हैं। इसलिए वस्तु का यथार्थ स्वरूप सापेक्ष एव समन्वयात्मक दृष्टि से अथवा अनेकान्त दृष्टि से ही समझा जा सकता है।

—मुनि समदर्शी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

***

गी त

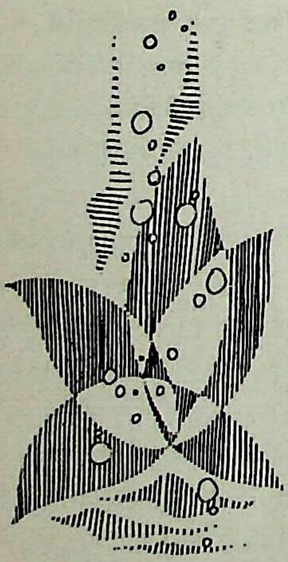

● नामवर
एम० ए० पब्लिक स्कूल
अंधेरी, बम्बई-५८

इतना ज्यादा शोर !
और फिर—
इतनी ज्यादा तनहाई !
कोई कैसे यहाँ रहे ?

थोड़ा आसमान मिल जाता
थोड़ी - सी धरती !
चैन बसा लेता घर अपना
प्यास नहीं मरती ।।

ऊंचाई नभ की छूते ही—
धरती दरकाई ।
कोई कैसे यहां रहे ?

सम्वन्धों में शर्त घुली है
नामों की सब छलना है ।
अपने से आगे सब बहरे
इन बहरों को सहना है ।।
इतने मोल-भाव के पीछे—
इतनी बाजे शहनाई ।
कोई कैसे यहाँ रहे ?

सत्य जहां निर्वासन पाए
झूठ सुखों का स्वामी है ।
जहां स्वार्थकी हरसाजिश में
शक्ति बनी अनुगामी है ।।
स्वाभिमान हो दुःखी जहाँ पर —
मौज उड़ाए हरजाई !
कोई कैसे यहां रहे ?
इतना ज्यादा शोर
और फिर—
इतनी ज्यादा तनहाई !
कोई कैसे यहां रहे ?

●●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

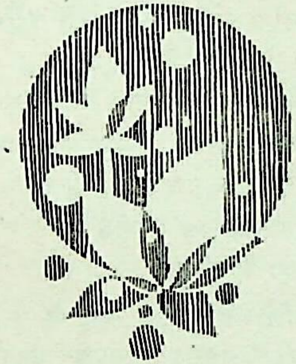

अनेकान्तवाद

एक दार्शनिक समन्वय-सिद्धान्त

प्रो. उमेशदत्त शुक्ल एम. ए. बी. एड
दर्शनविभाग,
काशी विश्वविद्यालय

भारतीय दर्शन के इतिहास में बौद्ध दर्शन की तरह जैन दर्शन को भी नास्तिक मत माना गया है, परन्तु यह मत बौद्ध दर्शन की अपेक्षा अधिक आध्यात्मिक और नैतिक है। आध्यात्मिकता और नैतिकता पर अधिक बल देने के कारण इस दर्शन को नास्तिक दर्शनों की श्रेणी में रखना बहुत युक्तियुक्त इसलिए भी प्रतीत नहीं होता कि ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करने मात्र से ही किसी मत को नास्तिक कहने की परम्परा भारतीय दर्शन की परम्परा नहीं है। इसके प्रमाण-स्वरूप सांख्य और मीमांसा दर्शन का उल्लेख किया जा सकता है, जिनकी गणना ईश्वर की सत्ता अस्वीकार करने पर भी नास्तिक दर्शनों की श्रेणी में नहीं की जाती। फिर भी यदि जैन दर्शन को नास्तिक दर्शन कहा जाता है तो यह आस्तिक कहे जाने वाले दार्शनिक सम्प्रदायों का वैदिक पूर्वाग्रह कहा जा सकता है।

प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय का महत्व उसके ज्ञानविषयक सिद्धान्त की प्रौढ़ता पर आधारित होता है। जैन दर्शन का ज्ञान-सिद्धान्त, प्रौढ़

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यापक तथा समन्वयात्मक है और इस व्यापकता का आधार इसका वह सिद्धान्त है जिसे स्याद्वाद, अनेकान्तवाद आदि के साथ ही ज्ञान की सापेक्ष्यता का सिद्धान्त कहा जाता है। जिस समय इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया था उस समय यथार्थता का बोध और उस बोध का निर्वचन तीन विभिन्न प्रकारों में किया जाता था। कुछ यथार्थता का निर्वचन 'अस्ति' के रूप में करते थे, कुछ 'नास्ति' के रूप में। इन दोनों प्रकार के विचारकों से भिन्न मत रखने वाले अन्य विचारक थे जिनकी मान्यता थी कि यथार्थता का अनुसन्धान नहीं किया जा सकता और इसलिए यथार्थता का निर्वचन न तो 'अस्ति' के रूप में किया जा सकता है और न 'नास्ति' के रूप में। इनके अनुसार यथार्थता 'अवक्तव्य' मानी गई।[१] उपर्युक्त तीनों दृष्टिकोणों में से प्रथम दृष्टिकोण सांख्य दर्शन का है, दूसरा नैरात्म्यवादी बौद्ध दर्शन का। तीसरे प्रकार का दृष्टिकोण औपनिषदीय शिक्षा के एक पक्ष का है।[२]

जैन मत के अनुसार उपर्युक्त तीनों दृष्टिकोणों में से एक भी पूर्णतः सही नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण यथार्थता वह नहीं है जिसका निर्वचन उपर्युक्त में से किसी भी दृष्टिकोण के द्वारा किया जाता है। इनके द्वारा यथार्थता के जिस स्वरूप का निर्वचन किया जाता है वह अयथार्थ नहीं, वरन् एक पक्ष्यीय है इसलिए दर्शन के क्षेत्र में यथार्थता के स्वरूप के सम्बन्ध में यदि एक ओर सत्, अपरिणामी, नित्य, कूटस्थ, परात्पर आदि निर्वचन प्राप्त होते हैं तो दूसरी ओर अनेक, क्षणिक, शून्य आदि के निर्वचन भी मिलते हैं। यथार्थता के स्वरूप के संबंध में इन विसंगतियों को देखते हुए जैन विचारकों ने उक्त दृष्टिकोणों को यह कह कर अस्वीकार किया कि वे एकान्तिक हैं क्योंकि प्रत्येक दृष्टिकोण यथार्थता का ग्रहण एक ही प्रसंग कर सका है तथा संबंधित परामर्श की सत्यता उसी प्रसंग के अनुसार होती है जिसके साथ उसकी कल्पना हुई रहती है। समग्र रूप में विचार करने पर ज्ञात होता है कि कोई भी दृष्टिकोण यथार्थता के स्वरूप के एक पक्ष को ही प्रस्तुत कर सका है।

इस अस्वीकृति के मूल में जैन मनीषियों की सत् संबंधी मान्यता है। जैन मत में सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य (उत्पत्ति, विनाश और नित्यत्व)

---

१. अमीषामेव त्रयाणां मुख्यत्वात् शेषा भंगानां च संयोगजत्वेन अमीष्वेव अन्तर्भावः। (स्याद्वाद मंजरी, पृ० १९५, बम्बई संस्करण)

२. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सः।

(तैत्तिरीय उपनिषद्, २-४)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से संयुक्त माना गया है[1]। इन विरोधी धर्मों से युक्त होने के कारण सत् किसी एक प्रसंग में निर्वचनीय नहीं हो सकता। सत् के उपर्युक्त स्वरूप से क्षेत्र का स्वरूप भी व्युत्पन्न किया गया है और उसी प्रकार तत्व को[2] भी। यह वस्तु या द्रव्य स्वयं के अनन्त धर्मों से युक्त होते हुए भी स्वतंत्र है। द्रव्य वह है जिसमें गुण और पर्याय[3] हों। इन अनंत धर्मों में से कुछ धर्म अनिवार्य और नित्य हैं तथा अन्य धर्म आगन्तुक और परिवर्तनशील हैं। अनिवार्य और नित्य धर्म गुण या स्वपर्याय कहे जाते हैं। द्रव्य और गुणों में अपृथकसिद्ध संबंध है, क्योंकि गुण द्रव्य के नित्य स्वरूप के परिचायक हैं और द्रव्य से भिन्न उनका अस्तित्व नहीं रह सकता। आगंतुक धर्म या पर्यायों को परपर्याय भी कहा जाता है। परपर्याय द्रव्य का अन्य द्रव्यों से पार्थक्य सूचित करते हैं अतः ये अभावात्मक हैं। ये धर्म भावात्मक गुणों की अपेक्षा संख्या में अधिक होते[4] हैं।

गुणों और पर्यायों के प्रसंग में विचार करने पर द्रव्य वास्तव में अनन्त हो जाता है। द्रव्य की अनन्तता तब और भी बढ़ जाती है जब काल के प्रसंग में इन धर्मों का अनुसन्धान किया जाता है। कालक्रमानुसार द्रव्य में नित नवीन परपर्यायों की उत्पत्ति होती रहती है और द्रव्य वही बने रहते हुए भी, ज्ञान की दृष्टि से उसकी अनन्तता अक्षुण्ण बनी रहती है। ऐसे अनन्त धर्मों से संयुक्त द्रव्य का एक ही धर्म के प्रसंग में किया गया निर्वचन एकदेशीय ही कहा जायगा क्योंकि उसके संबंध में अनेक परामर्शों की सम्भावना है।

द्रव्य के स्वरूप के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि जैन विचारकों की दृष्टि में यथार्थता का स्वरूप 'अभेद में भेद' ही नही प्रत्युत् 'भेद में अभेद' भी है। पर्यायों के प्रसंग में विचार करने पर एक समग्र यथार्थता अनेक, क्षणिक और अयथार्थ हो जाती है, अभेद में भेद और एकता में अनेकता का दर्शन होता है। उसके विपरीत, जब द्रव्य के प्रसंग में विचार किया जाता

---

१. उत्पादव्ययध्रौव्य संयुक्त सत्। (तत्वार्थ सूत्र, ५-२९)
२. अनन्तधर्मकं वस्तु। अनन्तधर्मात्मकमेव तत्वम्। (अन्ययोग व्यवच्छेदिका)
३. गुण पर्यायवद् द्रव्यम्। (तत्वार्थ सूत्र, ५-३७)
४. स्तोकाः स्वपर्यायाः, परपर्यायस्तु व्यावृत्तिरूपा अनन्ता, अतन्तेभ्यो दव्येभ्यो व्यावृत्तित्वात्।
(षड्दर्शन समुच्चय, गुणरत्नटीका. श्लोक ५५)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है तब यथार्थता एक, नित्य और यथार्थ प्रतीत होती है। भेद में अभेद और अनेकता में एकता स्थापित होती प्रतीत होती है[1]। अतः समग्र यथार्थता का विचार न तो पर्याय-प्रसंग में पूर्ण है और न द्रव्य-प्रसंग में। द्रव्य, गुण और पर्याय के प्रसंग में ज्ञात ज्ञान ही समग्र यथार्थता का पूर्ण ज्ञान है। अनन्त धर्मों के ज्ञान के बिना एकदेशीय ज्ञान अज्ञान तो नहीं है पर वह समग्र यथार्थता का ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता।

स्पष्ट है कि सामान्य जन के लिए द्रव्य के सम्पूर्ण धर्मों को जान सकना सम्भव नहीं है। सम्पूर्ण प्रसंगों में द्रव्य का ज्ञान उसके अनन्त धर्मों का ज्ञान है, और जो ऐसा जानता है वह सर्वज्ञ है, केवली है। इसीलिए जैन विचारक कहते हैं कि जो किसी द्रव्य के सम्पूर्ण धर्म जानता है वह सम्पूर्ण वस्तुओं के सम्पूर्ण धर्म जानता है, तथा जो सम्पूर्ण वस्तुओं के सम्पूर्ण धर्मों को जानता है वह एक वस्तु के सम्पूर्ण धर्मों को जानता है[2]। वह सर्वज्ञ हैं यही सिद्धावस्था है जिसे आचार्य हेमचन्द्र **'न वीतरागात् परमस्ति दैवतम्'** कहते हैं। किसी प्रसंग विशेष में किसी वस्तु का ज्ञान उस वस्तु के सम्पूर्ण गुणों और पर्यायों का ज्ञान नहीं है और इसलिए ऐसे ज्ञान के ज्ञाता को सर्वज्ञ कैसा माना जा सकता है? अनेकान्त को एकान्त में सीमित करने के कारण ऐसे ज्ञाता एकान्तवाद से ग्रस्त होकर और एक देशीय ज्ञान को सम्पूर्ण यथार्थता का ज्ञान मानकर भ्रान्त होते हैं।

वेदान्त और बौद्धमत उल्लेखनीय विचारधाराएँ थीं जो एकान्तवाद से ग्रस्त थीं। वेदान्त के अनुसार यथार्थता या सत् एक, नित्य और यथार्थ है। बौद्धमत ने उसके विपरीत अनेकता, क्षणिक और अयथार्थता का प्रतिपादन किया। जैनमत के अतिरिक्त सभी दार्शनिक सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में एकान्तवादी हैं क्योंकि सभी किसी प्रसंग विशेष में ज्ञात धर्म को सम्पूर्ण यथार्थता का ज्ञान मान कर नय भाषा में उलझ जाते हैं।

जैन दार्शनिकों की यथार्थता सम्बन्धी मान्यता से स्पष्ट होता है कि

---

१. सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च।
स्वरूपेण सत्वात् पररूपेण चासत्वात् ॥ और भी—
स्वरूप द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैः सत्वं, पररूपद्रव्य-क्षेत्र-काल भावैः तु असत्वम्। (स्याद्वाद मंजरी, पृ० १७६-७)

२. एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यथार्थता का स्वरूप अत्यन्त अनियत है और इसलिए उसका साग्रह निर्वचन करना नयभाषा या भ्रान्तिग्रस्त होता है। इसलिए जो सर्वज्ञ या केवली नहीं हैं उन्हें साग्रह कथन से बचने के लिए अपने प्रत्येक परामर्श में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करना चाहिए। स्यात् शब्द से संयुक्त सात प्रकार के नयों[1] के द्वारा ही अनन्तधर्म संयुक्त वस्तु की सम्पूर्ण यथार्थता का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। स्यात् को शायद के अर्थ में ग्रहण किया जाता है, इसलिए इस सिद्धान्त को 'शायद का सिद्धान्त' भी कहते[2] हैं। स्याद्वाद के अतिरिक्त इस सिद्धान्त को अनेकान्तवाद और सप्तभंगीनय भी कहते हैं। नय विचार का वह दृष्टिकोण है जिससे हम किसी वस्तु के विषय में परामर्श देते हैं[3]। सम्पूर्ण सत्य ज्ञाता के दृष्टिकोण का सापेक्ष्य है। किसी वस्तु के अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म का एकपक्षीय ज्ञान 'नय' कहलाता है।

यह सप्तभंगी नय जैन दर्शन का एक विलक्षण सिद्धान्त है। इसकी विलक्षणता इसकी इस सामर्थ्य में निहित है कि सात चरणों में किए गए निर्वचन के द्वारा यह सिद्धान्त वस्तु के अनन्त धर्मों की व्याख्या कर देता है। सप्तभंगी नय के सात चरणों में से किसी एक के द्वारा ज्ञेय का स्वरूप सम्पूर्ण रूप में स्पष्ट नहीं होता क्योंकि उसमें वर्तमान वैविध्य का निर्वचन सात नयों में से प्रत्येक के द्वारा हो सकता है। न तो एकान्त निषेध यथार्थ है और न एकान्त विधेय। जैन मत में अनेक (सम्भवत: छह) अन्धों के द्वारा एक हाथी को स्पर्श करके उसकी आकृति के वर्णन की कथा इस प्रसंग में स्मरणीय है। तत्व का स्वरूप अत्यन्त जटिल है और सूक्ष्मता से ग्रहण किया जा सकता है। यह सूक्ष्मता एकन्तवाद में नहीं, अनेकान्तवाद में है। जैनमत के आचार्यों ने देखा कि सम्पूर्ण दार्शनिक, वैचारिक और धार्मिक मतवैभिन्य और विवाद इसी एकान्तवाद के अवलम्बन के कारण हैं। इस-मतवैभिन्य और दार्शनिक तथा धार्मिक विवादों को शान्त करने तथा

---

१. सप्तभंगी नय के सात चरण ये हैं—१. स्यात् अस्ति, २. स्यात् नास्ति, ३. स्यात् अस्ति च नास्ति च. ४. स्यात् अवक्तव्य:, ५. स्यात् अस्ति च अवक्तव्य: ६. स्यात् नास्ति च अवक्तव्य: ७, स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्य:।

२. भारतीय दर्शन की रूपरेखा—एम० हिरियन्ना।

३. एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मत:।
(न्यायावतार—२९)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकान्तिक मतों के मध्य समन्वय स्थापित करने की दिशा में अनेकान्तवाद का प्रतिपादन जैनाचार्यों का एक सफल प्रयास है।

एकान्तवादी मतों के तत्तत् नयों को स्याद्वाद के सूत्र में पिरोकर जैनाचार्यों ने अपनी समन्वयात्मक प्रवृत्ति से सत् के ज्ञान का मार्ग प्रशस्त किया। आचार्य यशोविजय कहते हैं कि जैनों की यह दृष्टि उत्कृष्ट है क्योंकि यह सभी नयों से गुम्फित है। अनेकान्तवाद निष्पक्ष है और सभी नयों के साथ उसका उसी प्रकार समता का भाव है। जिस प्रकार पिता का अपने सभी पुत्रों पर होता है।[1] आचार्य हेमचन्द्र अनेकान्तवाद की समन्वयात्मक वृत्ति के विषय में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जैन मत ही निष्पक्ष है क्योंकि यह सभी एकान्तिक नयों को एक साथ रखता है; जबकि अन्य सम्प्रदाय सापेक्ष्य और ऐकान्तिक हैं और एक दूसरे से मत्सरता में उलझे रहते हैं।[2]

अनेकान्तवाद की व्याख्या करते हुए डॉ० चन्द्रधर शर्मा ने यथार्थ ही कहा है कि यह सिद्धान्त जैन दर्शन को व्यापक, उदारचेता और सहिष्णु बनाता है। यह अन्य मतावलम्बियों के दृष्टिकोणों का सम्मान करने की शिक्षा देता है।[3]

भगवान महावीर ने भिक्षुओं को सम्बोधित करके एकबार कहा था—"नो पूयणं चेव सिलोयकामी" भिक्षुओ! यश और पूजा प्राप्त करने की अभिलाषा मत करो।

---

१. जैनीदृष्टिरितीह सारतरता प्रत्यक्षमुद्वीक्ष्यते।
यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव ॥ (अध्यात्मसार—६१)

२. अन्योन्यपक्ष प्रतिपक्षभावाद् यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः।
नभावशेपानविशेपामिच्छन् न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥
(अन्ययोग—३०)

३. डॉ चन्द्रधर शर्मा-इण्डियन फिलासफी-पृ० ५८, प्रथम संस्करण।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुनियां का कोई भी धर्म लड़ना और घृणा फैलाना नहीं सिखाता, फिर भी धर्म के नाम पर लड़ाईयां होती रही हैं, घृणा फैलती रही है……

पीठिका'

भारत एक राष्ट्र है। बंगाल, बिहार, उत्तर-प्रदेश तमिलनाडु, महाराष्ट्र, पंजाब आदि प्रदेश इस राष्ट्र रूपी शरीर के अवयव हैं। इन सभी प्रांतों में अलग-अलग रहन-सहन भाषा-भाषी और मत-मतान्तरों को मानने वाले लोग रहते हैं। ये लोग 'भारत एक राष्ट्र' की भावना से अनुप्राणित हैं पर कुछ लोग अपने क्षुद्र स्वार्थों के वशीभूत

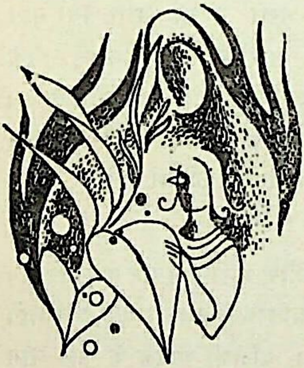

भारत में साम्प्रदायिक उन्माद कारण और उपचार

● श्रीमती शांता भानावत एम० ए०
रिसर्च स्कॉलर, जयपुर

होकर छोटी-छोटी समस्याओं को लेकर इन सरल स्वभावी लोगों को भड़का देते हैं, फलस्वरूप दंगे होने लगते हैं जिनमें कितनी ही माताओं की गोद सूनी हो जाती है, कितनी ही बालाओं की मांग का सिन्दूर मिट जाता है, इन्सानी लहू से सड़कें रंग जाती हैं। हिंसा भड़कती है और आगजनी, लूटपाट आदि से राष्ट्र की लाखों करोड़ों की सम्पत्ति नष्ट हो जाती है।

सन् १९६७ के आम चुनावों के बाद से अब तक देश में कुल मिलाकर मुख्यतया ११ साम्प्रदायिक दंगे हो चुके हैं। इन दंगों में हुई जन, धन की अपार हानि ने हर विचारशील मानव को इन साम्प्रदायिक दंगों के उन्मूलन के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्बन्ध में चिन्तन करने को बाध्य कर दिया है। प्रश्न है—ऐसे साम्प्रदायिक दंगे क्यों होते हैं ? यहां कुछ कारणों की ओर संकेत करना आवश्यक है।

कारण

इन दंगों को उभाड़ने का सबसे बड़ा कारण क्षुद्र राजनैतिक स्वार्थ है। देश के राजनैतिक दल अपनी सत्ता और कुर्सी बनाये रखने के लिये समाज के विभिन्न सम्प्रदायों में वर्ग विशेष या जति विशेष की भावनाओं को उभार कर उनमें परस्पर तनाव पैदा करते हैं। जिससे समाज में गड़बड़ी होने लगती है। वर्ग विशेष अपने पीछे राजनैतिक दल की शक्ति पाकर कर्तव्याकर्त्तव्य की भावना न सोच मनमानी करने पर उतारू हो जाते हैं। फलस्वरूप समाज को हानि उठानी पड़ती है जिससे देश का अहित होता है।

साम्प्रदायिक दगों को पनपाने का दूसरा बड़ा कारण है देश में बढ़ती हुई बेरोजगारी, भुखमरी और गरीबी। भारत की जनसंख्या तो दिनों दिन बढ़ती जा रही है पर उसकी तुलना में लोगों को रोजगार उपलब्ध नहीं हो रहे हैं। 'खाली दिमाग शैतान का घर होता है।' फिर भूखों मरता व्यक्ति क्या नहीं करता ? देश में एक ओर भूखे मरते मां-बाप और भूख से बिलखते उनके बच्चे हैं तो दूसरी ओर हैं गगनचुम्बी अट्टालिकाओं में जलते घी के दीपक। जनता कहां तक बर्दाश्त करे इस वैषम्य स्थिति को। फलस्वरूप दिल में बदले की भावना जाग उठती है और नक्सलवादी जैसी प्रवृत्तियाँ अवसर पाकर मुँह बायें खड़ी हो जाती हैं।

भाषा के नाम पर भी आजकल लोगों में संकीर्ण मनोवृत्ति घर कय रही है। संविधान में यद्यपि राष्ट्रभाषा के पद पर हिन्दी प्रतिष्ठित कर दी गई है तथापि व्यवहार में उसे वह गौरव प्राप्त नहीं हुआ है। दक्षिणी भारत के कुछ लोग हिन्दी के व्यवहार को 'भाषायी साम्राज्यवाद' का नाम देकर राष्ट्र भाषा की मूलभूत चेतना को ही मिटा देना चाहते हैं। हिन्दी का सभी भारतीय भाषाओं के साथ भगिनीवत व्यवहार है। वह किसी को अपदस्थ कर उनका स्थान नहीं लेना चाहती। उसका विरोध केवल अंग्रेजी भाषा से है पर अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए व्यर्थ ही भाषा के नाम पर उपद्रव फैलाते हैं। इससे राष्ट्र की नदी का पानी गंदला गया है।

धर्म के नाम पर भी लोगों में संकीर्णता पनप रही है। धर्म जैसे सर्व श्रेयकारी तत्त्वों में भी साम्प्रदायवाद की भावना इतनी अधिक प्रबल हो गई कि एक धर्मावलम्बी को दूसरे धर्मावलम्बी से ईर्ष्या होने लग गई है। वे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आपस में एक दूसरे के धर्म पर छींटाकशी करते रहते हैं। इससे परस्पर भेद भाव और बढ़ता जाता है। भारत में बसने वाली दो पुरानी जातियों हिन्दू और मुसलमानों के बीच आये दिन काफी तनावपूर्ण स्थिति पैदा हो जाती है। गाँवों और शहरों में छोटी-छोटी वातों को लेकर स्वार्थी लोग इसमें झगड़े पैदा करवा देते हैं।

इस आपसी फूट के कारण ही आज हमारा देश उन्नति तो करना चाहता है पर कर नहीं पाता है। हर राज्य और करीव-करीव हर जिले में साम्प्रदायिकता का यह राक्षस मुँह फाड़े खड़ा है। वह हमारी सुख, शान्ति और उन्नति को नष्ट कर हमें अवनति के गर्त में धकेलना चाहता है। हमारी वसी वसायी फुलवाड़ी को उजाड़ देना चाहता है। कुछ विदेशी शक्तियाँ भी इस स्थिति का लाभ उठाती हैं।

उपचार

ऐसी दशा में आज हमारे देश को कौमी एकता की सबसे अधिक आवश्यकता है। हमारा राष्ट्र भांति-भांति की बोलियां बोलने वालों, भांति-भांति के धर्म मानने वालों, और भांति-भांति के रस्म ओर रिवाज पर चलने वालों से बना है, इसमें कोई छोटा और बड़ा नहीं है। सब एक हैं सभी का पालन पोषण भारत माता की गोद में हुआ है। फिर क्यों हम एक दूसरे पर कड़ी नजर रक्खें ? क्यों हम एक दूसरे को तीखी चितवन से देखें।

छोटी-छोटी बातों और धर्म के नाम पर हम भारतीयों हिन्दुस्तानियों को आपस में लड़ना शोभा नहीं देता। दुनियां का कोई भी मजहव घृणा और दुश्मनी नहीं सिखाता। हमें सभी धर्मों की अच्छाइयों को ग्रहण करना चाहिये। हमें सबसे पहले यह सोचना चाहिए कि 'हम भारतीय हैं'—

मजहब नहीं सिखाता आपस में वैर रखना।
हिन्दी हैं हम वतन है, हिन्दोस्तां हमारा ॥

साम्प्रदायिक तनाव, मतभेद और दंगे आदि ऐसे लोगों द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं जो स्वार्थी और पाखंडी होते हैं। जिनमें इन्सानियत नहीं होती। निजी हितों के लिये की गई उनकी यह कारगुजारी समाज के दो सम्प्रदायों के बीच मुठभेड़ करा देती है। जिसमें हिंसा का डटकर मुकावला होता है और होता है हैवानियत का नंगा नाच। समाज में अनुशासनहीनता फैलने लगती है और बढ़ने लगती है अराजकता। इसलिए साम्प्रदायिकता की जड़ें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उखाड़ फेंकने के लिए उसके खिलाफ सख्ती और मुस्तैदी से कार्यवाही करनी होगी। केवल मात्र प्रस्ताव पास करने से ही समाज के रग-रग में व्याप्त इस जहर को समाप्त नहीं किया जा सकता।

इसके लिये सर्वप्रथम हिन्दू-मुसलमान का भेद मिटाना होगा। यह प्रयास करना होगा कि समाज में केवल इन्सान होंगे, न हिन्दू और मुसलमान। आपस में घृणा, तनाव और वैमनस्य की जगह प्रेम, भाईचारा और सहयोग का बर्ताव करना होगा अन्यथा सफलता नहीं मिल सकेगी।

साम्प्रदायिकता की भावनाओं के समूल नाश के लिये गरीब अमीर के भेद को दूर करने के लिये यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय स्तर पर भ्रष्टाचार से दूर रहने वाले व्यक्तियों का एक संगठन कायम किया जाये, जो विभिन्न वर्गों में धर्म निरपेक्षता, सद्भाव, प्रेम, सहयोग, भाईचारा सहिष्णुता जैसे भाव पैदा करे।

सरकार को भी चाहिये कि जो व्यक्ति विभिन्न सम्प्रदायों में विरोधी भावना उभाड़कर, दंगे-फिसाद करके समाज में हिंसा लूटपाट, आदि मचाने की कुचेष्टा क़रे, उसे कठोर दंड दे। उसके प्रति कोई रियायत नहीं बरते। चाहे वह व्यक्ति कोई गरीब हों या अमीर, मंत्री हो या विधायक।

कांग्रेस सरकार ने अन्य दलों के सहयोग से साम्प्रदायिकता के खिलाफ युद्ध स्तर पर कार्यवाही करने का ऐलान किया है। राष्ट्रीय एकता परिषद् ने भी नवम्बर १९६९ में साम्प्रदायिकता के खिलाफ एक प्रस्ताव पास किया है। आवश्यकता है, इस ओर पूरी निष्ठा और देशहित को सर्वोपरि मानकर सामाजिक कार्यकर्त्ता आगे आयें।

जो मनुष्य वैराग्य न होने पर भी ज्ञान की ही बातें किया करता है, वही इस जगत में सर्वोपरि नास्तिक, और पाखण्डी हैं।

—तपस्वी महमद अली हमीक तरयोजी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृथ्वी के विशाल भूखण्ड में जहां एक ओर क्षत्र और जल-वायु के कारण मनुष्य की शरीर आकृति, उसका रूप रंग भिन्न है, वहां दूसरी ओर मानव मन और विचार-सृष्टि की एकता, मानव समाज के भविष्य की आशा की किरण है, क्योंकि इसी से सम्पूर्ण मानव समाज की एकता सम्भव है।

मानव जीवन के आरम्भ काल से अगर कोई सर्वश्रेष्ठ क्षेत्र रहा है तो वह धार्मिक क्षेत्र है। इस क्षेत्र में मनुष्य में भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में, भिन्न-भिन्न स्थानों पर और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा दर्शन किया है। इस दर्शन में क्षेत्र व काल के कारण कुछ विभिन्नता भी परिलक्षित होती है किन्तु अगर विश्व के सब बड़े धर्मों का और उनके प्रामाणिक ग्रन्थों का बारीकी से अवलोकन

● मणीन्द्रकुमार

सब धर्मों की बुनियादी एकता

किया जाय तो हमें सब धर्मों में अन्तर्भूत व्यापक एकता ही दिखाई देती है और जो भिन्नता दिखाई देती है, वह बहुत स्वल्प या सूक्ष्म है।

व्रतों की समानता

सब धर्मों में सदाचार पर जोर दिया गया है। हिन्दू धर्म के यम-नियमों में बुद्ध धर्म के पंचशीलों में, जैन धर्म के पंच महाव्रतों में, हजरत मूसा और ईसा की आज्ञाओं में कितनी समानता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनुस्मृति में लिखा है :—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतं सामासिकं धर्मं चा तुर्वण्येऽब्रवीन् मनुः ।।

अर्थात् अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, स्वच्छता और इन्द्रिय-निग्रह यही थोड़े शब्दों में मनु महाराज के अनुसार धर्म है, चाहे वह किसी वर्ण का क्यों न हो ।

यही बात बौद्ध धर्म के पंचशील में है :—

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य का पालन करने और मादक द्रव्यों का सेवन न करने पर जोर दिया है ।

इस प्रकार जैन शास्त्रों में पंच महाव्रतों पर जोर दिया है ।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, अर्थात् अपनी असली आवश्यकता से अधिक माल अपने पास नहीं रखना ।

इसके साथ जैन ग्रन्थों में कहीं-कहीं मांस, मधु और मद्य आदि के सेवन न करने की सलाह दी गयी है ।

हजरत मूसा की दस आज्ञाओं में पांच यह है :—

"किसी की जान मत लो, झूठी गवाही मत दो, चोरी मत करो, बदचलनी मत करो, अपने पड़ोसी के माल का लोभ मत करो ।"

हजरत ईसा ने इन्हीं आज्ञाओं को न केवल दोहराया है, बल्कि इसमें वृद्धि भी की है । बाइबिल में उपरोक्त आदर्शों के अलावा शराब न पीने पर बहुत अधिक जोर दिया गया है ।

"मुसीबत किन पर आती है ? रंज किन्हें होना पड़ता है ? झगड़े किन्हें करने पड़ते हैं ? बड़बड़ाना किन्हें पड़ता है ? बेकार घाव किन्हें लगते हैं ? आंखें लाल किनकी होती हैं ? ये वे लोग हैं, जो बैठकर शराब पीते हैं । इस लिए तुम शराब की लाली पर मत जाओ और शराब के प्याले से दिल न लगाओ । आखिर में शराब सांप की तरह आदमी को डस लेती है और उसे जहर से मार डालती है ।

कुरान में भी लगभग इन्हीं बातों पर जोर दिया गया है । एक जगह लिखा है :—

"अल्लाह के बन्दों में, किसी को कत्ल न करो, अल्लाह ने इसे मना किया है—सिवाय इन्साफ के लिए । झूठ मत बोलो, जो आदमी या औरत चोरी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करे, उसके हाथ काट लेने चाहिए शराब या नशे की चीजें शैतान की चालों में से है, जो लोग अपनी इन्द्रियों पर काबू रखते हैं और बदचलनी नहीं करते वे ही जीवन में सफल होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी धर्मों ने कम ज्यादा प्रमाण में इन जीवन-शिक्षाओं पर जोर दिया है। अहिंसा—किसी की जान न लेना, सत्य-झूठ न बोलना और अस्तेय-चोरी न करना—ये तीन नियम तो सब धर्मों के आरम्भ में एक साथ पाये जाते हैं।

तीन मार्ग

दुनियां के सब धर्मों में तीन मार्ग या प्रकार हैं। हिन्दू धर्म में इन्हें 'ज्ञान-मार्ग', 'भक्ति-मार्ग' और 'कर्म-मार्ग' कहा जाता है। ईस्लाम में इनको 'मारफत', 'तरीकत' और 'शरीअत' कहा जाता है। बौद्ध धर्म में इन्हें 'सम्यक् दृष्टि', 'सम्यक् संकल्प', और 'सम्यक् व्यायाम' कहा गया है। जैन धर्म में इन्हें 'सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और 'सम्यक् चारित्र्य' के रूप में प्रतिपादित किया गया। इन्हीं को थोड़ा फेर-बदल कर पारसी धर्म में हुमता-पवित्र विचार, हुक्का- पवित्र वाणी और हर्षता-पवित्र कर्म के रूप में रखा गया।

महाभारत में लिखा है—

"अपनी वाणी, अपने मंन और अपने शरीर को, जो इन तीनों को अपनी बुद्धि के वश में रख सके, वही त्रिदण्डी याने यति है।"

इसी बात को दूसरे ढंग से "जेन्द अवेस्ता' में यों लिखा गया है :—

'अहुरमज्दा अर्थात् भगवान कहते हैं कि जो लोग भलाई सोचते हैं,भलाई कहते हैं और भलाई करते हैं, मैं उनके साथ रहता हूं और उनके साथ नहीं रहता हूं जो बुरा सोचते हैं, बुरा बोलते हैं और बुराई करते हैं।

सभ्यता की कसौटी

प्रत्येक धर्म में किसी न किसी रूप में मन, वचन और कर्म की पवित्रता पर जोर दिया है। एक आधुनिक विद्वान् का कहना है कि यही तीन पहलू दुनियां की हर सभ्यता में होते है। एक ज्ञान-विज्ञान का पहलू, दूसरा लोगों की आकांक्षाओं और आदर्शों का पहलू और तीसरा आचार अर्थात् रोजमर्रा के रहन-सहन, बरताव और काम-काज का पहलू। जिस किसी भी सभ्यता का ज्ञान भण्डार जितना विशाल, विविध प्रामाणिक एवं सत्य होगा, वहां के लोगों के आदर्श, आकांक्षा और भावना जितनी ऊँची, सुन्दर और नेक होंगी,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वहां के लोगों का रहन-सहन जितना पवित्र, मानवता के सिद्धान्तों पर स्थिर और न्याय-युक्त होगा, वह सभ्यता उतनी ही बड़ी और ऊँची समझी जायेगी।

यही बात शिक्षा के सम्बन्ध में लागू होती है। अच्छी शिक्षा वही मानी जायेगी जो विद्यार्थी के दिल, दिमाग और शरीर का संतुलित विकास करे।

कर्म सिद्धान्त

सभी धर्मों में विभिन्न रूपों में कर्म सिद्धान्त पाया जाता है कि हर आदमी को अपने अच्छे कामों का अच्छा और बुरे कामों का बुरा फल भोगना पड़ता है चाहे यह फल या परिणाम इस लोक में या परलोक में, जल्दी या देर में मिले, किन्तु मिलता अवश्य है, यह सब मानते हैं। जैसा बोओगे, वैसा काटोगे। विज्ञान भी यही कहता है कि हर क्रिया की प्रतिक्रिया जरूरी है।

बाइबिल में लिखा है—"जो बुराई बोयेंगे वे बुराई काटेंगे। जो नेकी बोयेंगे वे नेकी काटेंगे। कांटे की झाड़ियों से कोई अंगूर की फसल नहीं ले सकता और न कास से अंजीर लिए जा सकते हैं। भगवान सबको उनके कर्मों का फल देते हैं।"

कुरान में लिखा है, "जो कोई मुसीबत किसी पर आती है वह उसी के किए का नतीजा है। जो कोई एक रत्ती भर भी नेकी करेगा वह उसका उतना ही फल पायेगा और जो एक रत्ती भर भी बुराई करेगा वह उसका उतना ही नतीजा भुगतेगा। किसी के साथ जरा सी भी बेइन्साफी नहीं होती, जो जैसा करता है वैसा ही पाता है।'

पारसी धर्म की किताब 'गाथा' में लिखा है :—ऐ लोगों, अहुरमज्द, के बनाए हुए सुख और दुख के इन कानूनों को समझो। कानून यह है कि जो बुराई करेगा वह तकलीफ उठायेगा और जो भलाई करेगा वह सुख भोगेगा।

चीन के कनफ्यूशियन मत की किताब में लिखा है :—'सुख और दुख लोगों पर यूँ ही आ जाते हैं जो जैसा करता है वैसा फल मिलता है– एक कुनबे के लोग दूसरे कुनबे के लोगों पर प्यार करते हों तो सारे देश में प्यार फैल सकता है। एक की नेकी से सबमें नेकी आती है और एक की बुराई से सब में बुराई या गिरावट फैल सकती है, इस तरह एक दूसरों पर असर पड़ता है।"

एक दूसरी चीनी किताब में लिखा है 'भलाई' और बुराई का परिणाम मनुष्य के पीछे उसकी छाया की तरह आते हैं।'

बौद्ध ग्रन्थ महावग्ग में लिखा है 'जो कोई बुरी बात कहेगा या बुराई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करेगा उसके पीछे दुख इस तरह आयेगा जिस तरह बैलों के पीछे गाड़ी का पहिया।'

इस तरह सभी धर्मों में कर्मसिद्धान्त पर किसी न किसी रूप में जोर दिया गया है।

मानव जीवन का अंतिम लक्ष्य

मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य क्या है ? सब धर्मों में अनेक तरह इसका वर्णन आता है। मनुष्य अनेक प्रकार के बन्धनों में जकड़ा हुआ है। प्रत्येक मनुष्य कभी न कभी, किसी न किसी क्षण, प्रगट या अप्रगट यह इच्छा करता है कि वह अपनी असली स्थिति को प्राप्त करे, जिसमें वह सुख-दुख, पाप-पुण्य से परे उठ जाये और शुद्धात्मा में लीन हो जाये। वैदिक, जैन और बौद्ध धर्म में इसे मुक्ति या निर्वाण कहते हैं। इस्लाम में नजात या फना फिल्लाह कहते हैं। यहूदी इसी आखिरी हालत को 'प्रेम का महल' और ईसाई इसे 'स्वर्ग का राज' कहते हैं। अलग-अलग धर्मों में इसका तरह-तरह से जिक्र किया गया है :—

जैन ग्रन्थ "ज्ञानार्णव' में लिखा है—

'यही सब से बड़ा ज्ञान है, यही विज्ञान है, यही ध्यान है, यही परम तप है कि यह आत्मा फिर अपने को पहचान ले और फिर अपने रूप में लीन हो जाये।'

कुरान में बताया गया है—

'हम सब अल्लाह से आए हैं और लौटकर अल्लाह में जा मिलेंगे।'

पारसी गाथा में लिखा है—

'ज्ञान और बढ़ते हुए विचारों के जोर से ऐ अहुरमज्द, हम तुझमें आ मिलेंगे। वही हमारी शुरू की जिन्दगी थी।'

यहूदी ग्रन्थ 'जौहर' में यों व्यक्त किया गया है :—

'दुनियां की सब चीजें, सब रूहें और उनके सब जिस्म अपने जिस असल से निकले थे, उसी में जा मिलेंगे।'

उपनिषद में लिखा है—

'अपनी आत्मा को जानो। आत्मा ही एक जानने की चीज है। आत्मा ही को ढूँढ़ो। जिसने अपनी आत्मा को जान लिया तो सारी दुनियां को जान लिया। आत्मा ही देखने की, सुनने की, समझने की और ध्यान करने की चीज है और कुछ है ही नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समन्वय की दिशा में विश्वविद्यालयों की भूमिका

० श्रीमती राजम् पिल्लै
एस. आई. ई. एस, कालेज
सायन, वम्बई-२२

अन्तहीन चक्र, विचारों और क्रियाओं का,
अन्तहीन आविष्कार, अन्तहीन प्रयोग,
देते हैं गति का ज्ञान, ठहराव का नहीं,
देते हैं वाणी का ज्ञान, मौन का नहीं।
हमारा सारा ज्ञान, ले आता है
हमें अज्ञान के पास,
हमारा सारा अज्ञान ले आता है,
हमें मृत्यु के पास।
कहाँ है वह विवेक, जिसे खो दिया,
हमने जानकारियों के ढेर में ?
कहाँ है वह ज्ञान, जिसे खो दिया,
हमने सूचनाओं के ढेर में ?

—टी० एस० ईलियट

पौ-फटने का समय, अगस्त ६, १९४५ ! अमरीकी विमान बी—२९ ने जापानी नगर हिरोशिमा पर एक बम फेंका, कुछ सेकंडों के अन्दर १५०,००० व्यक्ति मृत या मृतप्राय हो गये, भावी मानवता के विनाश के बीज कण-कण में फैल गये, अमरीकी राष्ट्रपति ने घोषणा की 'प्रकृति के मूल-तत्वों का प्रयोग' जापान के विरुद्ध किया गया, और संसार में अणु-युग आरम्भ हो गया ! एक क्षण में सारी अन्तर्राष्ट्रीय-संघर्ष और सहअस्तित्व, युद्ध और शांति की समस्यायें सिमटकर 'मानवता के अस्तित्व' की समस्या बन गई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हर युग की मानवता को अस्तित्व-रक्षा के लिये संघर्ष करना पड़ा है। हर युग की मानवता को लगता रहा है कि वह कगार पर आ खड़ी हुई है, पर आज की मानवता एक अभूतपूर्व संकट से गुजर रही है, आज अस्तित्व का प्रश्न स्थान-विशेष तक सीमित न रह विश्व-रूप धारण कर चुका है। विस्टन चर्चिल ने एक स्थान पर कहा था कि "....हम तूफानों और संकटों से भरे युग में प्रवेश कर रहे हैं। मनुष्य ने कई क्षेत्रों में अपरिमित स्वामित्व प्राप्त कर लिया है—केवल एक अपने-आप पर से उसकी पकड़ ढीली हो गई है।....प्रथम वार इतिहास में कार्य-व्यापारों, घटनाओं ने व्यक्ति को इतना बौना बना दिया है।....सबसे भयानक प्रश्न हमारे सामने यह है कि क्या हमारी समस्यायें हमारे काबू से बाहर हो गई हैं?...." आज की सभी समस्याओं के मूल में है परस्पर-विरोधी वृत्तियों का सतत संघर्ष। व्यक्तिनिष्ठता-वस्तुनिष्ठा, यथार्थवाद-आदर्शवाद, राष्ट्रीयता-अन्तर्राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय-सुरक्षा-अन्तर्राष्ट्रीय-सहअस्तित्व, कट्टरता-सहमति, सहयोग-संघर्ष, आधिक्य-अभाव, मनुष्यता-मनुष्यहीनता, मानवता के भविष्य पर विश्वास-मानवता के भविष्य पर अविश्वास इन सारी प्रवृत्तियों ने विश्व-मानव को भ्रमित कर रखा है। मनुष्य त्रस्त है युद्ध से, युद्ध के भय से—और युद्ध चल रहा है, आंतरिक वाह्य दोनों स्तरों पर। प्रश्न है क्या भारत इसके समाधान में कुछ योगदान कर सकता है? क्या भारत का युवा-वर्ग, विशेषकर वह वर्ग जो विश्वविद्यालयों में शिक्षा पा और दे रहा है, वह कुछ कर सकता है? हमारा विचार है विश्वास है, भारत, और उसमें भी भारत का शिक्षा-क्षेत्र का युवा-वर्ग ही इसका समाधान दे सकता है।

भारत ही यह कार्य क्यों कर सकता है? अपनी मूलभूत सामासिक, समन्वयवादी संस्कृति के कारण। वह भारत ही है जहाँ का कवि 'आमार सोनार बांगला देश' कहते हुए भी यह स्वीकार करता है—

'.......एई भारतेर महामानवेर सागर-तीरे....

हेथाय आर्य, हेथा अनार्थ, हेथाय द्राविड़-चीन,
शक-हूण-दल, पाठान-मोगल एकदेहे होलो लीन।—'

महामानवता की अनुभूति, विश्व की भावी एकता की भूमिका भारत की धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक संस्कृति में विद्यमान है। जैनधर्म ने सहिष्णुता, उदारता, समन्वय का अन्तिम चरम रूप अपने स्याद्वाद या अनेकान्तवाद के रूप में संसार के सम्मुख रखा है। जैन-धर्म ने अपने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'सप्तभंगी-नय' में एक ही वस्तु को देखने के स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति च नास्ति च, स्यात् अवक्तव्यम्, स्यात् अस्ति च अव्यक्तव्यम् च, स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् च और स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यंम् च, ये सात पहलू प्रस्तुत किये हैं, अगर हमारे विश्वविद्यालयों की शिक्षा-प्रणाली में उनका समुचित उपयोग किया जा सके तो एक संपूर्ण मानव की निर्मिति का प्रथम-चरण हम पूरा कर सकेंगे।

विश्वविद्यालय केवल डिग्री का सिक्का लगाकर विद्यार्थियों को वाह्य-संसार में भेज देने वाले डाकखाने नहीं हैं—उन्हें होना नहीं चाहिए। विश्वविद्यालय केवल-मात्र जानकारियां देने वाले सूचना-केन्द्र 'इन्फार्मेशन ब्यूरो' नहीं हैं—उन्हें होना नहीं चाहिए। विश्वविद्यालय केवल कुछ सुविधा-प्राप्त, बुद्धिजीवियों के बुद्धिविलास के लिये सिर्मित हाथी-दाँत के मीनार नहीं है—उन्हें होना नहीं चाहिए। विश्वविद्यालय दीप-स्तंभ हैं, संस्कृति-केन्द्र है, समाज के संवेदन-केन्द्रों को संचालित करने वाले मस्तिष्क हैं—उन्हें होना चाहिए। यह विश्वविद्यालय का कार्य है कि वह उदार सहिष्णु व्यक्तितत्वों का निर्माण करे, ऐसे व्यक्तित्व जो शिक्षा को—मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रकाशन में लाने वाली शक्ति माने—बाजार में बेचने की वस्तु नहीं।

शिक्षा संस्कृति और सामाजिक ढांचा इनका अन्योन्याश्रित संबन्ध होना चाहिए। सामाजिक चेतना-विहीन शिक्षा पंगु है, शिक्षाविहीन सामाजिक चेतना मूर्खता की शिकार हो जाती है और संस्कृतिविहीन समाज और शिक्षा पशुवत् बन जाती है। भारत के विश्वविद्यालयों ने राजनीतिक दासता के जिस परिवेश में जन्म लिया था, उसमें स्वाभाविक था कि उसका व्यक्तित्व खंडित रहा। कुछ जानकर और कुछ अनजान में भारत के तत्कालीन शासकों ने विश्वविद्यालय की शिक्षा-प्रणाली इस ढंग की बना दी ताकि उसमें निर्मित व्यक्तित्वों में इतनी चेतना तो रहे कि वे अपने शासकों की आज्ञा-इच्छा के अनुसार अंग-संचालन कर सकें, पर उनमें तदनुकूल विवेक-शक्ति का उदय. विकास न हो पाये। फलतः हमारे विश्वविद्यालयों ने या तो मानव बनाये ही नहीं केवल 'फाईलिंग मशीनें' बनाईं या फिर जो थोड़े से मानव बने, वे अपने-आपको 'अतिमानव'—'सुपरमेन' मानने लगे, समाज से सामान्य मनुष्य से कटने लगे। सामान्य मनुष्य से वे दूर होने लगे तो सामान्य-मनुष्यों ने उनसे दूर हटना शुरू कर दिया और इस प्रकार अलगाव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की खाई दुहरी चौड़ी होने लगी ! जिससे अनुदारता, असहिष्णुता, अविश्वास और बढ़ा।

पर आज विश्वविद्यालयों के सामने -- भारत के विश्वविद्यालयो के सामने वहुत वड़ी चुनौती है। निष्क्रियता और वैराग्य के बीच का अंतर न समझ पाने के कारण हुई भूल का प्रायश्चित्त भारत अपने सैकड़ों सालों की गुलामी के रूप में कर चुका है। वैज्ञानिक प्रगति, क्रियाशीलता, भौतिकता का चरम विकास और उससे उत्पन्न अवसाद, निराशा, शून्यता का भस्मासुरी रूप पश्चिमी देशों ने प्रकट कर दिया है, दोनों स्थितियाँ मानवता के अस्तित्व-मात्र के सामने प्रश्न-चिन्ह के रूप में खड़ी हो जाती हैं ? घायल-संसार, बीमार-विश्व किसी मसीहा के इन्तजार में हैं, पर साथ ही वह जानता है कि आज के युग में चमत्कार नहीं होते। यह भारतीय विश्व-विद्यालयों की देन युग को होनी चाहिए कि वह शिक्षा, संस्कृति और सामाजिक ढांचा इन तीनों में एक ताल-मेल बिठा सके। आज की सारी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के मूल में इन तीनों वस्तुओं की विसंगति ही कारण है। कुछ लोग समझते हैं कि एक राष्ट्र-विशेप, राष्ट्रीयता, विशेप शासन-प्रणाली, नवीन शुद्ध-प्रणाली, कूटनीति, अशिक्षा, औद्योगीकरण, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, जाति, धर्म, अभाव इत्यादि में से कोई एक या अनेक ही आज की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का मूल कारण है, और उनके शमन-मात्र से सारी समस्याओं का हल निकल आयेगा। परन्तु वस्तु-स्थिति यह नहीं है। ये सारी बातें रोग के लक्षण हैं—कारण नहीं, इसलिये उपचार केवल लक्षण का नहीं, कारण का होना चाहिये।

सभी समस्याओं का मूल है -- मानव द्वारा अपने अस्तित्व-रक्षण का प्रयास—मानव की स्व-रक्षण की मूल जैविक-प्रवृत्ति ! मनुष्य का अहं ही विस्तृत और विराट स्वरूप लेता है और व्यक्तिगत से अन्तर्राष्ट्रीय-समस्या वन जाता है। पश्चिमी विद्वानों ने इसे मूल-जैविक-प्रवृत्ति मानकर इसका समाधान असम्भव मान लिया है और हाथ लटका दिये हैं, पर क्या भारतीय आत्मा इसे स्वीकार करती है ? भारतवासी भी जानता है, अपने उपनिषद् काल से जानता है कि **'न वा अरे सर्वस्व कामाय सर्वं प्रियं: भवति, आत्मानस्यैव कामाय सर्वं प्रियमं भवति'** पर वह साथ ही यह भी जानता है कि **'सर्वं वै सः'**। वह कट्टरता, हठवादिता जानता है तो यह भी जानता है। **एकं सद् हि विप्राः बहुधा वदन्ति।'** शारीरिक-अहिंसा की बात विश्व-भर के विद्वान-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संत जानते हैं परन्तु वैचारिक-अहिंसा याने अनेकान्तवाद-स्याद्वाद यह भारत की देन है।

तो हमारे विश्वविद्यालयों को करना है समन्वय। विचारों और क्रियाओं का समन्वय, बुद्धि और भावना का समन्वय, भौतिकता और आध्यात्मिकता का समन्वय, विभिन्न मतों-विचारों -धर्मों का समन्वय, विभिन्न संस्कृतियों का समन्वय, अर्थात् हमारे विश्वविद्यालयों को सही अर्थों में भारतीय संस्कृति का संदेश-केद्र होना है, और उसके विद्यार्थियों को बनना है बोधि-वृक्ष की शाखाओं को विभिन्न दिशाओं में रोपने वाले, 'अ-शोक साम्राज्य' के संस्थापक, सांस्कृतिक संदेश-वाहक। विश्वविद्यालयों में व्यस्त वर्गों को बार-बार महसूस होगा कि राजनैतिक, सामाजिक, औद्योगिक अगुआओं के आगे वे शक्तिहीन हैं, और उनमें एक प्रकार की हीनता की प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो सकती है, परन्तु वह समय आ गया है जब वे समाज में अपना स्थान पहचानें, उसे प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करें। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों, राष्ट्रीय-संस्थानों, सामाजिक-केन्द्रों में अपनी उदारता, सहिष्णुता, प्रजातांत्रिक विचारधारा का प्रकाश फैलायें। आज अगर वे लड़खड़ा जायेंगे तो मानवता लड़खड़ा उठेगी, आज उन्हें अपने अधिकारों का ज्ञान होना है, उसके योग्य बनना है अपने कर्तव्यों को करना है! क्या इतना गंभीर उत्तरदायित्व भारत के विश्वविद्यालयों का युवा-वर्ग आ पायेगा? हां! पर क्या वह उठायेगा? उसे उठाना चाहिये, आज उसके अलावा कोई पर्याय नहीं है। अर्नाल्ड टॉयनबी के शब्दों में—

"आज''''सभ्यता चाहे तो इतिहास का अनुगमन कर आत्महत्या कर सकती है। परन्तु हमें इतिहास को नहीं दुहराना है; यह हम पर निर्भर करता है, अपने ही प्रयत्नो के माध्यम से हम इतिहास को कुछ नये मोड़ दे सकते हैं। मनुष्य होने के नाते हमें यह पर्याय प्राप्त है, और हम अपनी इस जिम्मेदारी को 'ईश्वर' या 'प्रकृति' के ऊपर डालकर छूट नहीं सकते। इन प्रश्नों को हमें ही कंधे पर उठाना होगा। यह हम पर निर्भर है।"

●●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

● ● भगवान महावीर की धर्म परिषद् में बकरी और सिंह एक घाट पानी पी सकते थे, तो क्या अहिंसा में विश्वास रखने वाले भगवान महावीर के अनुयायी जैन एक मंच पर नहीं बैठ सकते..... ! ● ●

? ? एक ज्वलंत प्रश्न

जो, समाधान चाहता है

क्या जैन एक नहीं हो सकते ?

● साध्वी श्री संघमित्रा

शय्या पर लेटा एक वृद्ध जीवन की अन्तिम घड़ियां गिन रहा था। उसे अपने घर की फूट बार-बार बैचेन कर रही थी। अपने पुत्रों को पास बुला कर उन्हें एक-एक लकड़ी लाने को कहा। चारों पुत्रों ने वैसा ही किया। लकड़ियां लाकर पिता के सामने रख दी। वृद्ध पिता ने दूसरा आदेश देते हुए कहा—अपनी-अपनी लकड़ी को तोड़ दो। आदेश पाते ही उन्होंने अपनी-अपनी लकड़ी तोड़ दी। टूटी हुई लकड़ियों के चारों टुकड़ों को एक ही रस्सी में बांध दिया। और पुनः एक-एक पुत्र को उसे तोड़ देने का संकेत किया। सबने पूरी शक्ति उसे तोड़ने में लगा दी। पर उनमें से एक भी उसे तोड़ न सका।

यह संगठन और एकता की शक्ति थी। बिखरे धागे आखिर धागे ही हैं। वे जब एकत्रित होकर वस्त्र बन जाते हैं तो हमें धूप और सर्दी से बचाते हैं। बिखरे मोती एक सूत्र में पिरोये जाने पर ही वे गले का शृंगार बनते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नील गगन में झिलमिलाते सितारे इसलिए प्रिय लगते हैं, कि उनमें परस्पर टकराव नहीं है।

आज हम जिस व्यवस्था में जी रहे हैं, वह लोकतन्त्रीय व्यवस्था है। इस व्यवस्था में संगठन और एकता का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

जैन संस्कृति सुविशाल, उदार और सुसंगठित संस्कृति है। भगवान महावीर ने मानव समाज के हित में बहुत व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत किए। समग्र विश्व को मैत्री के तार से जोड़ा। और अहिंसा का इतना विशाल छत्र मानव समाज को दिया। जिसमें वर्णभेद, प्रान्तीयता और जातीयता की दीवारें नहीं खड़ी थी। जहां मानव मात्र के लिए समान भूमिका प्रस्तुत थी। प्राणी मात्र की वेदना को अपनी आत्मा की संवेदना से परखा गया था। भगवान महावीर के समय में भी अनेक धर्म सम्प्रदाय खड़े थे। सबकी अपनी विभिन्न मान्यताएं और विभिन्न परम्पराएं थीं। कोई पदार्थ के नित्यत्व पर बल दे रहा था। तो कोई एकान्तरूप से अनित्यता को स्वीकार कर रहा था। कुछ ईश्वरवादी परम्पराएं थीं और कुछ अनिश्वरवादी भी। वैशेषिक गुण से गुणी को सर्वथा भिन्न मान रहे थे। तो मीमांसक यज्ञों के सम्बन्ध में अलग ही स्वर आलाप रहे थे।

भगवान महावीर ने अनेकान्त के माध्यम से इन सबके साथ समझौता किया और सापेक्ष दृष्टिकोण से सब मान्यताओं पर सत्य की मुद्रा अंकित करते हुए बहुत सुन्दर समन्वय की भूमिका प्रस्तुत की। विभिन्न सरिताओं का जैसे समुद्र में मिलन होता है इस तरह समग्र दृष्टियों का मिलन भगवान महावीर के इस स्याद्वाद में हुआ। सब दृष्टियों का संग्रह जैन दर्शन कहलाया।

पर खेद है कि इतनी विशाल संस्कृति समय पाकर खंडित हुई। एक ही भगवान के नाम पर विभिन्न सम्प्रदाय खड़े हुए और अपने-अपने सम्प्रदाय विस्तार के व्यामोह ने अपनी-अपनी दीवारें खड़ी करली। जैन ऋषियों की शक्ति जैन एकता और जैन संस्कृति की जड़ों के सिंचन में लगनी चाहिए थी। वह शक्ति इस अखंडित जैन संस्कृति को विभक्त करने में प्रयुक्त हुई। परमत के खंडन और स्वमत मंडन के लिए विपुल साहित्य के निर्माण से संस्कृति मां भारती के भंडार को भरा गया। अनेक ग्रन्थ रचे गये, जैनों ने देश की सुरक्षा के लिए तलवार उठाने में तो पाप समझा पर दूसरों के विचारों को हनन करने, तिरस्कृत करने और घृणा करने में उन्हें किसी भी प्रकार की ग्लानि अनुभूत न हुई। न उनकी अहिंसा खंडित हुई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इतिहास की परम्परा में चार-पांच आचार्यों के नाम बहुत गौरव से लिया जाता है। जिन्होंने समन्वय की दिशा में स्तुत्य प्रयास किया। आचार्य हरिभद्र सूरी ने समग्र दर्शनों की मान्यताओं के साथ समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत कर मैत्री विस्तार की आदर्श पृष्ठभूमि तैयार की। उन्होंने कहा—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यं परिग्रहः॥

महावीर में हमारा पक्षपात नहीं है। कपिल मुनियों में हमारा द्वेष नहीं है। जो भी वचन तर्क की कसौटी पर खरे उतरे हैं, वे हमारे ग्राह्य हैं। वैदिक दर्शन में कर्तृत्ववाद की प्रधानता थी और ईश्वर को ही सृष्टि का कर्ता माना जाता था। आचार्य हरिभद्र ने इसी भावना के साथ सामञ्जस्य बैठाते हुए कहा—

परमैश्वर्ययुक्तत्वात् मतः आत्मैव चेश्वरः।
स च कर्तेति निर्दोषः कर्तृवादो व्यवस्थितः॥

परमैश्वर्य से युक्त आत्मा ही ईश्वर है, वही कर्ता है, इस अपेक्षा से कर्तृ-वाद मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

इस प्रकार हरिभद्रसूरी ने अनेक समन्वयात्मक नये दृष्टिकोण प्रस्तुत किये। आचार्य हेमचन्द्र, मानतुङ्ग और यशोविजयीजी आदि ने भी भावात्मक एकता का दीप जलाया। इससे दूसरों पर साहित्यिक प्रभाव पड़ा ही होगा पर जैनों के व्यावहारिक जीवन में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। और न एकता का वातावरण बन सका।

जैन संस्कृति आज भी खंडित और विभक्त है। एक ही भगवान महावीर के नाम पर गौरव अनुभव करने वाले जैन एक दूसरे से बहुत दूर है, इस दूरी का कारण जितना सैद्धान्तिक नहीं, उतना मानसिक है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से जैन सम्प्रदायों में विभेद कम हैं, अभेद बहुत अधिक है। सबके आराध्य एक भगवान महावीर है। चौबीस तीर्थङ्करों की परम्परा सब में समान है। पूरा जैन समाज कर्मवाद और आत्मवाद की नींव पर टिका है। स्याद्वाद भगवान महावीर की मौलिक देन है। वह सबके लिए समान रूप से मान्य है। उत्पाद-व्यय ध्रौव्य की त्रिपदी में भी कोई अन्तर नहीं है।

(शेषांश देखें पृष्ठ १६६ पर)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शान्ति

मारना मरना दो शब्द है
पर ऐसे भी होते हैं
जो न मारने के लिए मरते हैं
अहिंसा पर जो शहीद हो जाते हैं,
किसी से नहीं डरते हैं
ऐसे यश:काय बहुत थोड़े उपलब्ध हैं।
रक्त और अश्रुका पुराना सम्बन्ध है!

पर ऐसे भी करुणामय,
ऐसे भी हैं उदार ज्यों अशोक
जिनके बलिदान-त्याग-आलोक
ज्योतित हैं कई लोक
हिंसा में उन्मत्त कई राष्ट्र हुए अन्ध हैं

ऐसे जन वीतकाम कहलाते महा—'वीर'
क्रोध पर अक्रोध, जय पाता वैर पर निर्वैर
अन्यथा जो पाशविक एषणाएं
अतृप्त सदा स्वैर
ऐसे जन दुर्लभ है, धीर और गम्भीर

फिर भी राष्ट्र जीवन में ऐसे क्षण आते
जबकि सत्व-रक्षण में सन्नद्ध रक्तार्पण
करना ही पड़ता है महाभारत-संतर्पण
ऐसे द्वन्द्व अमरता विलक्षण लाते हैं
युद्ध एवं रोग है, युद्ध उपजाता भ्रान्ति

अब तो परमाणविक शस्त्रों से
सम्मुख है विश्वनाश
विष के महासागर भरे,
धुएं से है कुंठित आकाश
युद्ध से भी बढ़कर है कठिन शांति।

● प्रभाकर माचवे
१२० रवीन्द्र नगर
नई दिल्ली-३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिया जाता है कैसे ?

सांस-सांस
रसमसती रहती रेत
अँगुलियाँ से होता रहता रचाव
प्रतिमाओं का
स्वराते रँगते
चुप-चुप के हर शिला खण्ड पर
उकेर दिया करते हैं
भाषा
वही जुबान लिया करते हैं
मैं-तुम
प्रतिरूपों से भी
वही-वही तुतलाया करते
आंगन-गली-चौक
जी जाया करते
रँगवती हो जाया करती
यहीं-यहीं
जिन्दगी की अभिलाषा
ओ मैं ! ओ तुम !
उसे भी कह दो !
झुकती है जिसके आगे
आँख
अर्चना की
वे होते है प्रतीक भर
प्रश्नाई जाती अर्चना
पूछा करती है
बिना राग-आलाप
जिया जाता है कैसे ?

● हरीश भादानी
छबीली घाटी
बीकानेर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naṛia, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[पृष्ठ १६३ का शेष]

आन्तरिक तत्त्वों की इतनी निकटता होते हुए भी जैनों में सबसे बड़ी दूरी यह है कि एक सूत्र में जोड़ने वाला संवत्सरी पर्व भी सबका एक नहीं है।

धर्म के विशुद्ध रूप का प्रचार-प्रसार करने के लिए ही विभिन्न सम्प्रदाय खड़े होते तो कोई चिन्ता का विषय नहीं था पर आज सब पर साम्प्रदायिक उन्माद छाया है।

पाक और बंगला देश के युद्ध ने यह बता दिया है कि साम्प्रदायिक उन्माद का परिणाम कितना भयंकर होता है, पर अब भी सबकी आंखें कहां खुली हैं ? एकता आज के युग का तकाजा है, खंडित इकाई पर जुड़ रही है। आज की वर्तमान परिस्थितियों में जो नहीं जुड़ेंगे वे समय के प्रवाह में वह जायेंगे। एक बार राजस्थान की संसद में चर्चा चली। अन्य पर्वों पर सार्वजनिक रूप से छुट्टियां होती है पर जैनों के महापर्व संवत्सरी के दिन पर छुट्टी क्यों नहीं होती ? परिचर्चा का अन्तिम निष्कर्ष रहा—जैन अभी संगठित नहीं है और इस महत्त्वपूर्ण पर्व का दिन भी सबके लिए एक नहीं है।

उक्त उत्तर के सामने क्या सब जैनों के सिर नहीं झुक जाते ? अहिंसा में शक्ति है, जिसमें भगवान महावीर की परिषद् में प्रतिद्वन्द्वियों तक का वैर समाप्त हो जाता था। बकरी और सिंह एक घाट पानी पी सकते थे तो क्या अहिंसा की उपासना करने वाले और भगवान महावीर के अनुयायी कहलाने वाले जैन एक नहीं हो सकते ?

●●

★★

सब धर्म एक दूसरे से गुंथे हुए हैं। सबमें कोई न कोई विशेषता पाई जाती है। पर एक भी धर्म दूसरे से चढ़ता हुआ नहीं है। मेरा ऐसा मानना है कि सब धर्म एक-दूसरे की कमी पूरी करते हैं। इसलिए किसी धर्म की विशेषता दूसरे के खिलाफ नहीं हो सकती।

—महात्मा गांधी

★★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इतिहास के परिप्रेक्ष्य में

जैनधर्म में

संप्रदायों का उद्भव और विकास

—अगरचन्द नाहटा

[श्री नाहटाजी शोध, अनुसंधान एवं पुरातत्व के जाने-माने विद्वान लेखक हैं जिनकी साहित्य के क्षेत्र में अनुपम देन है। समन्वय विशेषांक के लिए हमारे विशेष अनुरोध पर आपने इस संक्षिप्त निबंध में जैनधर्म में सम्प्रदायों के उद्भव एवं विकास का परिचय प्रस्तुत किया है जों पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी जानकारी से परिपूरित है—सम्पादक]

जैनधर्म, भारत का प्राचीनतम धर्म है। जैनागमों के अनुसार वर्तमान मानव सभ्यता का विकास भगवान ऋषभदेव से हुआ, जो कि जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर थे। इस अवसर्पिणीकाल व दक्षिण भरत-क्षेत्र में जैनधर्म का प्रचार भगवान ऋषभदेव से ही प्रारम्भ होता है। उनके बड़े पुत्र भरत ने उस समय के सारे देशों की विजय की, अत: प्रथम चक्रवर्ती कहलाए। उनके ही नाम से इस देश का नाम भारत या भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ—यह बात अनेक पुराणों से भी समर्थित है।

भगवान ऋषभदेव के बाद अजित आदि २३ तीर्थंकर हुए। उनके द्वारा जैनधर्म का प्रचार होता रहा। बीच-बीच में कभी कुछ शृंखला टूटी जो परवर्ती तीर्थंकरों के द्वारा पुन: जुड़ गई। इनमें से भगवान अरिष्टनेमि श्री कृष्ण के पिता वसुदेव के बड़े भाई समुद्रविजय के पुत्र थे। मथुरा में कई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसी मूर्तियां भगवान नेमिनाथ की प्राप्त हुई हैं, जिनमें एक ओर श्री कृष्ण और दूसरी ओर बलराम भी अंकित है। जैनागमों में अरिष्टनेमि व श्री कृष्ण के घनिष्ठ सम्बन्ध के अनेक विवरण प्राप्त होते हैं। महाभारत का युद्ध इसी समय हुआ था और हरिवंश पुराण में भी नेमिनाथ का उल्लेख है। अतः भगवान नेमिनाथ को ऐतिहासिक महापुरुष माना ही जाना चाहिए। यद्यपि उनका जो काल जैनग्रन्थों में बतलाया गया है, विचारणीय है। क्योंकि श्री कृष्ण और महाभारत का युद्ध-काल अनेक प्रमाणों से ५००० वर्ष के लगभग का सिद्ध होता है। अतः नेमिनाथ का भी वही काल होना चाहिए। नेमिनाथ के बाद २३ वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ को तो पाश्चात्यादि सभी विद्वानों ने ऐतिहासिक माना ही है। भगवान महावीर निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व उनका निर्वाण हुआ था और भगवान महावीर के समय पार्श्वनाथ परम्परा के अनेक साधु-साध्वियां विद्यमान होने का उल्लेख जैनागमों में मिलता ही है। भगवान महावीर के पिता भी पार्श्वनाथ परम्परा के अनुयायी माने जाते हैं। भगवान महावीर ने साढ़े बारह वर्ष की दीर्घ तपस्या व साधना से केवलज्ञान प्राप्त कर जिस श्रमण या निर्ग्रन्थधर्म का प्रवर्तन किया, वह आगे चलकर जैनधर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ। तीर्थंकर– जिन अर्थात् रागद्वेष-विजेता वीतरागी थे। अतः उनके धर्म का नाम जैनधर्म और अनुयायी का जैनी या जैन प्रसिद्ध होना स्वाभाविक व उचित ही है।

भगवान महावीर के समय भगवान पार्श्वनाथ के प्रधान श्रमण केशीकुमार थे। एकबार वे श्रावस्ती नगरी के तिन्दुक नामक उद्यान में पधारे। उसी समय भगवान महावीर के शिष्य प्रथम गणधर गौतम का भी, श्रावस्ती में पधारना हुआ। दोनों तीर्थंकरों के इन प्रधान शिष्योंमें जो मधुर वार्तालाप हुआ वह उत्तराध्ययन सूत्र के २३ वें अध्ययन में पाया जाता है। उसके अनुसार केशीकुमार ने गौतम स्वामी से पूछा कि महामुनि पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म का और वर्धमान ने पाँच शिक्षारूप धर्म का उपदेश दिया है। इसी तरह भगवान महावीर ने अचेलक और पार्श्वनाथ ने संतरूत्तर अर्थात् सचेलक धर्म का प्रतिपादन किया है। एक ही कार्य परमात्मपद प्राप्ति में प्रवृत्त होने वाले दो तीर्थंकरों के धर्म में यह भेद क्यों? इसके उत्तर में गौतम स्वामी ने कहा कि प्रथम तीर्थंकर के मुनि ऋजुजड़ और चरम तीर्थंकर के मुनि वक्र जड़ होते हैं। किन्तु मध्यम तीर्थंकरों के मुनि ऋजुप्राज्ञ होते हैं। इस कारण से धर्म के दो भेद किए गये हैं। प्रथम तीर्थंकर के मुनियों का कल्प दुर्विशोध्य और चरम तीर्थंकर के मुनियों का कल्प, दुरनुपालक, किन्तु मध्यवर्ती तीर्थंकरों के मुनियों का कल्प सुविशोध्य और सुपालक है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रश्नोत्तर से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान पार्श्वनाथ एवं महावीर के धर्मशासन में कुछ अन्तर या भेद था। इसमें से अचेल और सचेल दोनों मुनियों के वेश का, आगे चलकर जब पार्श्वनाथ के बहुत से अनुयायियों ने भगवान महावीर के शासन को स्वीकार किया तो समन्वय सा हो गया। इसीलिए आचारांग सूत्रादि में मुख्यतया मुनियों के लिए अचेलक होने का उल्लेख करते हुए भी क्रमशः १--२ वस्तु रखने का विधान भी पाया जाता है। वस्तु-पात्रादि के ग्रहण सम्बन्धी बहुत से उल्लेख अन्य जैनागमों में मिलते हैं। आचार्य जम्बूस्वामी तक परम्परा एक रही। उसके बाद की दिगम्बर, श्वेताम्बर आचार्य-परम्परा के नामों में भिन्नता दिखाई देती है। कुछ नामों के बाद भद्रबाहु का नाम दोनों परम्परा में मिलता है। पर उनके पूर्ववर्ती आचार्य या गुरु का नाम दोनों परम्परा में भिन्न है। भद्रबाहु के बाद तो दोनों सम्प्रदाय की परम्परा सर्वथा भिन्न पड़ जाती है। इससे विदित होता है कि अचेल और सचेल मुनियों में अपने-अपने वेश का आग्रह वढ़ गया। जो आगे चलकर श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय-भेद का कारण वना। मेरी राय में इन दोनों सम्प्रदायों में भेद होने का जो पिछले ग्रन्थों में कारण और संवत् वतलाया गया है। वह उतना ठीक नहीं है। और सम्प्रदाय-भेद का मूल कारण पार्श्वनाथ और महावीर परम्परा का अन्तर ही कहा जा सकता है।

वैसे तो श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय के ८४ मान्यता-भेद माने जाते हैं। पर वास्तव में वह ८४ संख्या की लोक-प्रसिद्धि और आकर्षण के कारण ही है, अन्यथा वैसे भेद तो सैकड़ों हैं और मुख्य भेद नग्नत्व और वस्त्रादि ग्रहण, ये मुनियों से सम्बन्धित है। नग्नत्व के आग्रह के कारण ही स्त्री-मुक्ति को दिगम्बर सम्प्रदाय ने निषेध कर दिया क्योंकि स्त्री नग्न नहीं रह सकती। एक अन्य मतभेद केवली के आहार करने एवं नहीं करने के सम्बन्ध में है। वह तो कोई तात्विक भेद नहीं है और न जन-साधारण के लिए यह कोई महत्व की बात है। दिगम्बरत्व और स्त्री-मुक्ति-निषेध के कारण ही दिगम्बर सम्प्रदाय ने परम्परागत प्राप्त जैनआगमों को अमान्य ठहरा दिया, अर्थात् आगम विच्छेद या लुप्त हो गए, कह दिया गया, क्योंकि उन आगमों को मानने से ये दोनों बातें मान्य नहीं की जा सकती थीं। इसी बात को लेकर जैनधर्म में एक तीसरा सम्प्रदाय यापनीय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दिगम्बर देवसेठ रचित दर्शनसार ग्रन्थ में विक्रम सम्वत् २०५ में यापनीय संघ कल्याणनगर में प्रादुर्भूत हुआ लिखा है। उसी ग्रन्थ में श्वेताम्बर संघ के प्रादुर्भाव का समय विक्रम संवत् १३६ दिया गया है। जो कि श्वेताम्बर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0:In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रन्थों के अनुसार वि० सं० १३९ है। इस ग्रन्थ के अनुसार दिगम्बर श्वेताम्बर सम्प्रदाय भेद के करीब ७० वर्ष बाद ही यापनीय संघ प्रसिद्ध हो गया। स्वर्गीय नाथूराम जी प्रेमी ने 'यापनीयों का साहित्य' नामक विशिष्ट लेख में यापनीय सम्प्रदाय की मान्यता के सम्बन्ध में लिखा है कि "यापनीय-संघ के मुनि नग्न रहते थे, मोर की पिच्छि रखते थे, पाणितल भोजी थे, नग्नमूर्तियाँ पूजते थे और वन्दना करने वाले श्रावकों को धर्मलाभ' देते थे।" ये सब बातें तो दिगम्बरियों जैसी थी परन्तु साथ ही वे मानते थे कि स्त्रियों को उसी भव में मोक्ष हो सकता है, केवली भोजन करते हैं और संग्रन्थावस्था और पर-शासन से भी मुक्त होना संभव है। यापनीय संघ में आवश्यक, छेदसूत्र, निर्युक्ति और दशवैकालिक आदि ग्रन्थों का पठन-पाठन होता था अर्थात् इन बातों में वे श्वेताम्बरियों के समान थे। 'अर्थात् यापनीय साधु स्वयं नग्न रहने पर भी नग्नत्व का इतना आग्रह नहीं रखते थे, जितना कि दिगम्बर सम्प्रदाय में है। इसलिए जैन आगमों को मानने में वे तत्पर रहे। स्त्री-मुक्ति और केवल-भुक्ति नामक प्रकरण आचार्य शाकटायन द्वारा रचित और प्रकाशित भी हो चुके है। जैन मुनि का वस्त्र-पात्र आदि का ग्रहण कारण सापेक्ष वे माना करते थे। इस तरह यापनीय संघ, दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों संघ के बीच का समन्वय-प्रधान था व १५ वीं शताब्दी तक चलता रहा। पर उसका प्रभाव पिछली शताब्दी में अधिक नहीं रहा और न उनका अधिक साहित्य ही मिलता है जो थोड़े ग्रन्थ प्राप्त हैं उनमें से कुछ श्वेताम्बर सम्प्रदाय में अधिक मान्य हैं तो कुछ दिगम्बरों में अधिक प्रचलित हैं। आज ऐसे समन्वय प्रधान सम्प्रदाय की बहुत ही आवश्यकता अनुभव की जाती है।

दिगम्बर सप्रम्दाय में भी मूल, काष्टादि कई संघ-भेद समय समय पर हुए। उनमें से कई शाखाएँ एवं गच्छ निकलते रहे। इसी तरह श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी कई कुल, गण व गच्छ हुए। पर आज उन सबका न तो अस्तित्व ही है, न प्रभाव ही। अतः उनकी चर्चा यहाँ नहीं की जा रही है।

नग्नत्व के आग्रह वाले दिगम्बर सम्प्रदाय में भी मध्यकाल में भट्टारक सम्प्रदाय का बड़ा प्रभाव रहा, जिनके भट्टारक वस्त्र-पात्र आदि रखने लग गए थे। रांजाओं आदि ने उन्हें दान व सन्मान दिया। इसी तरह श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मध्यकाल में चैत्यवास का बड़ा बोलवाला रहा। समय समय पर सुविहित मुनियों ने क्रियाउद्धार करके शिथिलाचार निवारण का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रयत्न किया। चैत्यवास का प्रबल विरोध खरतरगच्छ के आचार्यों ने विशेष रूप से किया। जिससे उसका प्रभाव क्षीण हो गया। वर्तमान यति सम्प्रदाय उसी शिथिलाचार की परम्परा में है। १० वीं शताब्दी से श्वेताम्बर सम्प्रदाय में अनेक गच्छ अलग-अलग हो गये। जिनकी संख्या ८४ बतलाई जाती है। पर वास्तव में उससे भी अधिक पहुंच चुकी थी। इस मम्बन्ध में मेरा लेख "यतीन्द्रसूरि अभिनन्दन ग्रन्थ" में प्रकाशित हो चुका है। भट्टारक सम्प्रदाय एवं चैत्यवासी सम्बन्धी स्वर्गीय प्रेमीजी का भी एक लेख प्रकाशित हुआ था। जिसका शीर्षक है "वनवासी चैत्यवासी" अब से ५२ वर्ष पूर्व यह लेख "जैन हितैषी" में प्रकाशित हुआ था जो उनके जैन साहित्य और इतिहास ग्रन्थ में संग्रहित है। यति-समाज के सम्बन्ध में मेरा एक महत्वपूर्ण लेख "अनेकान्त" आदि पत्रों में प्रकाशित हुआ था। श्वेताम्बर दिगम्बर ८४ मान्यता-भेद सम्बन्धी मेरा लेख भी "अनेकान्त" में छप चुका है। "भट्टारक सम्प्रदाय" नामक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ डा० विद्याधर जोहरा पुरकर का जीवराज ग्रन्थमाला से प्रकाशित है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के अनेक संघ एवं गच्छों की पट्टावलियां प्रकाशित हो चुकी हैं। साधारण से आचार और विचार भेद के कारण आपसी तनाव बढ़ता गया और संगठन छिन्न-भिन्न सा होता गया। साम्प्रदायिकता के कारण ऐसी बातें सामने आई जो जैन सिद्धांतों के सर्वथा विपरीत थी। "अनेकान्त" सिद्धांत का उपयोग किया जाता तो समन्वय हो जाता। आचार्य हरिभद्र आदि कई महान समन्वय-प्रधान आचार्य हुए। वे हमारे लिए आदर्श हैं। आवश्यकता है भगवान महावीर के मूल सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए समन्वय करने की।

अब मैं जैनधर्म के वर्तमान संप्रदायों और उप-सम्प्रदायों आदि के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य लिख रहा हूं। दिगम्बर सम्प्रदाय में बीस पंथ और तेरह पंथ दो मुख्य भेद हैं। इनमें से बीस पन्थ तो भट्टारक परम्परा का अनुगामी सा है और तेरह-पन्थ का आविर्भाव १७ वीं शताब्दी के अन्त में सुप्रसिद्ध हिन्दी कवि बनारसीदास से हुआ। यह मूलतः श्वेताम्बर सम्प्रदाय के एवं श्रीमाल जाति के थे। आगरे में विशेष रूप से रहे। कुंदकुंद के 'समयसार' ग्रन्थ से बहुत प्रभावित हुए, उसका हिन्दी पद्यानुवाद भी बहुत ही सुन्दर बनाया। रूपचन्द के सम्पर्क से गोम्मट्टसार आदि ग्रन्थों के अध्ययन से जो पहले केवल निश्चय दृष्टि के अनुयायी बन गए थे, उसमें व्यावहारिक-दृष्टि का भी समावेश हुआ। अध्यात्म की और विशेष रुचि और प्रवृत्ति होने के कारण इनके मत को पहले 'आध्यात्मी' की संज्ञा मिली। फिर तेरह बातों के मतभेद को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लेकर 'तेरह पंथ' नाम प्रसिद्ध हो गया। वैसे बीस पंथ और तेरह पन्थ में साधारण मतभेद है। पर कई बातों को लेकर काफी तनातनी रही और आज भी है। १६ वीं शताब्दी में जिस तरह श्वेताम्बर सम्प्रदाय में लोंकशाह ने मूर्तिपूजा का निषेध किया उसी तरह दिगम्बर समाज के तारणस्वामी ने भी मूर्तिपूजा अमान्य की। इससे पहले सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर मूर्तिपूजा को ही मानने वाले थे। तारणपंथ का प्रचार मध्यप्रदेश के कुछ ग्राम-नगरों तक ही सीमित है। तारण स्वामी के ग्रंथों का हिन्दी अनुवाद ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी आदि ने प्रकाशित करवा दिया। दिगम्बर तेरह पंथ सम्बन्धी मेरा लेख 'जैनभारती' में छप चुका है।

वर्तमान में दिगम्बर सम्प्रदाय में जो सबसे अधिक संघर्ष है वह सोनगढ़ के कानजी स्वामी की मान्यता को लेकर है। कानजी स्वामी मूलतः स्थानकवासी श्वेताम्बर मुनि थे। समयसार से प्रभावित होकर उन्होंने दिगम्बर आध्यात्मिक ग्रन्थों का अधिक प्रचार करते हुए निश्चयनय को विशेष रूप से मान्य किया है। फलतः निश्चय और व्यवहार तथा निमित्त और उपादान को समान रूप से मानने वाले व्यक्तियों द्वारा उनका काफी विरोध किया जा रहा है। पर कानजी का प्रभाव बढ़ता ही जा रहा है। अवश्य ही वे प्रभावशाली वक्ता या प्रवचनकर्ता हैं। लाखों व्यक्ति उनके अनुयायी कई वर्षों में बन गये हैं। सस्ते मूल्य में काफी अच्छा साहित्य प्रकाशित किया है। अनेक विशाल मन्दिर उनके अनुयायियों ने बनाये हैं। सोनगढ़ उनका केन्द्रस्थल है, वैसे अनेक जगह इनका प्रभाव-विस्तार हुआ है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मन्दिर मार्गी, स्थानकवासी और तेरापन्थी तीन भेद मुख्य हैं। इनमें से मन्दिर-मार्गी या संवेगी सम्प्रदाय तो प्राचीन आचार्य परम्परा का अनुगामी है। इसमें खरतरगच्छ, तपागच्छ, आंचलगच्छ, पायचंदगच्छ, आदि कुछ गच्छ ही अब विद्यमान है। उनमें साधारण मान्यता-भेद है। वैसे तपागच्छ में भी तिथि-चर्चा आदि को लेकर कुछ मतभेद चल रहा है।

१६ वीं शताब्दी में लोंकाशाह ने पूजा में हिंसा-अहिंसा के प्रश्न को लेकर मूर्तिपूजा का निषेध किया पर साधु नहीं बने और संघ-व्यवस्था ठीक से नहीं कर पाये। इसलिए उनके नाम से प्रसिद्ध गुजराती लोंकागच्छ तथा उनकी परम्परा में उत्तरार्धगच्छ और विजयगच्छ अलग-अलग हो गए। लोंकागच्छ में क्रमशः शिथिलाचार भी बढ़ने लगा अतः १७ वीं शताब्दी के अन्त व १८ वीं के प्रारम्भ में ऋषि लवजी, धर्मदासजी एवं धर्मसिंहजी से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो परम्परा चली, वह ढूंढ़िया, साधुमार्गी, और बाईसटोला के नाम से प्रसिद्ध हुई। जिसका वर्तमान प्रसिद्ध नाम "स्थानकवासी" है। मुंह पर मुहपति बांधे रखने की प्रथा इसी परम्परा में प्रारम्भ हुई। १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इसी परम्परा में से भीखणजी द्वारा तेरहपंथ का प्रवर्तन हुआ। मूलतः तेरह व्यक्तियों के कारण यह नामकरण हुआ। दया दान आदि कुछ मान्यता को लेकर स्थानकवासी सम्प्रदाय से भीखणजी का मतभेद था। फलतः इन दोनों सम्प्रदायों में कालूगणि तक काफी संघर्ष होता रहा। मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में १७ वीं शताब्दी में धर्मसागर उपाध्याय ने प्रवचनपरीक्षा आदि ग्रन्थ लिख कर गच्छों में तनाव बढ़ाया। आचार्य हीरविजयसूरि ने धर्मसागर का बहिष्कार भी किया। प्रवचन परीक्षा से खरतरगच्छ, तपागच्छ, आंचलगच्छ, लोंकामत आदि में किन किन बातों को लेकर मान्यता-भेद रहा, इसकी जानकारी मिल जाती है। "खरतर तपा भेद" नामक एक पुस्तक भी प्रकाशित हुई है। जिसके उत्तर में प्रश्नोत्तर चत्वारिंशत् शतक ग्रंथ पूज्य बुद्धिमुनिजी ने सम्पादित करके प्रकाशित करवाया। इन ग्रन्थों से खरतरगच्छ और तपागच्छ के मान्यता-भेद-सम्बन्धी अच्छी जानकारी मिल जाती है। जैन धर्म के श्वेताम्बर, दिगम्बरों और उनकी वर्तमान शाखाओं या उप-सम्प्रदायों के उद्भव एवं विकास की यह संक्षिप्त कहानी है। वास्तव में यह विषय एक बहुत बड़े ग्रन्थ या शोध-प्रबन्ध का है। जैनधर्म में समय समय पर किन किन बातों को लेकर मतभेद हुए व संघर्ष हुए, इस सम्बन्ध में काफी साहित्य उपलब्ध है उसका मंथन कर मतभेद के कारणों पर खोजपूर्ण प्रकाश डालते हुए समन्वय कैसे स्थापित किया जा सकता हैं? इस पर एक बड़ा ग्रन्थ अवश्य ही प्रकाशित होना चाहिए। उसमें किसी भी मान्यता के पक्ष का समर्थन न होकर केवल ऐतिहासिक दृष्टि से प्रकाश डालते हुए दार्शनिक दृष्टि से तथ्य सामने लाकर समन्वय के सुझाव लिखे जायँ, तो बहुत सुन्दर कार्य होगा।

●●

किसी भी धर्म के मूल सिद्धान्त व्यापक होने लायक होने चाहिये। जिनमें ऐसा गुण न हो, वे सिद्धान्त के तौर पर नहीं माने जा सकते।

—महात्मा गाँधी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहानी

"ओह प्रभु ! धर्म को इन लोगों ने कितना छिछला बना दिया है, मिट्टी की मीनार जैसा, जो जरा सी ठेस से ढह पड़े... क्या धर्म टूटकर विखर जाने वाली मामूली वस्तु है"...... सरमद ने कहा—

बागी मसीहा

● दीनदयाल 'कुन्दन'

"सरमद तू नंगा क्यों रहता है—क्या तुझमें इन्सानी तहज़ीव भी नहीं है ?" औरंगजेब ने अपने सामने खड़े नग्न-फकीर से पहला प्रश्न किया।

सरमद ठठाकर हंसा, उसके पवित्र मुख-मण्डल पर एक तेजोमय आभा का उदय हुआ, उसके नेत्रों में गजब की रोशनी थी। वह औरंगजेब के सामने इस शान से खड़ा था जैसे भेड़िये के सामने सीना तानकर सिंह खड़ा हो। उसके नेत्रों में लेशमात्र भी भय नहीं था—वह समस्त बातों से बेफिक्र था—उसकी नज़रें कहां टिकी थी किसी को भी मालूम नहीं पड़ रहा था ।

सरमद महान था, अलौकिक। हिन्दू, मूसलमान, सिक्ख़ों का प्यारा। वह समस्त धर्म-वन्धनों से दूर हो गया था । उसकी आत्मा ने विस्तार पा लिया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

था, असीम हो गयी थी उसकी आत्मा । वह सभी लोगों में आदर का पात्र था । सभी जातियों के लोगों ने उसका शिष्यत्व ग्रहण किया था ।

सरमद ने हिन्दुस्तान की सर-जमीं पर अपने मुकद्दस कदम उस समय रखे थे जिन दिनों औरंगजेब ने अपने पिता शाहजहां को कैद में डालकर तख्ते-ताऊस पर अपना कब्जा कर लिया था और उसकी नज़रें अपने भाईयों पर थी, जिन्हें वह अपने रास्ते का रोड़ा समझकर उन्हें अपने रास्ते से हटाने की हर चंद कोशिशों में मशगूल था।

सरमद व्यापारी था और व्यापार के सिलसिले में ही ईरान से हिन्दुस्तान आया था—किन्तु यहाँ आकर वह यहां के रंग में बेहतर रंग गया था और आने वाले दिनों में वह एक सिद्ध मौला बन गया ।

उस समय हिन्दुस्तान में गहरी उथल-पुथल मची हुई थी—औरंगजेब ने हिन्दुओं पर जजिया लागू कर दिया था जिसका विरोध पूरे हिन्दुस्तान में जोर-शोर से हो रहा था । दक्षिण में शिवाजी के नेतृत्व में मरहठों ने सिर उठा रखा था । शिवाजी कुरान और गीता में कोई भेद नहीं करते थे । मुसलिम नारियों की इज्जत का भी उतना ही खयाल रखते, जितना कि हिन्दू ओरतों का । उत्तर में सिक्खों, सतनामियों और जाटों ने विद्रोह का झण्डा बुलन्द कर दिया था । और तो और मुगलिया सल्तनत के सबसे वफादार और अज़ीज़ दोस्त जयपुर के राजा जयसिंह तक ने इसका विरोध किया था ।

जयसिंह ने अपनी बुलन्द आवाज में कहा था—"**खुदा सिर्फ मुसलमानों का ही खुदा नहीं है बल्कि वह तो तमाम इन्सानों का खुदा है । उसकी नज़रों में हिन्दू मुसलमान का कोई भेद नहीं—वह तो समदर्शी है । हिन्दुओं पर मुसलमानों का अत्याचार करना उस सर्वशक्तिमान प्रभु की इच्छाओं का ही अनादर करना है । नाम और तर्जुमा बदल जाने से भगवान नहीं बदल जाता ।**"

औरंगजेब का भाई दाराशिकोह भी उसके दिखावटी कट्टरपन के विरुद्ध था । औरंगजेब अत्यन्त सुलझा हुआ राजनीतिज्ञ था और धर्म को राजनीति का मोहरा मानता था । दारा स्वयं वेदान्ती था, किन्तु हिन्दुस्तान के सभी धर्मों का वह समान रूप से आदर करता था । वह सिक्खों के सातवें गुरु 'हरिराई' का प्रगाढ़ मित्र था ।

जिस समय औरंगजेब की सेनाओं ने गोइंदवाला नामक स्थान पर दारा को चारों ओर से घेरकर नाकेबन्दी करदी थी, हरिराई ने ही उसकी हिफाज़त करके उसे सुरक्षित स्थान पर पहुंचाया था ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दारा ईसाई पादरियों का भी बहुत सम्मान करता था। उस समय लाहौर के बाबा लालदयालु का नाम दिग्दिगन्तों में फैला था। बाबा, वैष्णव सन्त थे। दारा ने उनका नाम सुना तो वह स्वयं लाहौर गया और उसने उनसे दीक्षा ग्रहण की। दारा, बाबा के उपदेशों को बड़े मनोयोग से सुना करता और उन पर अमल करने की भरसक चेष्टाओं में लगा रहता।

उन्हीं दिनों दारा की मुलाकात सरमद से हुई थी।

सरमद जो पहले यहूदी था, इस्लाम के उसूलों से प्रभावित होकर ईरान में मुसलमान बन गया था। जब ईरान से वह हिन्दुस्तान आया और उसने मुसलिम धर्म का असली रूप देखा—तो उसके हृदय को चोट लगी—उसने अनुभव किया कि धार्मिक उसूलों को ताक पर रखकर यहां का मुल्ला-वर्ग कट्टरपन, विद्वेष-भावना और इंन्सानों को एक दूसरे से अलग करने में लगा हुआ है तो उसने सूफी-दर्शन को कुबूल कर लिया। उस सूफी सन्त से जब दारा मिला तो उसे इंतिहां खुशी हुई। दोनों के समान आदर्श थे, समस्त धर्मों की समस्त अच्छाईयों को कुबूल करने में दोनों का विश्वास था और बुराईयों का बहिष्कार दोनों के मन में था।

दोनों के एक ही विचार थे।

परमात्मा एक ही है, संसार के समस्त प्राणी एक ही पिता की संतान है। ये सब बंटबारे नकली है। उस परमात्मा के अलग-अलग भाषाओं में अलग-अलग नाम है, किन्तु इससे यह भिन्न-भिन्न धर्मों में भिन्न-भिन्न कैसे हो सकता है? मनुष्य को चाहिए कि वह हर धर्म की कद्र करे।

दारा और सरमद के मध्य धर्म सम्बन्धी काफी विचार-विमर्श हुआ था। दारा, सरमद से बहुत प्रभावित हुआ था, उसने कहा था—"बाबा, आप इन्सानी मतभेदों के मिटाने के काम में लगिये, दारा आपकी इस काम में हर तरह से मदद और हिफाजत करेगा?" सरमद को हंसी आ गयी—"शहजादे, जो सर्व शक्तिमान प्रभु की 'हिफाजत में है,' उसे किसी और की मदद या हिफाजत की क्या जरूरत?

"बजा फरमाते हैं जनाबेअली, मुझसे कुसूर हुआ। मैं अपने अल्फाज़ वापस लेता हूं।"

सरमद फिर हंसा। उसके बच्चे जैसे मासूम चेहरे पर हर समय तबस्सुम की किरनें बिखरी रहती थी। वह एकदम फक्कड़ था, उसे जो कुछ कहना होता, बिना किसी लाग-लपेट के साफ-साफ शब्दों में कह डालता। वह किसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से नहीं डरता था। वह कहा करता—**"सब इन्सानी रूहें यकसां हैं, इन्सान के दुःख को दूर करो, किसी को भी दुखी करके तुम खुद भी दुख के दलदल में ही फंसोगे।"**

सरमद ने गांव-गांव में जा-जाकर लोगों को उपदेश दिये—और फिर दिल्ली की जामा-मस्जिद को उसने अपना वसेरा वनाया। दूर-दूर के लोग उसके अमृत-वचन सुनने आते। सभी धर्मों के लोग—उसकी नज़रों में कोई विधर्मी नहीं था। सब एक थे।

उसकी ये हरकतें मुल्लाओं के लिए परेशानी का सबब बन गयी थी, वे सहनशीलता की हदों से भी गुज़रने, गुज़रने को हो गये थे। दिल्ली के समस्त मुल्ला-वर्ग में खलबली मच गई थी। मुल्ला लोग इकट्ठे होकर उनके पास आते और उससे जिरह करते। सरमद उनकी नासमझी पर हंसता और कुरान की आयतों के माध्यम से ही उनके ढ़ोंगों का पर्दाफास कर देता। **तुम लोग खुदा की राह से बहुत दूर हो, क्योंकि तुमने खुदा को तकसीम कर दिया है, कितने मूर्ख हो तुम, कि तुमने खुदा को इतना छोटा बना दिया है।**

बहुत उथल-पुथल मच गयी थी मौलवियों में। क्या किया जाय—कैसे निपटा जाय इस काफिर से—अगर समय रहते नहीं निपटा गया तो इस्लाम खतरे में पड़ जायगा क्योंकि मुल्ला लोगों का सत्ता में प्रभाव कम हो जायगा—अपूर्व तार्किक था वह सरमद, इसलिए बड़े से बड़े आलिम-फाजिल मुल्ले भी घवराते थे उसके सामने जाते हुए। उसके सामने जाते ही उनकी हिम्मत पस्त हो जाती थी।

सरमद ने झूठे आवरण कहकर अपने कपड़े भी उतार फेंके थे, वह मान-अपमान, सुख-दुख, शर्म-बेशर्मी, ऊंच-नीच, वासना-ब्रह्मचर्य, छोटे-बड़े की सीमाओं से परे हो गया था। उसने अपने आपको सम्पूर्ण रूप से परमपिता परमेश्वर को समर्पित कर दिया था। वह कहा करता था—"प्रभु के दरबार में सब एक हैं, उस प्रभु ने जब मुझे जमीन पर भेजा था तो बिना लिबास के ही भेजा था—फिर क्यों बनावटी चिलमन डाली जाय अपने शरीर पर—

मुल्लाओं को अपने त्राण का रास्ता सहज ही मिल गया, उसकी इस हरकत से। कुरान के अनुसार समाज के बीच किसी भी वालिग आदमी या स्त्री का नंगा घूमना कुफ्र में शुमार किया गया है—इस्लाम की रिवायतों के अनुसार यह जुर्म है, घोर संगीन जुर्म। इसी जुर्म के तहत मुल्लाओं ने उसे गिरफ्तार करके औरंगजेब के दरबार में पेश किया था। औरंगजेब ने उसे नंगा रहने का सबब पूछा और इन्सानी तहजीब की दुहाई भी दी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूफी कवि सरमद में दारा के पक्षपाती दल का विप्लव आसरा पा रहा था क्योंकि सरमद समन्वयवादी था।

सरमद औरंगजेब के इस मूर्खतापूर्ण प्रश्न पर बहुत जोर से ठठाकर हंसा था, वही बाल सुलभ हंसी जो उसकी रग-रग में बसी थी। **उसने बड़े अक्खड़पन से जबाब दिया —"तुम लोग इसलिए लिबास वाले हो कि तुममें एब भरे पड़े हैं, उस परमात्मा ने तुममें एब देखे इसलिए उसने तुम सबको ढक दिया, मैं निर्दोष हूं तो उसने मुझे उरियानी का लिबास दिया। जिसने तुझे ताज और तख्त बख्शा, उसी ने मुझे यह परेशानी दी है।"**

औरंगजेब का चेहरा उसके इस उत्तर से एकाएक बुझ गया।

बस, निर्भीक और नंगे फकीर ने इस प्रकार का स्पष्ट और करारा उत्तर देकर तख्त की महानता के उस ढ़कोसले को सरे-आम चुनौती दी थी। सभी सभासद और मुल्ला-वर्ग तौवा-तौवा, कुफ्र-कुफ्र चिल्ला उठे थे। मुल्लाओं ने एक आवाज से कहा—यह कुफ्र बक रहा है शहंशाहे-आली, इसका सर कलम कर दिया जाना ही मुनासिब है।

सरमद सहस्र तारों के बीच चन्द्रमा-सा, सहस्रों सियारों के बीच सिंह-सा अडिग खड़ा रहा। उसके चेहरे पर कोई विकार, कोई भाव नहीं उभरा। वह चिन्ताओं, जीवन-मरण की परिधियों को भी लांघ चुका था।

वह समुद्र की तरह धीर-गम्भीर खड़ा रहा।

औरंगजेब कितनी ही देर विचारों में डूबा रहा—औरंगजेब खो गया किन्हीं खयालों में, उसका उतना विशाल व्यक्तित्व जिसे वह हर घड़ी सर्वोच्च महसूस किया करता था कहीं विलीन हो गया। उस नंगे फकीर के व्यक्तित्व के आगे उसे अपना व्यक्तित्व बहुत क्षुद्र-सा लगा—हिमालय के सामने रखे रेत-कण सा। चारों ओर दरबार में पूर्ण सन्नाटा छाया रहा। कुछ देर बाद एकाएक जैसे औरंगजेब को होश आया, उसने कहा—"मा-बदौलत का हुक्म है कि इसे रिहा कर दिया जाय—मा-बदौलत इसकी निडरता और ईमानदारी पर बहुत खुश हैं।

दरबार बर्खास्त कर दिया गया।

औरंगजेब अत्यन्त चतुर शासक था, वह जानता था कि बेमतलब ही अगर उसने सरमद को मार दिया तो पूरी दिल्ली में आंधी की तरह बगावत फैल जायगी जिसको रोकने की कौशिश में उसकी सल्तनत ही आँधी की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लपेट में आये दरख्त की मानिन्द उखड़कर ढ़ेर हो जायेगी। उसे अपने जासूसों के जरिये इस फकीर के वारे में सम्पूर्ण जानकारी मिल चुकी थी। जासूसों ने कहा था कि इस फकीर की बड़ी इज्जत है लोगों के दिलों में। उसके जरा से संकेत पर वे मरने-मारने पर उतारु हो सकते हैं—और इस बाग का असर सीधा उसकी सल्तनत पर आ सकता है। ठीक और अचूक मौका आने पर ही दुश्मन पर वार करना चाहिए, ऐसा समझदार लोग कह गये हैं।

सरमद दिन-ब-दिन और अधिक, और अधिक बागी होता गया। उसने अपनी तेजस्वी वाणी से ललकार ललकार कर लोगों से कहना शुरू किया—

शाहे शाहानेम् जाहिद ! चूं तो उरियाँ नेस्तम्
शौको जौके शोरशम् लेकिन परीशां नेस्तम्
बुतपरस्तम् काफिरम् अज़ अहले ईमां नेस्तम्
सूए मस्जिद मीख्म अम्मां मुसल्मां नेस्तम्।

"हे जाहिद ! मैं बादशाहो का बादशाह हूं—तेरी तरह नंगा कंजूस नहीं हूं, मूर्तिपूजक और काफ़िर हूं किन्तु ईमानवाले मुसलमानों से मैं बिलकुल अलग हूं (क्योंकि वे बहुत अधिक संकीर्णता में फँसे हैं)। यां मैं कभी-कभी मस्जित, गिर्जों और गुरुद्वारों में भेद नहीं मानता) किन्तु मुसलमान नहीं हूं।

कांप-काँप उठा दिल्ली सल्तनत का पत्ता-पत्ता, गोशा-गोशा उसकी इस ललकार से। मुल्ला घबरा उठे उसकी ललकार सुनकर। वह मस्तमौला था। **वह सत्य का उपासक था - उसने सत्य को अपनी ही तरह नंगा कर दिया था जिसे दुनियावी विषयी-नेत्र नहीं झेल पाये थे।** वह तख्तो-ताज़ की क्या परवाह करता, वह सारे संसार की हूकूमत का मालिक मानता था अपने आपको। **वह कहता संसार की सारी पृथ्वी सरमद की है, उसके समस्त बाशिन्दे उसके अपने हैं—उसके सगे भाई, नीला आकाश उसका तम्बू है —।** न वह मुसलमान को मानता है न मुल्ला को। यह कैसी बात थी कि वह अपने आपको अपने मुँह से काफिर कहता था और कोई भी उसका बाल बांका करने में असमर्थ था। तर्क में वह हारता नहीं था, काफिरों की मज़-लिसों को वह आबाद किया करता था।

उस दिन तो कहर ही ढह पड़ा जिस दिन उसने खुले रूप में आम जनता के बीच बड़ी ही निर्भीकता से कहा था—

"जिसे उस परमात्मा की हकीकत का पता लग जाता है, उसकी नजरों में आसमान बहुत छोटा पड़ जाता है। मुल्ला तो कहता है कि मुहम्मद खुदा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से मिलने आसमान पर गया पर सरमद कहता है कि आसमान ही मुहम्मद में समा गया। परमात्मा क्या इतना छोटा है कि वह आसमान में घर बनाकर रह सके? कैसी बेबकूफी भरी बात है? ऐसी ही बेबकूफी भरी बातों पर सरमद हंसता—और हंसता ही चला जाता—कितने अधिक भटके हुए हैं ये तमाम इन्सान, कितना क्षुद्र है इन लोगों का मन, कितनी संकरी है इनकी स्वार्थभरी इच्छाएँ।

"ओह प्रभू, धर्म को इन लोगों ने कितना छिछला बना दिया है, मिट्टी की मीनार जैसा, जो जरा सी ठेस से ढह पड़े—क्या धर्म सचमुच इतनी कमजोर बुनियाद पर खड़ा है कि एक फकीर की वाणी मात्र से हिलकर बिखर जाय? धर्म क्या टूटकर बिखर जाने जितनी मामूली वस्तु है?

मुल्ला उसके इन वचनों से खलबला उठे। उनका रक्त खौल उठा।

चारों तरफ से सरमद को घेर लिया गया और दौबारा औरंगजेब के सामने पेश किया गया। सरमद उसी शान के साथ खड़ा हुआ। वही बालसुलभ मुख-मण्डल पर मुस्कान की रोशनी धारण किये। जैसे पिता अपने अपराधी बच्चों का जुर्म सहने के लिए खुशी-खुशी उनके बीच आकर खड़ा हो गया हो।

"जहांपनाह, यह काफिर है।"

"अब यह सरे-आम कुरान की तौहीन करने लगा है -"

"यह आयतों पर विश्वास नहीं लाता।"

"वह नहीं मानता कि मुहम्मद साहब सशरीर आसमान में गये थे।"

"इसका दिमाग फिर गया है शहंशाहे-आली !"

"यह कुफ्र बकता है, कुफ्र····।

"और कुफ्र की सजा है मौत ···।"

"यह दोजख का कीड़ा है ···। इसके लिए वही जगह महफूज है।"

"हां, हां यह इस दुनियां के काबिल नहीं····।"

"इस पर रहम करने का मतलब है खिलाफत में इसका हाथ बटाना, बागी पर रियायत।"

"इसके कुफ्र को बढ़ावा देना····।"

"इस्लाम के उसूलों की खिल्ली उडाना ···।"

कट्टरपंथी सभासद भी चिल्ला उठे—इसे नेस्तनाबूद कर दिया जाय - इस पर रहम न बरता जाय - यह काफिर है—काफिर।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपने आपको जिन्दा-पीर मानने वाला औरंगजब सबकी बात सुनता रहा। जब औरंगजेब ने अपना दाहिना हाथ उठाकर सबको चुप रहने का हुक्म दिया तो पूरा माहौल बिलकुल शांत होगया ''। औरंगजेब ने जब सरमद की ओर अपना रुख किया और मुस्कुराते हुए उससे बोला''' "तुम्हें कलमा पढ़ना आता है''' ?"

"हां।" मुस्कुराते हुए सरमद बोला—और फिर जोर से बोला—"ला इल्लाह।" अर्थात् कोई नहीं है पूज्य।

इससे आगे उसने एक भी शब्द नहीं कहा, वह बुत की तरह खामोश हो गया, कहीं खो गया।

कुफ्र की इन्तिहां हो गयी थी। उसने सरे-आम खुदा-ताला को नहीं मानने का ऐलान कर दिया था। औरंगजेब ने मुंह पर बनावटी प्रसन्नता लाते हुए उसे बढ़ावा दिया हां, हां, आगे कहो। वह तो कहो जो और सूफी कहते हैं।

"जो कुछ मैं खुद अनुभव करता हूं, वही कहता हूं, जूंठन बंटोरने की आदत नहीं है मुझे।"

औरंगजेब अब अपने गुस्से पर काबू नहीं रख सका। क्रोध से वह लाल-पीला हो गया,उसकी आंखों के डोरे तन गये चेहरा। तमतमा गया। वह जोर से चिल्लाकर बोला—कत्ल करदो इस नामुराद को—ताकि इसकी चख् चख् करने वाली जीभ सदा के लिए बंद हो जाये।

उसी आवेश में विकृत चेहरा लिये तख्ते-ताऊस से उतर कर औरंगजेब हरम में चला गया, दरबार तत्काल बर्खाश्त कर दिया गया।

जामा-मस्जिद में सरखुश पानी पती, नासिरअली, सरहिन्दी और अब्दुल कादिर बेदिल जैसे महान तत्व-चिन्तकों और शायरों ने सरमद की भावभरी आवाज सुनी, वह कह रहा था :—

देर अस्त कि अफसानए मंसूर कुहन शुद,
अकनूं सरे नौ जलवा दिहम दारो रसन रा।

बहुत अधिक समय गुज़र जाने के कारण मंसूर का किस्सा बहुत पुराना पड़ गया है, इसी लिए मैं सूली पर चढ़कर उस किस्से को फिर से ताजा कर रहा हूं, दारा और रसन का जलवा फिर चमक कर दिखाता हूं।

दूसरे दिन ''''।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिल्ली उमड़ी चली आ रही थी। लोगों की आंखों से घरर-घरर आंसुओं के धारे के धारे बह रहे थे, लोगों का कलेजा फटा जा रहा था—आत्मा का दुःख विगलित हो-होकर नेत्रों की राह उमड़ा चला आ रहा था। कौन किसे दिलासा दे, कौन किसे समझाए—। आज उनके प्राणों का प्यारा मार्गद्रष्टा उनसे बिछुड़ रहा था। अब कौन उन्हें गले से लगाएगा—अब कौन उनको विभेद की दीवारों से बचाएगा —?

सरमद ने मुस्कुराते हुए, अपने दोनों हाथों को उठाकर अपनी उसी ओजस्वी एवं गंभीर वाणी से पुकार कर कहा—

बजुर्मे इश्के तो अम् मीकुशन्द गोगाएस्त
तो नीज वस्सरे बाम आकिखुश तमाशा एस्त ।

"मुझे तेरे इश्क के जुर्म में ही मारा जा रहा है, जरा तू भी अटारी पर चढ़कर देख –कैसा मजेदार तमाशा हो रहा है।"

जल्लाद आकर सामने खड़ा हो गया। सरमद के चेहरे की मुस्कराहट और घनी हो गयी, उसके प्रेम-विह्वल नेत्र जल्लाद के चेहरे पर टिक गए—उन नेत्रों में अपार स्नेहीमयी करुणा थी। सरमद ने अपनी नजरें जल्लाद की नजरों में डालकर कहा—

फिदाये तो शबम् बिया बिया, कि तो बहर सूरते कि मी आई
मन तुरा रकूब मीशनासम् ।

"मेरे प्रियतम, तू आ गया—मैं क्या तुझे पहचानता नहीं—? मैं बार-म्बार तुझ पर न्योछावर हूं—तू चाहे जिस सूरत में आए मैं तुझे तत्काल पहचान लूंगा। मैं तो तेरे कण-कण से वाकिफ हूं–।"

लोग हाय-हाय कर उठे। जल्लाद की तलवार उठी—एक सपाका हुआ, पानी की बूंद पलभर में समुद्र बन गयी—।

लोगों ने देखा, उसके धड़ रहित चेहरे पर भी वही मुस्कान थी—वही करुणा—वही प्रेम का छलछलाता दरिया····। उनके चेहरे पर वही नूर का जलवा था—क्षमा का भाव ।

सरमद मरा नहीं था बल्कि वह तो जिन्दा हो गया था, हजार-हजार लोगों के दिलों में रोशनी बनकर, लाखों-लाख इन्सानों की नजरों में आंसूओं की झिलमिलाती ज्योति बनकर, हजारों—हजार लोगों के दिलो-दिमाग में याद बनकर—दुख, करुणा—बनकर—।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोगों ने घेर लिया—सरमद की लाश कोई नहीं छू सकता—। कोई नहीं।

"सरमद पर हम सबका अधिकार है—।

"जो हाथ उसे छूएगा, वह तोड़ दिया जाएगा—।"

"सरमद हमारा है—हमारा—।" हम अपने हाथों में उसे समाधि देंगे। जन-मेदिनी चिल्लाई।

बादशाह का फर्मान आया लाश बाईज्जत रियाया को सौंप दी जाय।

लोगों ने उसे जामा-मस्जिद के ठीक सामने ही दफनाया—जहां वह अभी भी सोया है, एक छोटी सी चूने-मिट्टी की साधारण कब्र में शांति की चिर-निद्रा में।

गलत है, गलत है यह बात। दूसरों को जगाने वाला खुद सो सकता है? नहीं-नहीं, वह जाग रहा है, वह सो नहीं सकता। किन्तु स्वार्थी, पद-लोलुप धर्म के ठेकेदार बार बार उसका कत्ल कर देते हैं। उनके स्वार्थों को ठेस जो लगती है, उसके जागृत रहने से। जबतक स्वार्थ जिन्दा है तब तक सरमद यों ही बार बार मरता रहेगा। जब तक मनुष्य का मनुष्य शोषण करता रहेगा स्वार्थ नहीं मर सकता। जब तक संसार में दो मनुष्य भी जिन्दा हैं शोषण की प्रक्रिया नहीं मिट सकती।

यही कारण है कि सरमद बार बार मरता है। उसका कत्ल बार बार कर दिया जाता है।

यही है समन्वयवादी सरमद की संक्षिप्त कहानी जाने कब तक इस कहानी की पुनरावृत्ति का क्रम चलता रहेगा, कहा नहीं जा सकता।

(—१५ए, हार्निमन सर्कल, दूसरी मंजिल
भारत इंशुरंश बिल्डिग फोर्ट बम्बई--१)

●●

ज्ञान दूर, कुछ क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सके, यह विडम्बना है जीवन की॥

—जयशंकर प्रसाद (कामायनी)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रच लिये हमने भगवान

लड़ती है गीता से बाइविल, और पुराणों से कुरान।
अपनी सुविधा के खातिर कई, रच लिये हमने भगवान।।

मर्म धर्म का नहीं समझते, नहीं विचार अपने एक,
एक धर्म के ही बना लिए हैं, आज हमने धर्म अनेक।
तैर रहे हैं सिर्फ सतह पर, तह तक नहीं पहुँच पाते,
अलग-अलग ढ़पली पर अपनी, राग अनूठे सब गाते।।

करके टुकड़े, कई धर्म के, पहुँचाया उसे रसातल।
ऊपर से दावा करते, किया धर्म का है उत्थान।।

एक दूसरे की नजरों में, बने हुए हम सभी विधर्मी,
अपने अपने ही धर्मों को स्थापित करने की हठधर्मी।
एक वृक्ष की शाखाओं को, काट काट कर हमने रोपा,
एक दूसरे पर उनको ही, वृक्ष बना कर हमने थोपा।।

पड़ा हुआ है कितना मोटा, भ्रम का पर्दा आँखों पर।
अपनी-अपनी सीमा गढ़ते, तान-तान कर नए वितान।।

हिन्दू मुस्लिम सिक्ख पारसी, बौद्ध जैन या ईसाई,
आओ मिल जुलकर हम फिरसे, बन जाएँ सब एक ईकाई।
जैसे शून्य सभी अंको में रमा हुआ है एकाकार,
या फिर व्यंजन में खो देता, जैसे स्वर अपना आकार।।

सब धर्मों में निहित एक ही महाशक्ति है वैसे ही।
अलग-अलग रूपों में करते, हम उसका आदान-प्रदान।।

—ओम् पुरोहित

तुंगभद्रा पल्प एण्ड बोर्ड मिल्स लि०
१३९, मेडोज स्ट्रीट, सेक्सरिया चेम्बर
फोर्ट, बम्बई—१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

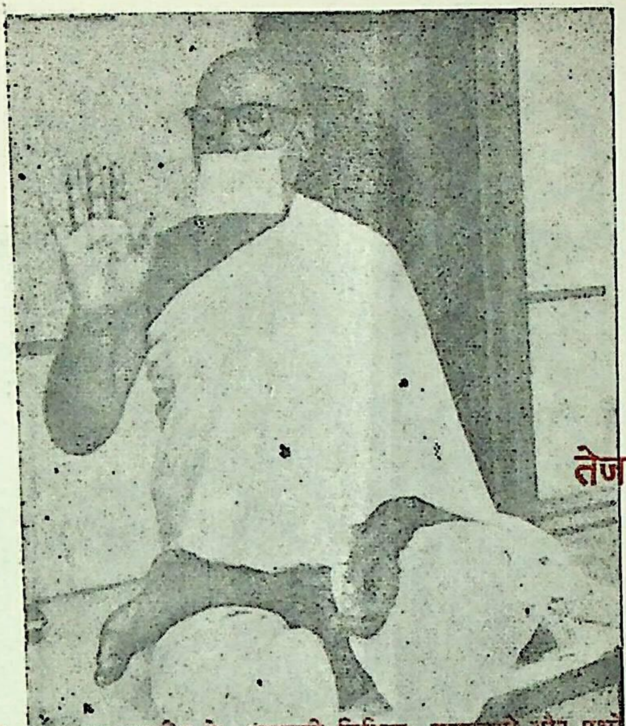

एकता के विना तेजस्विता नहीं

- भगवान महावीर के अनुयायी विभिन्न सम्प्रदायों और पक्षों में बंटे हुए हैं। पंथ व सम्प्रदाय एक दूसरे के बीच दीवार बने खड़े हैं।
- मेरा दृढ़ विश्वास है कि इन सम्प्रदायों में कोई मौलिक भेद नहीं है, कोई सैद्धान्तिक अन्तर नहीं है। जो भेद हैं वह केवल क्रिया-कांड का अर्थात् बाह्य आचार का है।
- जैनों का मूल दर्शन (सम्यक्त्व) एक है और मूल धर्म (आचार-मोह क्खोह विहीणो चारित्त-मोह एवं क्षोभ से रहित आत्मभाव ही चारित्र हैं, मूल आचार है) भी एक है। उसमें कोई भेद नहीं है।
- बाह्यआचार भेद को महत्त्व देकर, जैनों ने अपने गौरव को क्षीण किया है, अपना वर्चस्व, अपना विकास और विश्व हित में अपने देय को बहुत निर्बल बनाया है। मतभेदों ने आज जैनत्व को निर्माल्य-सा बना दिया है।
- भगवान महावीर की निर्वाण शताब्दी के ऐतिहासिक प्रसंग पर भी हम भगवान महावीर के अहिंसा, सत्य व अनेकांत के सिद्धान्तों के अनुयायी एक न हो सके तो इससे बड़ी विडम्बना और क्या होगी? एकता के विना हमारे कार्यक्रम में तेजस्विता नहीं आ सकेगी, जीवट और उत्साह नहीं आ सकेगा।

—उपाध्याय अमरमुनि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समन्वय की दिशा मे :

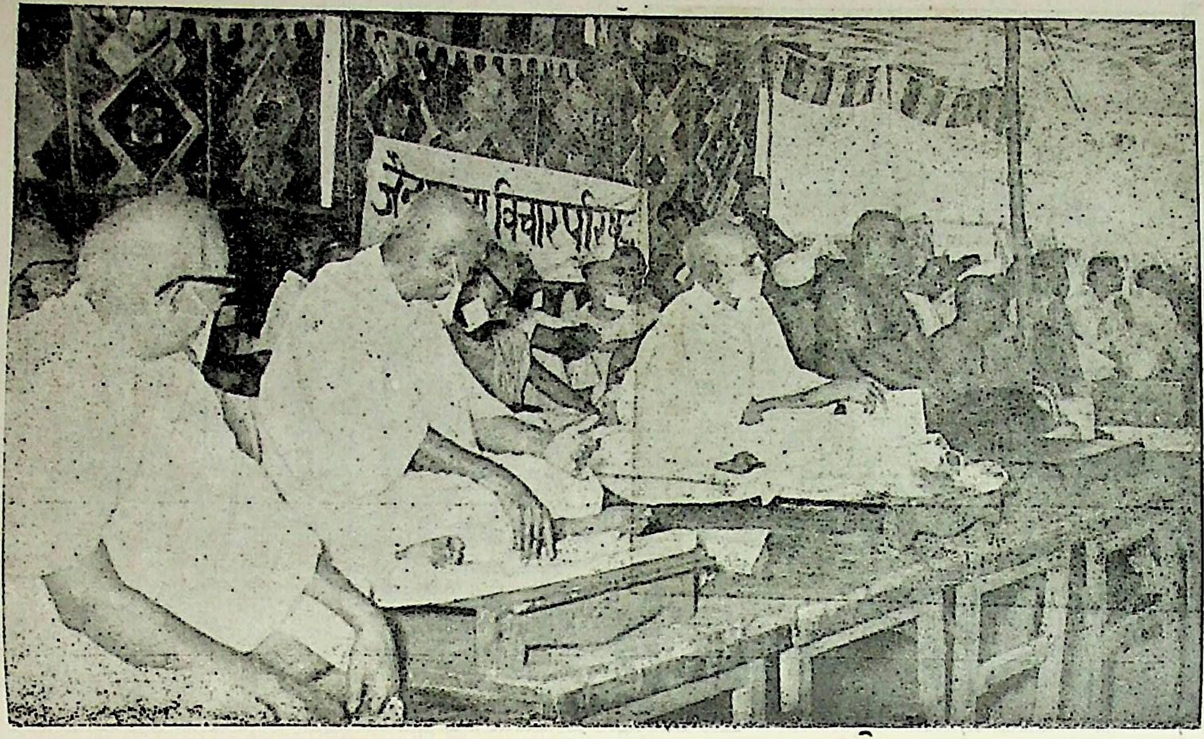

दिल्ली में जैन एकता परिषद् के आयोजन में एक मंच पर :
स्थानकवासी आचार्य श्री आनंद-ऋषिजी, तेरापंथ के आचार्य श्री तुलसी जी एवं दिगम्बर आचार्य श्री देश-भूषण जी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसमें कोई संदेह नहीं कि अनेकान्त का अनुसन्धान भारत की अहिंसा साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितना ही शीघ्र अपनायेगा विश्व में शांति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।

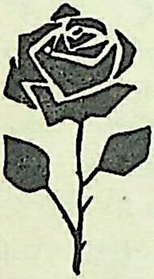

समन्वयात्मक भारतीय संस्कृति
अनेकांत और गांधीजी

डा० रामधारी सिंह 'दिनकर'

[श्री दिनकर जी राष्ट्रकवि के रूप में जितने विख्यात हैं उतने ही अपनी गहन चिन्तन पूर्ण गद्य रचनाओं के लिए भी सुप्रसिद्ध हैं। "संस्कृति के चार अध्याय" ग्रन्थ साहित्य जगत को उनकी अनुपम देन है। प्रस्तुत निबंध उसी ग्रन्थ के विचारों का उपयोगी एवं प्रेरक संकलन है—सम्पादक]

हिन्दू संस्कृति की पाचनशक्ति बड़ी ही प्रचण्ड मानी गयी है। इसका कारण शायद यह है कि जब आर्य इस संस्कृति का निर्माण करने लगे तब उनके सामने अनेक जातियों को एक संस्कृति में पचाकर समन्वित करने का सवाल था, जो उनके आगमन के पहले से ही इस देश में बस रही थीं। अतएव उनने आरम्भ से ही हिन्दू संस्कृति का ऐसा लचीला रूप पसन्द किया, जो प्रत्येक नयी संस्कृति में लिपटकर उसे अपनी बना सके। नीग्रो से लेकर हूणों तक, इस देश में आनेवाली सभी जातियां इसी लचीलेपन के कारण हिन्दू समाज में खप गयीं। हिन्दू संस्कृति ने अनेक संस्कृतियों को पीकर अपनी ताकत बढ़ायी है—यहां तक कि इस्लाम, जो अपने व्यक्तित्व को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वतंत्र रखने का मंसूबा लेकर चला था, वह भी भारत में आकर कुछ परिवर्तित हो गया। यद्यपि, भारतीय मुसलमान धर्म के मामले में अपनी सत्ता को स्वतंत्र रखने में बहुत दूर तक कामयाब हुए, लेकिन संस्कृति की दृष्टि से वे भी अब भारतीय हैं।

हिन्दू या भारतीय संस्कृति की इस विशेषता को लोग बड़े विस्मय से देखते हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासकार मिस्टर डाडवैल ने लिखा है कि "भारतीय संस्कृति महासमुद्र के समान है, जिसमें अनेक नदियाँ आ-आकर विलीन होती रही है। आर्यों और द्रविड़ों के मिलन से भारतीय संस्कृति ने जो रूप धारण किया, यह उसी की ताकत थी कि इस समन्वय के बाद जो भी जातियां इस देश में आयीं, वे भारतीय संस्कृति के समुद्र में एक के बाद एक विलीन होती चली गयीं। एक विचारक मिस्टर सी० ई० एम० जोड ने लिखा है कि "मानव जाति को भारतवासियों ने जो सबसे बड़ी चीज वरदान के रूप दी है, वह यह है कि भारतवासी हमेशा ही अनेक जातियों के अनेक प्रकार के विचारों के बीच समन्वय करने को तैयार रहे हैं। और सभी प्रकार की विविधताओं के बीच एकता कायम करने की उनकी लियाकत और ताकत लाजवाब रही है।" संसार के सामने आज जो सबसे बड़ा सवाल पेश है, वह यह है कि दुनिया की अनेक जातियों, अनेक वादों और विचारों तथा अनेक संस्कृतियों के बीच समन्वय स्थापित करके हम विश्व संस्कृति का निर्माण कैसे कर सकते हैं। स्पष्ट ही संसार को उसी मार्ग को अपनाना पड़ेगा, जिस मार्ग पर चलकर भारतवर्ष अपने यहां की विभिन्न संस्कृतियों के बीच एकता या मेल बिठाता रहा है। इसीलिए मिस्टर जोड ने भारत की इस योग्यता को विश्व-मानवता के लिए सबसे बड़ा वरदान कहा है। १९ वीं सदी में अपनी अपूर्व भारतभक्ति से सारे यूरोप को चोंका देने वाले मैक्समूलर ने एक जगह लिखा है कि "अगर में अपने आपसे यह पूछूँ कि केवल यूनानी, रोमन और यहूदी भावनाओं एवं विचारों पर पलने वाले हम यूरोपीय लोगों के आन्तरिक जीवन को अधिक समृद्ध, अधिक विश्वजनीन, संक्षेप में अधिक मानवीय बनाने का नुस्खा हमें किस जाति के साहित्य में मिलेगा, तो बिना किसी हिचकिचाहट के मेरी उंगली हिन्दुस्तान की ओर उठ जाएगी।" इसी प्रकार, बीसवीं सदी के अद्भुत चिन्तक और विश्व-मानवता के अपूर्व उपासक स्वर्गीय रोम्यारोलाँ ने लिखा है कि "अगर इस धरती पर कोई एक ऐसी जगह है, जहां सभ्यता के आरंभिक दिनों से ही मनुष्यों के सारे सपने आश्रय और पनाह पाते रहे हैं तो वह जगह हिन्दुस्तान है।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समन्वय, सह-अस्तित्व और सहिष्णुता ये एक ही तत्व के अनेक नाम हैं। इसी तत्व को जैन-दर्शन, शारीरिक धरातल पर अहिंसा और मानसिक धरातल पर अनेकान्त कहता है। जीवों को कष्ट नहीं देना यह शारीरिक अहिंसा की पहचान है। किन्तु जो चिन्तक और मनीषी हैं, वे जब आंख मूंद कर विरोधी मतों पर प्रहार करते हैं, तब उनका भी यह कार्य हिंसा का ही कार्य होता है। जन-साधारण को जीव-हिंसा से बचाने के लिए जैन-दर्शन ने अहिंसा का उपदेश दिया किन्तु चिन्तकों और विचारकों को हिंसा-कर्म से विरत करने के लिए उसने अनेकांत का सिद्धांत निकाला।

अनेकान्तवाद का दार्शनिक आधार यह है कि प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण पर्याय और धर्मों का अखण्ड पिण्ड है। वस्तु को तुम जिस दृष्टिकोण से देख रहे हो, वस्तु उतनी ही नहीं है। उसमें अनन्त दृष्टिकोणों से देखे जाने की क्षमता है। उसका विराट् स्वरूप अनन्त धर्मात्मक है। तुम्हें जो दृष्टिकोण विरोधी मालूम होता है, उस पर ईमानदारी से विचार करो तो उसका विषयभूत धर्म भी वस्तु में विद्यमान है। चित्त से पक्षपात की दुरभिसंधि निकालो और दूसरे के दृष्णिकोण के विषय को भी सहिष्णुतापूर्वक खोजो वह भी वहीं लहरा रहा है।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेकान्त का अनुसंधान भारत की अहिंसा-साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितना ही शीघ्र अपनाएगा, विश्व में शांति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।

गांधीजी के वचन और प्रयोग से जो सिद्धांत निकलता है, उसके अनुसार हिंसा केवल रक्तपात करने अथवा दूसरों को शारीरिक कष्ट पहुंचाने में ही नहीं है। उसका एक विकृत रूप दुराग्रही होना भी है। अपने मतवाद पर अहंकारपूर्वक अड़ जाना भी हिंसा ही है। भारत में अहिंसा के सबसे बड़े प्रयोक्ता जैन मुनि हैं, जिन्होंने मनुष्य को केवल वाणी और कार्य से ही नहीं प्रत्युत विचारों से भी अहिंसक बनाने का प्रयत्न किया था। किसी भी बात पर यह मानकर अड़ जाना कि यही सत्य है तथा बाकी लोग जो कुछ कहते हैं, वह सबका सब झूठ और निराधार है, विचारों की सबसे भयानक हिंसा है। मनुष्य को इस हिंसा के पापसे बचाने के लिए ही जैन मुनियों ने अनेकांत वाद का सिद्धान्त निकाला था, जिसके अनुसार प्रत्येक सत्य के अनेक पक्ष माने जाते हैं तथा हम जब जिस पक्ष को देखते हैं, तब हमें वही पक्ष सत्य जान पड़ता है। अनेकान्तवादी दर्शन की उपादेयता यह है कि वह मनुष्य को दुराग्रही होने से बचाता है, यह शिक्षा देता है कि केवल तुम्हीं ठीक हो,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसी बात नहीं है, शायद वे लोग भी सत्य ही कह रहे हो जो तुम्हारा विरोध करते हैं। यह दर्शन मनुष्य के भीतर बौद्धिक अहिंसा को प्रतिष्ठित करता है। संसार में जो अनेक मतवाद फैले हुए हैं अनेकान्त उनके भीतर सामंजस्य को जन्म देता है तथा वैचारिक भूमि पर जो कोलाहल और कटुता उत्पन्न होती है, उससे विचारकों के मष्तिष्क को मुक्त रखता है।

अनेकान्त जैन दर्शनों में सोया हुआ था। भारतवासी जैसे अपने दर्शन की अन्य बातें भूल चुके थे, वैसे ही अनेकान्तवाद का यह दुर्लभ सिद्धान्त भी उनकी आंखों से ओझल हो गया था किन्तु नवोत्थान के क्रम में जैसे हमारे अनेक अन्य प्राचीन सत्यों ने दुबारा जन्म लिया, वैसे ही गाँधीजी में आकर अनेकान्तवाद ने भी नवजीवन प्राप्त किया। सम्पूर्ण सत्य क्या है, इसे जानना बड़ा ही कठिन है। तात्विक दृष्टि से यही कहा जा सकता है कि प्रत्येक सत्यान्वेषी सत्य के जिस पक्ष के दर्शन करता है, वह उसी की बातें बोलता है। इसीलिए सत्य के मार्ग पर आए हुए व्यक्ति की सबसे बड़ी पहचान यह होती है कि वह दुराग्रही नहीं होता, न वह यही हठ करता है कि मैं जो कुछ कह रहा हूं, वही सत्य है। अपने ऊपर एक प्रकार की श्रद्धा तथा यह भाव कि, कदाचित् प्रतिपक्षी का मत ही ठीक हो ये अनेकान्तवादी मनुष्य के प्रमुख लक्षण हैं।

गांधीजी पर ये सभी लक्षण घटित होते हैं, क्योंकि उनकी अहिंसा कायिक और वाचिक होने के साथ बौद्धिक भी थी। और इसी बौद्धिक अहिंसा ने उन्हें समझोतावादी एवं विरोधियों के प्रति श्रद्धालु बना दिया था। जब गांधीजी 'भारत छोड़ो' आन्दोलन की योजना बना रहे थे, सुप्रसिद्ध अमरीकी पत्रकार लुई फिशर ने उनसे पूछा कि आपके इस कार्य से युद्ध में बाधा पड़ेगी और अमरीकी जनता को आपका यह आन्दोलन पसन्द नहीं आएगा। अजब नहीं कि लोग आपको मित्र-राष्ट्रों का शत्रु समझने लगे। गाँधीजी यह सुनते ही घबरा उठे। उन्होंने कहा, फिशर, तुम अपने राष्ट्रपति से कहो कि वे मुझे आन्दोलन छेड़ने से रोक दें। मैं तो मुख्यत: समझोतावादी मनुष्य हूं, क्योंकि मुझे कभी भी यह नहीं लगता कि मैं ही ठीक राह पर हूं।'

चूंकि अनेकान्तवाद से परस्पर-विरोधी बातों के बीच सामंजस्य आता है तथा विरोधियों के प्रति भी आदर की वृद्धि होती है, इसलिए गांधीजी को यह वाद अत्यन्त प्रिय था। उन्होंने लिखा है, "मेरा अनुभव है कि अपनी दृष्टि से मैं सदा सत्य ही होता हूं, किन्तु मेरे ईमानदार आलोचक तब भी मुझ में गलती देखते है। पहले मैं अपने को सही और उन्हें अज्ञानी मान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लेता था। किन्तु अब मैं मानता हूं कि अपनी-अपनी जगह हम दोनों ठीक है। कई अंधों ने हाथी को अलग-अलग टटोल कर उसका जो वर्णन किया था, वह दृष्टांत अनेकांतवाद का सबसे अच्छा उदाहरण है। इसी सिद्धांत ने मुझे यह बतलाया कि मुसलमान की जांच मुस्लिम दृष्टिकोण से तथा ईसाई की ईसाई दृष्टिकोण से की जानी चाहिए। पहले मैं मानता था कि मेरे विरोधी अज्ञान में हैं, आज मैं विरोधियों को प्यार करता हूं, क्योंकि अब मैं अपने को विरोधियों की दृष्टि से देख सकता हूं। मेरा अनेकान्तवाद, सत्य और अहिंसा, इन युगल सिद्धान्तों का ही परिणाम है।" सह-अस्तित्व, सह-जीवन और पंचशील इन सबका आधार अनेकान्तवाद ही हो सकता है।

सब देवन को गाओ

—तुकड़ोजी महाराज

गाओ भाई, सब देवन को, सन्तन को गाओ।
तन-मन से ध्यान लगाओ॥

सभी धर्म और सभी पंथ ये मानव-सुख को बनाये।
समय-समय पर रूप बदलकर, अपना फर्ज सुनाये॥
कोई कहत है पीर-पैगम्बर, कोई राम के नामा।
ईशु खिस्तको कोई भजत है, कोई रटे दिल श्यामा॥
अलख निरंजन निर्गुण प्रभु की शक्ति सबमें समायी।
चाहे उसको ब्रह्म पुकारो या अल्ला कहो भाई॥
जगत्-पिता की यह रचना है, सबमें न्यारी न्यारी।
जिसका जो कोई धर्म-कर्म है, हो उसको वहि तारी॥
हम सब एक, अनेक हुए हैं जग-सौंदर्य बनाने।
'तुकड़्यादास' कहे यह निज-धन गुरु का प्यारा जाने॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक महत्वपूर्ण विचार चर्चा

भगवान महावीर का समन्वयमूलक का

आगामी सन् १९७४ नवम्बर १३ से भगवान् महावीर का २५वां शताब्दी समारोह मनाया जाना है। जैन समाज में तथा राष्ट्रीय स्तर पर इसके अनुरूप वातावरण बन रहा है। चारों जैन परम्पराओं के आचार्यों, मुनियों एवं श्रावक प्रतिनिधियों की एक दिशा बनी है। सबमें कन्धे से कन्धा मिला कर कार्य करने की कठिवद्धता आ रही है। साहचर्य का एक सर्वमान्य धरातल कुछ बनाया गया है और कुछ बनाया जा रहा है।

राष्ट्रीय समिति

भारत सरकार ने भी उक्त समारोह को राष्ट्रीय स्तर से मनाने का निश्चय कर लिया है। प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की अध्यक्षता में एवं राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि की संरक्षकता में एक राष्ट्रीय समिति का निर्माण हो चुका है। चारों जैन परम्पराओं के वरिष्ठ प्रतिनिधि तथा साहित्यिक व शैक्षणिक क्षेत्र के कतिपय शीर्षस्थ विद्वान् उस समिति में सदस्य मनोनीत किए गए हैं।

उस राष्ट्रीय समिति की एक उल्लेखनीय बात यह है कि परामर्श व मार्ग-दर्शन की दृष्टि से चार महान् आचार्यों एवं चार विश्रुत मुनियों को उसमें विशिष्ट अतिथि मनोनीति किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२५ वां शताब्दी समारोह 'संयुक्त जैन संसद' आविर्भावक बनें !

● मुनि श्री नगराज डी० लिट्०

[मुनिश्री नगराज जी ने समन्वय की दिशा में एक ठोस चिन्तन समग्र जैन समाज के समक्ष प्रस्तुत निबन्ध में विचारार्थ प्रस्तुत किया है। स्थायी संगठन और समन्वय के लिए मुनि श्री का यह चिन्तन प्रेरक एवं विचारोत्तेजक है, आशा है जैन समाज इस पर गौर करेगा।

—सम्पादक]

अकारादि क्रम से उन आचार्यों के नाम हैं :—

आचार्य श्री आनन्दऋषि जी
आचार्य श्री तुलसी जी
आचार्य श्री धर्मसागर जी
आचार्य श्री समुद्रविजय जी

अकारादिक्रम से चार मुनियों के नाम हैं :—

मुनिश्री महेन्द्रकुमार जी 'प्रथम'
मुनिश्री यशोविजय जी
मुनिश्री विद्यानन्द जी
मुनिश्री सुशीलकुमार जी

चारों जैन परम्पराओं के आचार्य, मुनि और श्रावक-श्राविकाएँ भगवान् महावीर का यह २५वां शताव्दी समारोह सौहार्द और सामंजस्य से मना सकें, तो सचमुच ही यह ढाई हजार वर्षों की अपूर्व और अद्वितीय घटना होगी। इससे प्रमाणित हो जाएगा कि जैन शासन में विघटन व पृथकता का युग समाप्त हो गया है तथा एकता और साहचर्य का अध्याय शुरू हो गया है और वह उसके उज्ज्वल भविष्य का सूचक है।

संयुक्त जैन संसद्

आने वाले इस अपूर्व अवसर पर क्रियान्वित करने के लिए अनेक महत्वपूर्ण योजनाएँ सोची गई व सोची जा रही हैं; उसी सन्दर्भ में एक 'संयुक्त जैन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संसद' योजना यहां प्रस्तुत की जा रही है। आशा है, विचारक, विद्वान् व समाज के कर्ताधर्ता लोग इस ओर मननशील व प्रयत्नशील होंगे।

भगवान् महावीर का सिद्धान्त था— विश्व में कोई भी दो पदार्थ, दो व्यक्ति व दो समुदाय एकान्तिक रूप से भिन्न नहीं होते। उनकी भिन्नता में भी कोई आधारभूत अभिन्नता अवश्य रहती है। इसी सनातन सत्य का एक प्रयोगात्मक रूप अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर संयुक्त राष्ट्र-संघ के रूप में आया। हिरोसिमा और नागासाकी पर अणुवम फूटने के साथ-साथ द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हुआ। तृतीय विश्वयुद्ध की प्रलयंकारी विभीपिकाओं को सोचते हुए विश्व के समस्त राष्ट्रों ने मिलकर संयुक्त राष्ट्र-संघ की स्थापना की। अन्त-राष्ट्रीय क्षेत्र में यह एक महत्त्वपूर्ण अवसर था, जब पूंजीवादी और साम्य-वादी जैसी विरोधी विचारधाराओं के राष्ट्रों ने भी एक साथ बैठने का तथा विश्व-साहचर्य के विकास का एक समान धरातल चुना। संयुक्त राष्ट्र-संघ की गतिविधियां आज सुविदित हैं। आरम्भ से अब तक वह प्रयत्नशील रहा ही है कि किन्हीं दो राष्ट्रों के वीच युद्ध न भड़के और भड़क जाने वाला युद्ध भी तृतीय विश्वयुद्ध का रूप न ले। वह अपने प्रयोजन में बहुत कुछ सफल भी रहा है। क्यूबा टापू, स्वेज नहर आदि के प्रश्नों पर अनेक बार तृतीय विश्व-युद्ध व अणुयुद्ध की परिस्थितियां बनी, पर संयुक्त राष्ट्र-संघ के प्रयत्न उन्हें टालने में किसी सीमा तक कारगर हुए। उसके कार्य की दूसरी दिशा उसका 'यूनेस्को' विभाग है, जिसके अन्तर्गत विश्व के शैक्षणिक सामाजिक व सांस्कृतिक विकास की दिशा में सभी राष्ट्रों का संयुक्त उपक्रम चल रहा है। अस्तु, उग्र मतभेदों में भी क्रियात्मक साम्य का वह एक अनूठा संगठन है। उसकी प्रभावशीलता का अंकन तो इस बात से हो ही जाता है कि विश्व का प्रत्येक राष्ट्र उसका सदस्य बने रहने में ही गौरव मानता है।

इस प्रकार के समवायी संगठन की पहल तो जैन समाज से होनी चाहिए थी क्योंकि वे अनेकता में एकता बनाने वाली स्याद्वाद्व पद्धति के अनन्तर उपा-सक हैं। खैर, बीत गई वह बीत गई। भगवान् महावीर का २५वां शताब्दी-समारोह सामने है। चारों परम्पराओं के साहचर्य का वातावरण प्रगति पर है ही। इस अवसर पर 'संयुक्त जैन संसद' या 'संयुक्त जैन संगठन' जैसे किसी नाम से संयुक्त राष्ट्र-संघ के विधि-विधान पर ही किसी एक संगठन की स्थापना भारत की राजधानी दिल्ली में हो जाए, तो वह इस २५वें शताब्दी-समारोह की स्थायी और ऐतिहासिक उपलब्धि होगी। उस संयुक्त जैन संसद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बुद्ध पूर्णिमा के दिन वैशाखी पर विशाल मेला भरता है, जिसमें हर जाति व धर्म के लोग एकत्रित होते हैं। आश्चर्यकारी बात तो यह है कि हर धर्म के लोग विभिन्न धर्मों के कुण्डों में स्नान करते हैं तथा उसकी परिक्रमा लेते हैं। इन कुण्डों का पानी, गंगाजल के समान पवित्र माना जाता है। किसी यति की स्मृति में बने एक मंदिर के अहाते में एक विलक्षण कुण्ड है। सूर्य के उदय के साथ ही कुण्ड में पानी आना शुरू होता है, ज्यों ज्यों सूर्य ऊपर उठता है, त्यों त्यों कुण्ड में पानी भी भरता जाता है और ज्यों ज्यों सूर्य ढलता जाता है, पानी का स्तर भी घटता जाता है। सूर्यास्त के बाद कुण्ड बिल्कुल सूख जाता है। एक अन्य कुण्ड बारहों मास सूखा रहता है, पर बुद्ध पूर्णिमा के दिन उसमें पानी अवश्य आ जाता है। वैशाखी के पार्श्व में ब्रह्मसर स्थान पर जैनधर्म के कई मंदिर हैं। यहां, कहते हैं, ब्रह्मा ने यज्ञ किया था।

वैशाखी के एक ही स्थान पर कई धर्मों के पवित्र स्मारक होने से दावे के साथ कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र में धर्म समन्वय के लिए सफल रचनात्मक कार्य किये गये हैं, जिनकी मिशाल अन्यत्र सुलभ नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजस्थान के पश्चिमी भूभाग में विभिन्न धर्मों के मध्य समन्वयता की आदर्श परम्पराएँ निरन्तर अक्षुण्ण रही हैं। दुख की बात है कि वे परम्पराएँ आज की संकीर्ण एवं स्वार्थगत विचार-धाराओं के कारण धूमिल होती जा रही हैं। आवश्यकता इस बात की है कि धर्म समन्वयता की बातें नहीं की जायें तथा जिस प्रकार सदियों पहले इसके लिए ठोस रचनात्मक कार्य किये जाते रहे हैं, वैसी ही कार्यवाहियां की जायें। ऐसा होने पर ही धर्म समन्वय की बात जोर पकड़ सकेगी।

(— खादी ग्रामोद्योग प्रचार विभाग
कुर्लारोड विलेपारले, बम्बई)

धर्म की मर्यादा का पार नहीं। उसे सब तरह से किसी ने नहीं जाना। सब जितना जानते हैं, उतना पालन करते रहें, तो धर्म की गाड़ी आगे चलती रहेगी।

—महात्मा गाँधी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लघु कथा

शैतान और उसके चेले

● डा. इन्द्रचंद्र शास्त्री एम. ए., पी.-एच. डी.

शैतान के तीन चेले थे—राग, द्वेष और अहंकार। एक दिन वह उनके साथ कहीं जा रहा था। आगे राग था, उसके पीछे द्वेष और उसके पीछे अहंकार। सबके पीछे शैतान स्वयं। कुछ दूर चलने पर राग को कोई चमकती हुई वस्तु दिखाई दी। वह दौड़कर उसके पास गया और उठाकर जेब में रख लिया। द्वेष यह सब देख रहा था। वह भागा हुआ आया और राग से पूछने लगा—"तुमने जेब में क्या रखा है ?"

"यह धर्म है" राग ने उत्तर दिया।

द्वेष यह बात सुनकर आग-बबूला हो गया। अपने गुरु शैतान के पास जाकर बोला—"यह कितनी बुरी बात है ! हम लोग इतने दिनों से धर्म का नाश करने की कोशिश कर रहे हैं और इसने उसे जेब में रख लिया। दुश्मन को बचाने की कोशिश कर रहा है।"

"तुम नहीं समझते", शैतान ने उत्तर दिया। "इसने बड़ी अक्ल से काम लिया है। हमने धर्म को कुचलने की कोशिश की, किन्तु उसकी ताकत बढ़ती चली गई। अब वह जेब में आ गया तो किसी को रोशनी नहीं दे सकेगा। हम लोग जब उस पर हमला करते थे तो उसके बहुत से साथी तैयार हो जाते थे। अब वे लोग राग को धर्म का मित्र मानने लगेंगे और उसकी रक्षा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को धर्म की रक्षा समझेंगे। फलस्वरूप नाम धर्म का होगा और काम हमारा।"

द्वेष कुछ देर सोचकर बोला, "मुझे भी एक तरकीब याद आ गई। अब मैं धर्म पर सीधा हमला नहीं करूंगा। इसके स्थान पर उन लोगों को आपस में लड़ाऊँगा जो धर्मात्मा होने का दावा करते हैं। साधारण वर्ग उनकी बातों में आकर परस्पर निन्दा, आक्षेप-प्रत्याक्षेप एवं आक्रमण में लग जायेगा। तलवारें चलेंगी। खून बहेगा। किन्तु इन सब बातों को धर्म-प्रचार समझा जायेगा और मेरा काम अनायास ही होने लगेगा।"

तीसरा चेला अहंकार यह सब सुनता रहा। अन्त में उसने भी खुश होकर कहा—"मेरा काम बन गया। अब तक धर्म, लोगों को विनय एवं नम्रता का पाठ सिखा रहा था और मुझे चुप हो जाना पड़ता था, किन्तु अब उसका रंग बदल जायेगा। कुछ लोग विशेष प्रकार के कपड़े पहन लेंगे और अपने को दूसरों से ऊँचा मानने लगेंगे। भक्त वर्ग उनके गीत गायेगा और वे मेरे नशे में डूबे रहेंगे। इतना ही नहीं जब दो परम्पराओं के अनुयायी आमने सामने आयेंगे तो उन पर भी मेरा नशा चढ़ जायेगा। प्रत्येक दल अपने को ऊँचा समझेगा और दूसरे को नीचा। अपने गुणगान करेगा और दूसरे की निन्दा। इस प्रकार मैं सब पर छा जाऊँगा।"

शैतान ने अपने तीनों चेलों को शाबास दी और मुस्कुराते हुए कहा—"अब हमारी विजय निश्चित है। हम अपना काम धर्म के नाम से करेंगे। काम, क्रोध लोभ आदि सैनिक उसी प्रकार काम करते रहेंगे, किन्तु उनकी वेश भूषा सन्त की होगी। रागगुरुभक्ति के रूप में सामने आयेगा, द्वेष विधर्मी की निन्दा के रूप में, अहंकार तथा कथित त्यागी वर्ग की अस्मिता के रूप में, मिथ्या आडम्बर प्रचार के रूप में और मनोविकार भक्ति के रूप में।"

मनुष्य तकिये की खोली के समान है। किसी खोली का रंग लाल, किसी का नीला और किसी का काला होता है, पर रुई सबमें है। यही हाल मनुष्यों का भी है।

—श्री रामकृष्ण परमहंस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आग्रह दुराग्रह को पैदा करता है,
दुराग्रह से विग्रह का जन्म होता है !

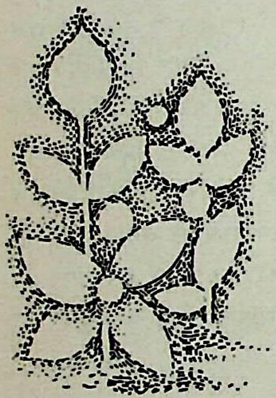

समन्वय

सार्वकालिक सत्य की तलाश

○ चम्पालाल एम० कोठारी

विज्ञान ने विश्व को बहुत ही छोटा बना दिया है। आदमी के लिए पृथ्वी की कोई मर्यादा नहीं रही है। अब वह आकाश की सीमाओं को खोजने निकला है। आदमी ने जब से विज्ञान के साथ गठबन्धन कर लिया है, उसको भी उसके साथ, भले ही अनिच्छा से क्यों न हो, भागना पड़ रहा है। मानों अब वह इस होड़ में पीछे रहना नहीं चाहता। विज्ञान के लिए न कोई जाति है न कोई धर्म, न कोई पंथ और न कोई देश। इन सभी भेदों से परे विज्ञान है। अगर ऐसे विज्ञान का साथ आदमी ने किया है तो उसे भी संकुचितता के सारे वन्धनों से मुक्त होना होगा।

संकुचित राष्ट्रवाद, धर्म पर आधारित राष्ट्रवाद और समतोल सत्तावाद (Balance of Power Theory) काल के प्रवाह में डूबते हुए हम देख रहे हैं। बंगलादेश का उदय, प्रेसीडेण्ड निक्सन की चीन यात्रा इस बात के सबूत हैं। वास्तविकता को कोई नहीं बदल सकता। हठवादियों की आंखें जल्दी ही खुलेंगी और शांतिपूर्ण सहजीवन के युग के तकाजे के आगे उन्हें झुकना पड़ेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साम्प्रदायिक झगड़ों की उत्पत्ति भी हठवादिता का ही परिणाम है। साम्प्रदायिक झगड़ों में जैनधर्म का स्थान सभी धर्मों में शायद पहला होगा।

यही वह धर्म है जिसने विश्वशांति के लिए "अनेकान्तवाद" का महान मंत्र हजारों वर्ष पूर्व दुनियां को प्रदान किया था। यही वह धर्म है जो सिद्धान्तों की गहराई के साथ वैचारिक स्वातंत्र्य की विशेषता रखता है। दूसरों के सत्य को भी समझने की कोशिश करो, तभी सत्य का पूर्ण दर्शन होगा—सत्य पथ दर्शन का कितना महान तत्व जैन धर्म में है। काश, इन समस्त आशयों को जैनी समझते तो इन सिद्धान्तों को दुनियां भर में फैलाने एवं मनुष्यों को ये बातें समझाने के सच्चे अधिकारी होते।

जैन धर्म ने जैन धर्म के मूल तत्त्व के आधार पर हर व्यक्ति को व्यक्तिगत साधना करने की स्वतंत्रता दी है। जब हर आदमी को अपना साधना मार्ग निश्चित करने की स्वतंत्रता प्राप्त है तो यह जरूरी नहीं कि वह किसी दूसरे के बताये मार्ग से चले। हां, यह जरूर है कि हर व्यक्ति में अपना स्वतंत्र मार्ग निश्चित करने की क्षमता नहीं होती। ऐसे महापुरुष तो विरले ही होते हैं। इसीलिए सामान्य व्यक्ति किसी न किसी मार्ग को स्वीकार कर उसी मार्ग से चलने लगता है। जहां तक मार्ग का केवल अनुकरण है, ठीक है, किन्तु अनुकरण अंधानुकरण में रूपान्तर होता है तो मार्ग में निहित महान् विचार लुप्त हो जाता है और रह जाता है। क्रियाकाण्डों से भरा हुआ सम्प्रदाय। ध्येय की भ्रांति होती है और राही भटक जाता है। सम्प्रदायों के पथ-प्रदर्शक ही रोड़े बनकर उसे मंजिल तक नहीं पहुंचने देते। जहां विचार और आचार में कोई मेल नहीं है उस मार्ग की शुचि-भूतता संशयातीत नहीं रहती। मनुष्य की यह भेड़ियाधसान प्रवृत्ति ही उसे विचार करने से रोकती है और आग्रह दुराग्रह में बदलता है। वही हमें आपस में लड़ाता है।

साम्प्रदायिकता ही हमारे जीवन और धर्म में एक दीवार सी खड़ी है। धर्म समझकर बाह्याडम्बरों के पीछे ही हम निरन्तर भागे जा रहे हैं।

आज की युवा-पीढ़ी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से शिक्षित हुई। मन की विपक्षता से (Unprejudiced View) युवक हर एक बात की ओर देखता है। जब उसे धार्मिकता के नाम पर दाभिकता के दर्शन होते हैं तो वह उसे सह नहीं पाता। यही कारण है कि जैन युवक धर्म से दूर भाग रहा है। दुःख की बात तो यह है कि,वह नहीं समझ पाता है कि जीवन-मूल्यों के बिना विज्ञान लंगड़ा है। उसे धर्म के मूल तत्त्वों की अपने जीवन में पुनश्च प्रतिष्ठापित करने की प्रेरणा देने की शक्ति आज की जीवन-पद्धति में नहीं है। उसका मन उसे इससे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुधार करने की, नई दृष्टि प्रदान करने की और परिवर्तन करने की आर जरा भी उद्धत नहीं करता है। उसे उस पीढ़ी ने पाला है जो तथाकथित धार्मिक है। इसी पीढ़ी के संस्कारों का परिणाम उसका मन उसे क्रान्ति के, नव-निर्माण के विचारों के पीछे खींच लेता है। यही उसके धर्म के प्रति उदासीन रहने का कारण।

आज तक सम्प्रदाय के नेताओं को सम्प्रदाय चलाने के लिए शिष्यों की कमी नहीं पड़ी होगी किन्तु अब वह समय दूर नहीं है जबकि गद्दी चलाने वालों को, उन्हें ढूँढ़ना होगा। अगर इसी पद्धति से, इन्हीं विचारो से सम्प्रदाय तो समाप्त होंगे ही किन्तु सबसे बड़ा धोखा यह है कि संस्कृति का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायगा।

जैनधर्म के ठेकेदारों को भी दृष्टा बनकर भविष्य की ओर देखने का समय आ गया है। जैन धर्म और संस्कृति के अस्तित्व के महान प्रश्न को (Common Cause) मानकर इस प्रश्न को सुलझाना अत्यावश्यक है। इसलिए सभी जैनियों को एक होना, एक मंच पर आना होगा और सर्वस्पर्शी एक कार्यक्रम तैयार करना होगा। हमारे धर्म के महान मूल्यों से कोई समझौता करने की आवश्यकता नहीं। वे शाश्वत है, सत्य है और सर्वकाल में चिरायु हैं। सर्वप्रथम आवश्यकता है धर्म को जीवनानुगामी और विकासशील बनाने का। जब तक धर्म में नित्य विकास की गुंजाइश नहीं, वह जीवनदायी नहीं बनेगा। हमें अपने धर्म का ऐसा रूप पेश करना होगा जिसमें वर्तमान समस्याओं का समाधान मिले।

न्यू युनिवर्सिटी हास्टल, बी रोड़

चर्चगेट, बम्बई–२०

त्सुकुंग पूछता है :—एक शब्द में बताइये, मनुष्य का कर्तव्य क्या है ?
कांगफ्यूत्सी कहता है :—भाई चारा, प्रेम !

तुम दूसरों के साथ वैसा व्यवहार मत करो, जैसा कि तुम अपने साथ नहीं चाहते हो।

—कनफ्यूश धर्म

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्तमान स्थितियों के संदर्भ में :—

समन्वयवादी दृष्टिकोण की ग्राह्यता

● डा० दरबारीलाल कोठिया
रीडर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

यों तो किसी भी युग और किसी भी काल में संगठन एवं ऐक्य की महत्ता और आवश्यकता है। किन्तु वर्तमान युग में उसकी नितांत अपेक्षा है। राष्ट्रों, समाजों, जातियों और धर्मों सभी को एक सूत्र में बंधकर रहने की जरूरत है। यदि राष्ट्र, समाज, जातियां और धर्म सह-अस्तित्व के व्यापक और उदार सिद्धांत को स्वीकार कर उस पर आचरण करें तो न राष्ट्रों में, न समाजों में, न जातियों में और न धर्मों में परस्पर संघर्ष की नौबत आ सकती है। विश्व के मानव यह सोच लें कि मानवता के नाते हमें जैसे रहने और जीने का अधिकार है उसी तरह दूसरे मनुष्यों को भी, चाहे विश्व के किसी कोने के, समाज के, किसी जाति के, किसी धर्म के या किसी वर्ग के हों। आखिरी मनुष्य सब हैं, और पैदा हुए हैं तो उन्हें अपने ढंग से रहने तथा जीने का भी हक प्राप्त है। यदि हम उनके इस हक को छीनते हैं तो यह न्याय नहीं कहलायेगा—अन्याय होगा और अन्याय करना मनुष्य के लिए न उचित है और न शांतिदाता एवं प्रेम प्रदर्शक है। यदि मनुष्य के सामने इतना विचार रहता है तो उनमें कभी संघर्ष नहीं हो सकता। संघर्ष होता है स्वार्थ और आत्माग्रह से—अपने ही अस्तित्व को स्वीकार कर इतर का विरोध करने से। विश्व में जब-जब युद्ध हुए या होते हैं तब तब मनुष्य जाति के एक वर्ग ने दूसरे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्ग का विरोध किया, उस पर हमला किया और उसे ध्वस्त करने का प्रयास किया है। आज भी विश्व दो गुटों में बँटा हुआ है और ये दोनों गुट एक-दूसरे के विरुद्ध मोर्चा बन्दी किए हुए हैं। अपनी शक्ति को विरोधी के ध्वंस में प्रयुक्त कर रहे हैं। फलतः युद्ध की, या युद्धों की आशंका निरन्तर रहती है। यदि विरोधी गुट विरोध में नहीं, निर्माण में अपनी सम्मिलित शक्ति का उपयोग करें तो सारा विश्व सदा निर्भय, शान्त, सुखी और समृद्ध हो सकता है।

यद्यपि एक रुचि के, एक विचार के और एक आचार के सब नहीं हो सकते सबकी रुचियां, सबके विचार और सबके आचार भिन्न-भिन्न ही होते हैं। किन्तु रुचि भिन्नता विचार-भिन्नता, और आचार-भिन्नता के होते हुए भी उनमें समन्वय की सम्भावना निश्चय ही विद्यमान रहती है। एक परिवार में दस सदस्य हैं और सबकी रुचि, विचार और आचार अलग अलग होते हैं। एक सदस्य को उड़द की दाल अच्छी लगती है, दूसरे को अरहर की दाल प्रिय लगती है, तीसरे को आलू की शाक स्वादिष्ट लगती है। इसी तरह अन्य सदस्यों की भी रुचि अलग होती है। विचार भी सबके एक से नहीं होते। एक राष्ट्र की सेवा का विचार रखता है, दूसरा समाज सेवा को अपना कर्त्तव्य समझता है, तीसरा धर्म में संलग्न रहता है। दूसरे सदस्यों के भी विचार अलग-अलग होते हैं। आचार भी सबका एक सा नहीं होता। एक कुर्ता, धोती और टोपी लगाता है, दूसरा कोट, पतलून और नेक्टाई को पसन्द करता है, तीसरा पेटीकोट, साड़ी और जम्फर को अपनी पोशाक समझता है। यह तीसरा स्त्री- सदस्य है जो इस दस संख्यक परिवार की ही सदस्या है। इसी प्रकार बच्चे आदि अपना पहिनाव अलग रखते हैं। इस तरह उस परिवार में रुचि-भेद, विचार-भेद और आचार-भेद होने पर भी, उसके सदस्यों में कभी संघर्ष नहीं होता। सब की रुचियों, सबके विचारों और सब के आचारों का ध्यान रखा जाता है और इस तरह उनमें सदा समन्वय के दृष्टिकोण से सुख और शांति विद्यमान रहते हैं। कदाचित् छोटा-मोटा मतभेद होने पर आपसी समझौते या प्रमुख की हितावह सलाह से वह मतभेद दूर हो जाता है और पूरा परिवार सुख-शान्ति से रहता है। विश्व भी एक परिवार है और राष्ट्र उसके सदस्य हैं। उनमें रुचि भेद, विचार-भेद और आचार-भेद होना स्वाभाविक है। पर परिवार के सदस्यों की तरह उनमें ताल-मेल बैठाना या समझदार राष्ट्रों को बीच में पड़कर निष्पक्ष ढंग से उनका समझौता करा देना आवश्यक है। इससे विश्व के छोटे बड़े किसी भी राष्ट्र का अन्य राष्ट्र के साथ संघर्ष नहीं हो सकता। 'रहो और रहने दो,' 'जिओ और जीने दो',

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का सिद्धांत ही सह-अस्तित्व का सिद्धांत है और यह सिद्धांत ही मनुष्य जाति की रक्षा, समृद्धि और हित कर सकता है। यह सिद्धांत न्याय और सत्य का पोषक एवं समर्थक है। इस सिद्धांत को ध्यान में रखने पर कभी न्याय या सत्य की हत्या नहीं हो सकती और सारे विश्व में निर्भयता एवं शांति बनी रह सकती है।

हमारे देश में, जिसमें भगवान् महावीर, गौतम बुद्ध, महर्षि जैमिनि, कणाद, अक्षपाद, कपिल आदि धर्मोपदेशकों ने जन्म लिया और अपने विचारों द्वारा जन कल्याण किया है, अनेक जातियां और अनेक धर्म हैं। सबका अपना-अपना स्थान है और सबको पनपने-बढ़ने का स्वातन्त्र्य है। एक जाति दूसरी जाति को एक धर्म दूसरे वर्ग को गिराकर बढ़ नहीं सकता। उसकी उन्नति या वृद्धि तभी सम्भव है जब वह दूसरे के भी अस्तित्व का विरोध नहीं करता, अपनी कुण्ठा, बुराइयों और कारणवश आ घुसी कमजोरियों को ही हटाने का प्रयास करता है। सच तो यह है कि दूसरी जाति, दूसरा धर्म या दूसरा वर्ग अपनी जाति, अपने धर्म और अपने वर्ग का बाधक नहीं होता। बाधक वे दोष होते हैं जो हम पर हावी होकर हमसे अनौचित्य कराने में सफल हो जाते हैं। ऐसे दोष हैं संकीर्णता, असहिष्णुता, मूढ़ता, कदाग्रह, ईर्ष्या, अहंकार और अनुदारता। यदि सतर्कता विवेक, सहिष्णुता, सत्याग्रह, अमात्सर्य निरहंकार और उदारता से काम लिया जाय तो जातियों, धर्मों और वर्गों में कभी भी संघर्ष की सम्भावना नहीं की जा सकती है। जो हमारा है, वह सत्य है और जो परका वह असत्य है, यही दृष्टिकोण संघर्ष को जन्म देता है इस संघर्ष को बचाने के लिए अनेकान्तवादी दृष्टिकोण होना चाहिए। उस दृष्टिकोण से ही परस्पर में सौहार्द सम्भव है। यदि कोई गलत मार्ग पर है तो सही मार्ग उसके सामने रख दीजिए और उनमें से एक मार्ग चुनने की छूट उसे दे दीजिए, आप उसके लिए अपना आग्रह न करें। निश्चय ही वह अपने विवेक से काम लेगा और सत्य का अनुसरण करेगा।

आज विज्ञान का युग है। समझदार लोग विज्ञान के आधार पर सोचना, कहना और करना चाहते हैं। यह दृष्टिकोण सम्यक् आग्रह का दृष्टिकोण है। लेकिन कभी कभी आग्रही उसके माध्यम से असत्य का भी समर्थन करने लगता है। अतः पूर्वाग्रह से मुक्त होने पर ही सत्य को कहा और पकड़ा जा सकता है। समाज के दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों वर्ग भगवान महावीर के शासन के अनुयायी हैं। छोटे-मोटे उनमें अनेक मतभेद हैं और उनके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गृहस्थों तथा साधुओं में आचार-भेद भी है। किन्तु सब को बांधने वाला और एक क्षेत्र में रखने वाला भगवान महावीर का शासन है। जो मत भेद और आचार-भेद हो चुके हैं वे यदि कम हो सकें तो अच्छा है और यदि कम न भी हों तब भी वे एक सूत्र में बंधे रह सकते हैं। पिछली शताब्दियों में दोनों परम्पराओं में जो फासला ही हुआ है उन्हें समेटने का दूरदर्शी सफल प्रयास हुआ हो,यह ज्ञात नहीं। फलतः दोनों का साहित्य, दोनों के आचार्य और दोनों के तीर्थ उत्तरोत्तर बढ़ते गए हैं। इतना ही होता तो कोई हानि नहीं थी। किन्तु आज अपने साहित्य, अपने आचार्य और अपने तीर्थ का आग्रह रखकर भी दूसरी परम्परा के साहित्य, आचार्य और तीर्थों के विषय में स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं है। एक साहित्य के महारथी अपने साहित्य की अनुशंसा करते समय दूसरे के साहित्य को उसकी छाया या अनुसरण सिद्ध करने में जब अपनी शक्ति लगाते हैं तो दूसरा उसका विरोध करने के लिए तैयार रहता है। एक आचार्य अपनी श्रेष्ठता बतला कर दूसरे आचार्य की समालोचना के लिए उद्यत रहता है तो समालोच्य आचार्य भी पीछे क्यों रहेगा। समाज के तीर्थों का प्रश्न भी ऐसा ही है। अपना प्रभुत्व और हक रहे, दूसरे का वहाँ प्रवेश न हो, यह दृष्टिकोण समाज के दोनों वर्गों को परेशान किए हुए है। फलतः संघर्ष भी होते हैं और उनमें विपुल धनराशि भी व्यय होती है, यदि दोनों वर्ग भगवान महावीर के शासन में आस्था रखते हुए समन्वयवादी दृष्टिकोण अपना लें तो दोनों की सम्मिलित शक्ति, दोनों का सम्मिलित साहित्य और दोनों के सम्मिलित तीर्थ समाज के अपार वैभव के सूचक तो होंगे ही, दोनों अपने विचार और आचार के अनुसार अपनी आस्था भी बनाए रखेंगे तथा संख्या की दृष्टि से वे दुगुने कहे जावेंगे। जब तक वे अलग अलग दो भागों या तीन भागों में बँटे रहेंगे। तब तक अन्य लोगों को लाभ नहीं पहुंचा सकते हैं और न अहिंसा, स्याद्वाद, अनेकान्त एवं अपरिग्रह जैसे सिद्धान्तों का विश्व को दर्शन कर सकते हैं। अतः आवश्यक है कि जैन दर्शन के अनेकान्तवादी या समन्वयवादी दृष्टिकोण पर पुनः गम्भीरता से विचार करें और उसका आचरण कर ऐक्य एवं संगठन का उच्च आदर्श प्रस्तुत करें।

सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न होने पर भी, धर्म सर्वत्र प्रकाश की तरह एक ही है।

—**विवेकानन्द**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक सवाल : एक जवाब :

हम विश्वमान्य समन्वय के घटक बनें !

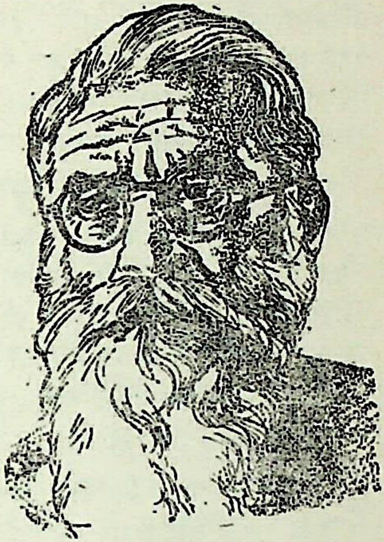

काका कालेलकर

[सुप्रसिद्ध चिन्तक एवं गाँधीवादी विचारक श्री काका कालेलकर के गहन चिंतन से परिपूर्ण यह लेख समन्वय विशेषांक के लिए विशेष रूप से उनसे प्राप्त किया गया है। आग्रह रहित उन्मुक्त भाव से अनुभव पर आधारित अपने चिन्तन को सहजता, स्पष्टता एवं निर्भयता से व्यक्त करना काका साहब का स्वभाव है। प्रस्तुत निबंध में भी उसी स्वभावानुसार आपने उन्मुक्त विचार व्यक्त किये हैं जो पाठकों के चिन्तन को प्रेरणा देने में समर्थ हैं—सम्पादक]

मैं अपने को जैन मानता, हूं और सच्चा जैन बनने का मेरा अखण्ड प्रयत्न है, लेकिन साम्प्रदायिक अर्थ में मैं जैन नहीं गिना जा सकता। तो भी "जैनगत" के एक प्रश्न को जो जैनियों के लिए ही पूछा गया है लेकर मैं अपने लेख का प्रारम्भ करूंगा। सवाल है : क्या जैन एक नहीं हो सकते ? मेरा जवाब जरा विचित्र है : 'अगर जैन केवल जैनी को ही एक करने की कोशिश करेंगे तो वह नहीं हो सकेगा। जब सर्व जैन सद्व्यक्ति जैन सम्प्रदाय के बाहर जाकर दुनियां के सब धर्मों को समन्वय द्वारा एक करने की कोशिश करेंगे तब जैनियों के अंदर के छोटे-बड़े सब मतभेद आप-ही-आप गौण बनेंगे और व्यापक एकता के अन्दर जैन एकता आप ही आप सिद्ध हो जाएगी।'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपने को 'सनातन धर्मी' कहने वाले हिन्दुओं में शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणापत्थ आदि पंथ असंख्य हैं। इनमें वैदिक परम्परा के कारण एक तरह की समन्वयवादी एकता शुरू से थी लेकिन वह एकता गौण हो गई, भेद बढ़ गए और सनातन धर्म जो विश्वव्यापी बनने के लायक था, भारत-व्यापी अथवा हिन्दूव्यापी भी नहीं रहा।

ऐसे सनातनियों को मैं कहता हूं कि आप लोगों ने 'वैदिक-प्रामाण्य' का आग्रह नाहक रखा है। इसलिए बौद्धों को और जैनों को आप खो बैठे हैं। अगर 'वैदिक-प्रामाण्य' को छोड़ कर 'वैदिक-परम्परा' की बात आप लेते तो किसी को भी खोते नहीं, सब को साथ लेकर और सब की सेवा से लाभ उठाकर आप समर्थ बनते। जैनियों की और बौद्धों की सेवा के द्वारा ही आपका सनातन धर्म विशुद्ध और समर्थ बना, लेकिन उसका लाभ आप ले न सके इस वास्ते क्षीण हो गए।

मैं स्वयं मानता हूं कि बौद्ध परम्परा और जैन परम्परा दोनों अनादि काल से चलती आई स्वतंत्र परम्परा है। लेकिन इन सब में एक तरह की, सांस्कृतिक वायुमण्डल की एकता भी है। समन्वय के द्वारा इस एकता को लेकर आगे बढ़ते, तो सबका कल्याण ही होता।

आज का प्रश्न इससे भी व्यापक है। जिन लोगों ने समन्वय का विचार छोड़ा, और अपने-अपने सम्प्रदाय का महत्व बढ़ाया, उनको इतिहास-विधाता ने एक नई शिक्षा दी, वे सब अपनी राजनैतिक एकता खो बैठे। और बाहर के लोगों ने आकर यहां अपना पैर जमाया। और नए-नए धर्म का वायुमण्डल भी खड़ा किया।

आर्यों ने अनार्यों की उपेक्षा की, उनको हीन माना। संस्कृत भाषा की श्रेष्ठता लोगों पर लादने की कोशिश की, फलतः वे हारे। जिन लोगों की हमने उपेक्षा की उन्होंने धर्मान्तिर किया और राज्यकर्ता के पक्ष में पहुंच गए।

अब हमें कहना अत्यन्त जरूरी है कि 'हमारे देश के लोगों ने जिन जिन धर्मों को स्वीकार किया वे सब स्वदेशी धर्म बन गए। इस देश से वे पराए धर्म नहीं रहे।' अब जब धर्मों में जो ईर्ष्या, असूया और संघर्ष चल रहा है, उसे दूर कर हमें समन्वय के द्वारा इन सबों में एक विशाल पारिवारिकता, कौटुम्बिक भाव को स्वीकार करना चाहिए।

जहां कौटुम्बिक भाव आ गया वहां उम्र के हिसाब से बड़े छोटे का भेद लोग लाते हैं। छोटे लोग बड़ों की कद्र करें, भक्ति करें यह तो स्वाभाविक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है ; लेकिन बड़े लोग अगर 'चरणस्पर्श' मांगे और अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने जाए, तो वह मिलने वाली नहीं, किन्तु पारिवारिक सम्बन्ध भी टूट जाएगा।

जहां एकता है, आत्मीयता है, वहां हम समानता की वातें करते ही नहीं; लेकिन हमने समानता का नाम न लिया इस वास्ते असमानता चालू करने का अगर कोई प्रयत्न करेगा तो वह अधार्मिक होगा, उसमें अन्याय तो होगा ही और उसके द्वारा 'मूलेकुठार' ही होगा।

मैं स्वयं अपने को ईश्वरनिष्ठ वेदान्ती सनातनी मानता हूं लेकिन जो लोग ईश्वर को नहीं मानते उनका भी पूरा आदर करता हूं। वे ईश्वर को नहीं मानते इस वास्ते उनको अपने परिवार से बाहर निकालने का पाप में नहीं करूंगा। आज कई ईश्वर-विरोधी सदाचारी लोग मेरे आदरणीय मित्र हैं।

दार्शनिक चर्चा जब हम करते हैं तब कहते हैं कि जैन लोग आत्मा को मानते हैं, ईश्वर को नहीं मानते। इस चर्चा में मुझे तनिक भी रस नहीं है। दार्शनिक चर्चा करता मैं जानता हूं कि बौद्ध न मानते हैं परमात्मा को, न मानते आत्मा को। मुझे सन्तोष है कि आत्मा की जगह वे 'संस्कार-समुच्चय' को मानते हैं। इतना मेरे लिए बस है।

मेरे पास जो 'समन्वय दृष्टि' है, यह मैं जैनियों के 'अनेकान्तवाद' से सीखा हूं। अनेकांतवाद ने मुझे बौद्धिक अहिंसा सिखाई, इसके लिए मैं जैन दर्शन का ऋणी हूं।

अब एक कदम आगे जाकर जो बात लिखना चाहता हूं उसे "जैनजगत" अपने समन्वय अंक में स्थान देगा या नहीं सो मैं नहीं जानता, तो भी मेरा समन्वयवाद ही मुझे यह लिखने को प्रवृत करता है।

मैं स्वयं पूर्ण रूप से निरामिषाहारी हूं। पशु-पक्षियों का मांस खाना मैं पाप समझता हूं। न मैंने कभी पशु-पक्षियों को मारा है, न उनका मांस खाया है। पानी में रहने वाले जीवों को भी मैंने कभी खाया नहीं। न कभी अण्डे खाए हैं। मांस खाना, मछलियां खाना अण्डे खाना, मैं स्वयं पाप समझता हूं और जब तक जिन्दा हूं ये चीजें कभी भी खाऊंगा नहीं।

तो भी मैं जानता हूं कि दुनियां की मनुष्य जाति में अधिकांश लोग मांस खाते हैं, मछलियां खाते हैं। अण्डे खानेवालों की संख्या और भी बढ़ी है। इन सबों को मैं पापी कैसे कह सकता हूं। रामकृष्ण परमहंस जैसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महापुरुष मांस खाते थे। ईसामसीह भी मांस खाते थे। अगर उनको पापी कहना मुनासिब है तो आम, अमरूद, सेब आदि फल और हर तरह का धान्य खानेवाले, मेरे जैसे लोग भी पापी हैं। क्योंकि फलों के अन्दर और धान्य के अन्दर जीव तो है ही। हम मांस नहीं खाते इसलिये अपने को अगर अहिंसावादी कहें तो असंख्य मांसाहारी लोग 'मनुष्य-मांस नहीं खाते' इस कारण उन्हें भी मैं अहिंसक ही कहूंगा। कहीं तो मर्यादा का स्वीकार हमने किया है, मेरे लिए इतनी बात बस है।

अब पश्चिम भारत में सारस्वत ब्राह्मणों को लीजिए, इनमें से बहुत से लोग पशु-पक्षी का मांस नहीं खाएंगे, लेकिन दिन-रात मछलियां खाएंगे। इन लोगों में चन्द लोग मेरे जितने ही निरामिषाहारी हैं। वे न पशु-पक्षी का मांस खाते हैं, न समुद्र सृष्टि के मछली आदि जीवों को खाते हैं, न अण्डे को खाते हैं। लेकिन उन्होंने आहार-भेद के कारण अपनी जाति की दो जातियां नहीं बनाई। शादियां करते समय इतना संभाल लेते हैं कि जिस लड़की को मछली आदि कुछ नहीं खाना है, उस पर खाने की जबर्दस्ती न हो। गरीब घर की लड़कियां अपने पति को और दूसरे रिश्तेदारों को मछलियां पका कर खिलाएगी, लेकिन स्वयं नहीं खाएगी। उन पर कभी भी जबर्दस्ती नहीं होती और उनका निरामिषाहार इतना मजबूत होता है कि घर के सब लोगों को मछलियां खाते देखकर भी वे स्वयं खाने को तैयार नहीं होती।

मैं इसे समन्वय का एक उत्तम उदाहरण मानता हूं।

अब हम भारतवासी अपने राष्ट्रीय जीवन को फिर से सोचें।

जिस देश में भगवान् महावीर ने जन्म लिया उस देश में इतिहास-विधाता की योजना के अनुसार दुनियां के सब धर्म आ बसे हैं। अब हमें अनेकान्तवाद के द्वारा समन्वय को सर्वश्रेष्ठ धर्म बनाकर सब धर्मों का एक सार्वभौम सनातनी परिवार बनाना है। हम भगवान् महावीर की प्रेरणा के साथ ही, नम्र होकर प्रार्थना करें कि 'सारे विश्व में समन्वय द्वारा आत्मीयता बढ़ाने का भारत का मिशन हम फैला सकें ऐसी नई धर्मदृष्टि हमारे हृदय में विकसित हो जाए, और हमारे जीवन में, उन्नति प्रेरक समन्वय, हमें नये युग के लिए तैयार करें।

सबसे प्रथम, हम सब भिन्नधर्मी लोग, एक दूसरे के साथ मैत्री बढ़ाने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की कोशिश करें, एक दूसरे के घर पर जाएं। आहार के अपने नियम सम्भाल कर एक दूसरे के हाथ का खाने को तैयार हो जाएं। हम एक दूसरे के प्रधान त्यौहारों में शरीक हो जाएं और एक नियम बना लें कि जातिभेद या धर्मभेद के कारण हमारे बीच समाज भेद न बनें। हम सब भारतीय एक समाज बनकर सारे विश्व के साथ अपनी एकता सिद्ध करने की साधना चलावें।

मैं जानता हूं कि जैनियों के अन्दर चन्द साधु भारत के बाहर जाना पाप समझते हैं। मैं उनसे कहता हूं कि—आपसे मैं झगड़ा नहीं करूंगा लेकिन अहिंसा धर्म के, समन्वय धर्म के सिद्धान्तों को भारत के अन्दर ही बांधकर न रखिए। आप आयन्दा ऐसे शिष्यों को तैयार करें जो आपके जितने पवित्र भले न हों किन्तु अहिंसा को लेकर, समन्वय को लेकर, मिशनरी बनेंगे, और दुनियां के किसी भी धर्म का विरोध न करते हुए सब धर्मों में कौटुम्बिक भावना का प्रचार करेंगे।

यह कहते मुझे सन्तोष है कि जैनी साधुओं में मुझे ऐसे साधु मिले हैं जो इस सूचना को मान्य करके अहिंसा धर्म का प्रचार सारी दुनियां में करने के लिए मिशनरियों को तैयार करने के लिए राजी हुए हैं। इससे मुझे अत्यन्त आनन्द हुआ, किन्तु आश्चर्य नहीं हुआ। मैं जानता था कि जैन दर्शन, अब भी हमारे बीच में जिन्दा है, प्राणियों की हत्या में अगर पाप है तो प्राणवान धर्म को निष्प्राण बनाना कितना बड़ा पाप होगा ?

नया युग आया है जब अनेकान्तवाद के प्रभाव से समन्वय का वायुमण्डल सारी दुनियां में फैल जाएगा और केवल युद्ध-विरोध ही नहीं, किन्तु दुनियां संघर्ष-विरोधी, शोषण विरोधी, ऊंच-नीच भेद की विरोधी बन जाएगी। भगवान् महावीर की पच्चीसौवीं निर्वाण शताब्दी के शुभ मुहुर्त पर हम अनेकान्तवादी समन्वय को विश्वमान्य बनाने की प्रवृत्ति शुरू करेंगे।

समदृष्टि तब जानिए, सीतल समता होय।
सब जीवन की आत्मा, लखै एक सी सोय॥

—कबीर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दो पल तो हंस मुस्काने दो

इनको मत रोको, जाने दो।

परदेसी है देश अजाना,
कितने कोस इन्हें है जाना,
राह देखते होंगे घर पर, अपनों को जाकर पाने दो,
इनको मत रोको, जाने दो।

दुपहरिया में रजनी आई,
संध्या संग घनतम को लाई,
असमय मुरझाए कमलों को, दो पल तो हंस मुस्काने दो,
इनको मत रोको, जाने दो।

जानेवाले कब रुकते हैं,
बढ़नेवाले कब झुकते हैं,
सदियों से रोनेवालों को, मनमाने गाने, गाने दो,
इनको मत रोको, जाने दो।

रामरिख मनहर
४४ खत्तरगलीलेन
वम्बई–४

★★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कविता

मन भेद नहीं अब रह पाये!

● मुनिश्री मानमल "बीदासर"

मतभेद सदा से चलते हैं, मन-भेद नहीं अब रह पाये।
मनभेदों के कारण कितने
धर्मों धर्मों में द्वन्द्व हुआ?
परिणाम भयंकर जहरीला
बोलो, कब उसका बंद हुआ!
शोणित की लाल कहानी फिर से न उभर कर आ पाये,
मतभेद सदा से चलते हैं, मन-भेद नहीं अब रह पाये॥

यह पाँचों अंगुलियां अपना
अस्तित्व स्वयं का रखती है।
तन पोषण जब करना हो
भोजन हिलमिल सब चखती हैं।
ऐसा ही ऐक्य धर्म जग के नेता फिर से अब दिखलायें
मतभेद सदा से चलते हैं, मन-भेद नहीं अब रह पाये॥

झाड़ू का हर तिनका देखो
यदि बिखर गया तो मिटता है
धार्मिक नेताओं; सुनो सुनो
युग का स्वर अब जो उठता है।
आस्तिकता खतरे में सारी मिल कर चलना अब आ जाये।
मतभेद सदा से चलते हैं, मन-भेद नहीं अब रह पाये॥

●●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्म ने तो मनुष्य को सदा एकता ही सिखाई है, कभी अनेकता नहीं सिखाई। जो धर्म अनेकता या फूट सिखाता है वह धर्म ही नहीं है।........

डा० ज्योतिप्रसाद जैन

धर्म क्या सिखाता है ? एकता या अनेकता

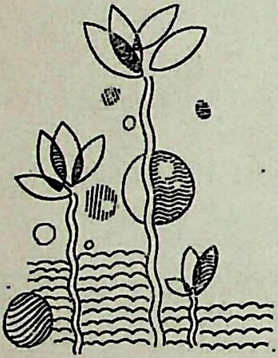

मज़हब नहीं सिखाता,
आपस में वैर करना॥

धर्म शब्द की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है और की जाती है, किन्तु संस्कृत की जिस 'धृ' धातु से यह शब्द बना है उसका अर्थ है धारण करना या मिलाए रखना, अतएव जो भाव या वस्तु मनुष्यों को एक दूसरे से मिलाये रखे उसे ही 'धर्म' कहते हैं। धर्म के अंग्रेजी पर्यायवाची 'रिलीजन' शब्द का भी मौलिक अर्थ यही है कि जो मनुष्यों को एक दूसरे के साथ बांधे या बांधे रखे। धर्म के सूचक पंथ, मार्ग, पाथ, मजहब आदि अन्य कई शब्द भी जो परस्पर पर्यायवाची हैं, इसी अभिप्राय: के द्योतक हैं कि मनुष्य व्यक्तिशः पृथक-पृथक न भटके वरन् साथ-साथ मिलकर, किसी एक प्रशस्त मार्ग के अवलम्बन द्वारा जीवन-यात्रा सफल करें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संसार में जब जहां और जो भी धर्म प्रचलित हुए तथा आज भी प्रचलित हैं, उन सब का एक सामान्य उद्देश्य मनुष्यों के मध्य वैर-विरोध दूर करके उनमें पारस्परिक प्रेम, मैत्री, सहानुभूति एवं सहयोग का पोषण करना, व्यक्ति का और व्यक्ति के माध्यम से मानव समाज का नैतिक उन्नयन करना, तथा लोक में सुख-शांति स्थापित करना रहा है। सभी मनुष्यों को एक ही ईश्वर की सृष्टि, खुदा की मख़लूक या बन्दे, अथवा समान रूप से ईश्वर का अंश मानकर, अथवा परमात्मरूप से विकसित होने की समान क्षमता, स्वरूप, गुण-धर्म युक्त स्वतन्त्र आत्माएँ मानकर, मानव-मानव के बीच विद्यमान समत्व एवं एकत्व पर ही बल दिया गया है। भगवान महावीर प्रभृति श्रमण तीर्थंकरों ने इस आत्मौपम्य सिद्धान्त द्वारा ही मनुष्य को विविधता में विराट दर्शन करने की समीचीन दृष्टि प्रदान की। अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त की प्रतिष्ठा द्वारा उन्होंने व्यक्तिमात्र के निर्विरोध उन्नयन का, सुख-शांति, मैत्री एवं सहिष्णुता का मार्ग प्रशस्त किया, अतएव प्रसंगत, वर्ण, जाति, वर्ग आदि समाजगत कृत्रिम भेदों के उन्मूलन का भी उन्होंने प्रयास किया। अस्तु, धर्म ने तो अपने सच्चे सही रूप में अनेकता या विरोध को कभी प्रश्रय नहीं दिया, एकता पर ही बल दिया। भौगोलिक, प्रादेशिक, राष्ट्रीय जातीय, भाषायिक आदि अनेक दुर्निवार व्यवधानों की उपेक्षा करके मनुष्य को मनुष्य के साथ एक सूत्र में बांधने में धर्म जितना सफल हुआ है, कोई अन्य कारण नहीं हुआ।

तथापि, यह भी एक कटु सत्य एवं ऐतिहासिक तथ्य है कि संसार में धर्म के नाम पर और जिस ईश्वर या देवी-देवताओं को लेकर विभिन्न धर्म चले उनके नाम पर जितने द्वन्द्व, संघर्ष, युद्ध, रक्तपात, अत्याचार, अनाचार और शोषण हुए हैं, उतने शायद किसी अन्य कारण से नहीं हुए। मनुष्य-मनुष्य के बीच फूट, भेदभाव, घृणा, वैमनस्य और विद्वेष धर्मान्धता के परिणामस्वरूप ही अधिक पनपे और फले-फूले हैं। झूठे धर्मोन्माद ने भाई को भाई का शत्रु बना दिया, अखिल मानव समाज को ही नहीं, एक-एक देश, एक-एक जाति को टुकड़े-टुकड़े करके धार्मिक विद्वेष और साम्प्रदायिकता की आग में झोंक दिया।

एक ही धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय एक दूसरे के कट्टर वैरी बन बैठे और सहधर्मियों पर भी अमानुषिक अत्याचार करने से नहीं चूके।

इस विरोधाभास का कारण क्या ? इसमें धर्म का दोष नहीं है, दोष है धर्म के ठेकेदारों का, जो न धर्म के स्वरूप को जानते-समझते हैं और न उसका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उचित आचरण ही करते हैं। मनुष्य ने धर्म को भी अपने स्वार्थ-साधन का अस्त्र बना लिया। अर्थ और काम पुरुषार्थों का साधन, राजनैतिक अथवा आर्थिक सत्ता की प्राप्ति और उसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले विषय-भोग, ऐश्वर्य एवं शक्ति ही उसके परम और चरम लक्ष्य बन गये। उन्हीं की पूर्ति के लिए उसने अपनी सत्ता के दुरुपयोग द्वारा धर्म को भी एक साधन बना लिया। निहित स्वार्थों के हाथ का खिलौना बनकर धर्म निर्जीव हो गया और एकता के बजाय अनेकता का सम्पादक बन गया। भावुकता का नाम अध्यात्म हो गया, थोथे कर्मकाण्ड और रूढ़ियां धर्माचरण कहलाने लगीं, आडम्बर और अहं-प्रदर्शन पुण्य के साधक माने जाने लगे, वैचारिक संकीर्णता एवं आचार की बाह्य कट्टरता धार्मिकता के द्योतक बन गये। वस्तुतः हममें जो धर्म रह गया है वह केवल इतना ही कि एक-दूसरे से घृणा करने के लिए प्रेरित करता रहे, इतना नहीं कि परस्पर प्रेम करने के लिए प्रेरित करें।

जैनधर्म को ही लें, तो जिसको अनेकान्तात्मक विचार-सरणि और अभि-व्यंजना की स्याद्वादमयी शैली अहिंसा की आधारशिला पर प्रतिष्ठित होकर सभी विभिन्न दृष्टियों एवं मतों का परम सहिष्णुता एवं उदारता के साथ समन्वय करने की पूर्ण क्षमता रखती थी, स्वयं उसी धर्म-परम्परा में एक दो नहीं, कम से कम आधा दर्जन, सम्प्रदाय उपसम्प्रदाय इस समय भी विद्यमान हैं। वे सभी अपने आपको जैन कहते हैं, ऋषभादि महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों, जिनेन्द्रों या अर्हन्तों के अनुयायी और पंचपरमेष्ठी के उपासक होने का दावा करते हैं, उनके तत्वज्ञान, दर्शन और पौराणिक परम्पराएँ अभिन्न हैं, वे सब एक ही माता-पिता की सन्तान के समान हैं। किन्तु क्या उनमें यथेष्ट साधर्मी वात्सल्य, सौहार्द्र और एकता का सद्भाव है? गत एक सौ वर्षों में न जाने कितनी मुकदमेबाजी, झगड़े-टंटे और छीछालेदर हुई है। किसी दिगम्बर मुनि के पास या दिगम्बर मंदिर में एक श्वेताम्बर या स्थानकवासी गृहस्थ भी जाना पसन्द नहीं करता, उसी प्रकार श्वेताम्बर मंदिर, स्थानक या उपाश्रय में अथवा श्वेताम्बर, स्थानकवासी या तेरापंथी साधु-साध्वी के पास जाने से दिगम्बर श्रावक कतराता है। स्थानक-वासी स्वयं अपने में से निकले तेरापंथियों से विद्वेष रखते हैं, और ये दोनों ही श्वेताम्बर मंदिर-मार्गियों से। शुद्धाम्नायी तेरह पंथी दिगम्बर, बीसपंथी दिगम्बर, तारणपंथी और कान्हजी स्वामी के अनुयायी दिगम्बर भी परस्पर एक दूसरे से उचटते हैं। निसंदेह इस स्थिति का प्रधान श्रेय उन साधुओं, पंडितों एवं साम्प्रदायिक नेताओं को है, जो अपने निहित स्वार्थों के पोषण के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिए ये अलगाव, कटाव और दूरियां बनाये हुए हैं तथा उन्हें निरन्तर पोषित करते रहते हैं।

किसी भी धार्मिक परम्परा में सम्प्रदाय-उपसम्प्रदाय बनते जाना उसके उसके बल और प्रभाव को कुछ क्षीण करता ही है। परन्तु यह प्रक्रिया स्वाभाविक है और विकासशीलता की ही द्योतक है। कोई भी ऐसी धार्मिक परम्परा नहीं है जिसमें उसके प्रवर्तन के आल्पाधिक काल के उपरान्त शाखा-प्रशाखाएँ न उत्पन्न हुई हों। भौगोलिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, व्यक्तिगत—अनेक कारणों आचार और विचार को लेकर मूल स्थिति से मतभेद होने लगते हैं। जिस मतभेद को कोई प्रभावक नेता पर्याप्त संख्या में अपने अनुयायी बनाने में और अपनी शिष्य परम्परा को अपेक्षाकृत स्थायी बनाने में सफल हो गया, तो वह प्रारम्भ का छोटा-सा मतभेद ही एक नये पंथ या सम्प्रदाय का रूप ले लेता है। कालान्तर में उक्त सम्प्रदाय में से नवीन उपसम्प्रदाय भी उसी प्रकार फूट निकलते हैं, और समय के साथ-साथ एक ही धर्मपरम्परा अनेक परस्पर प्रतिद्वन्द्वी पंथों या सम्प्रदायों में विभक्त हुई दृष्टिगोचर होती है। इन सम्प्रदायों-उपसम्प्रदायों में से सभी चिरस्थायी नहीं होते—अनेक तो अल्पाधिक कालतक चलकर स्वतः समाप्त हो जाते हैं या अन्य सम्प्रदायों में समाविष्ट होजाते हैं। नए-नए सम्प्रदायों की उत्पत्ति न रुकी है और न शायद आगे भी कभी रुक पाएगी। किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि एक ही परम्परा-जननी में से निकसित-विकसित ये विभिन्न सहोदर सम्प्रदाय-उपसम्प्रदाय पारस्परिक सद्भाव, सौहार्द्र और एकता न बनाये रख सकें तथा महत्तर एवं समान उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक साथ मिल बैठकर प्रयत्नवान न हो सकें। **वस्तुतः, धर्म ने तो मनुष्य को सदा एकता ही सिखाई है, कभी अनेकता नही सिखायी। जो धर्म अनेकता या फूट सिखाता हैं वह धर्म ही नहीं है।**

अंतिम तीर्थंकर श्रमणोत्तम निर्ग्रन्थ महावीर अनेकान्त दृष्टि के स्वामी थे। उनके विधान में एकान्त आग्रह को स्थान नहीं था। इसीलिए विभिन्न रुचियों, प्रकृतियों, योग्यताओं और परिस्थितियों के व्यक्ति भी एक साथ मिलकर उनके द्वारा उपदेशित एवं आचरित धर्म का आलम्बन करके यथाशक्य स्व-पर कल्याण कर सकते हैं। उन परम सहिष्णुता भगवान का २५०० वां निर्वाण महोत्सव, आगामी वर्षों में बड़े समारोह के साथ मनने जा रहा है। भारत जैन महामण्डल अखिल जैन समाज की एक सम्प्रदाय निरपेक्ष प्रतिनिधि संस्था है और उसके सुयोग्य मंत्री एवं कर्मठ समाजसेवी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री रिषभदासजी राँका ने यह सद्संकल्प किया है कि वह अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी जैन समाज की भीतरी फूट, वैमनस्य और विरोधों का अन्त और उसकी एकता का सम्पादन करके रहेंगे। महामण्डल के मुखपत्र 'जैनजगत' का प्रस्तुत समन्वय-विशेषांक भी उसी दिशा में एक प्रशंसनीय उपक्रम है। रांकाजी और उनके सहयोगियों का यह महान व्रत और भगवान की सार्द्ध-द्विसहस्राब्दि का यह शुभावसर मणिकांचन संयोग है—वह अखिल जैन-जगत के स्वणिर्म नवप्रभात का उद्घाटक बने, ऐसी हमारी हार्दिक कामना है।

स्याद्वादो वर्तते यस्मिन् पक्षपातो न विद्यते।
नास्त्यन्यपीडनं किंचित् जैनधर्मः स उच्यते॥

(—ज्योतिनिकुंज चारबाग, लखनऊ)

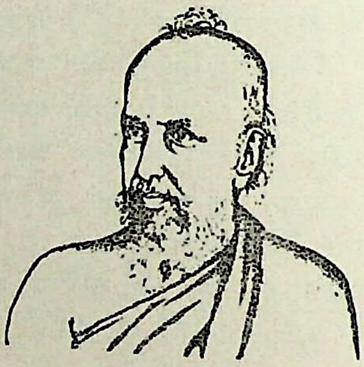

धर्म मनुष्य-मनुष्य के बीच वात्सल्य सम्बन्ध जोड़कर, भेदभावों की दीवारें तोड़कर अभेदभाव की ओर ले जाता है, जबकि पंथ और सम्प्रदाय जब धर्मतत्व रहित हो जाते हैं,तो भेदभाव की दीवारें खड़ी कर देते हैं, आपस में लड़ाने-भिड़ाने का काम करते हैं, धार्मिक क्रिया-काण्डों को ही अधिक महत्व देने लगते हैं। वे उनमें तो लाखों रुपयों का धुँआ उड़ा देंगे, लेकिन उन रुपयों को बचाकर जनहितकारी प्रवृत्तियों में लगाने से हिचकिचाएंगे, बहाने बनाएँगे।

—आचार्य श्री विजयवल्लभसूरि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नामों की भीड़ में

सुगन्ध की खोज में,
भटकती नासिकायें,
रूप की चोटियों पर,
जमती निगाहें,
आनन्द के सागर में
डूबा मन
सभी बावरे, प्यासे ।

नासिका इत्र की हवा में,
निगाहें रूप के कुहासे में,
मन, भोग की दुकान पर
ठग लिये गये हैं ।

मुझे भी,
धोखे से
तृप्ति के पात्र में
प्यास बेच दी गयी है ।

जिसकी खोज हो रही है,
वह अर्थ है,
जो नामों की भीड़ में
खो गया है,
पर हम स्वयं भी—
नाम ही ढूंढ़ रहे हैं
नामों की भीड़ में ।

• भ्रमर राजस्थानी
ग्वालियर रेयान
इण्डस्ट्री हाउस
पहली मंजिल, बम्बई–२०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

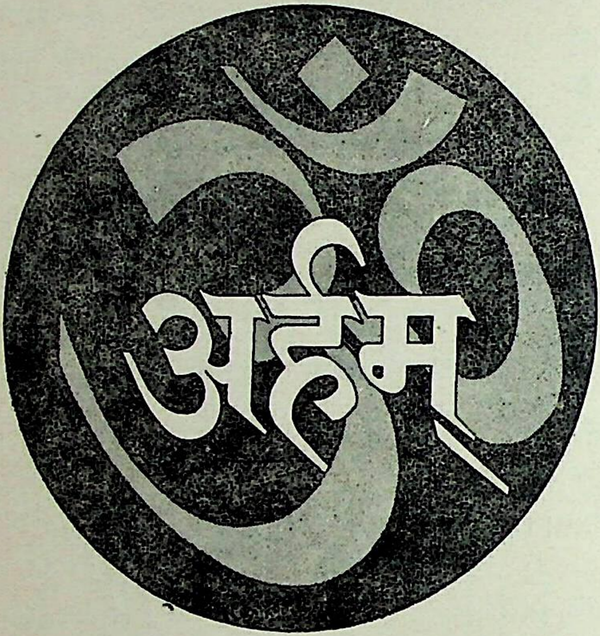

विश्व के धर्म

मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने वाली कड़ी को ही धर्म कहा जाता है और इनको परस्पर मिलाने वाली मूल भावनाएँ हैं—सत्य, प्रेम और करुणा। विश्व के समस्त धर्मों का आधार-बिन्दु ये तीनों गुण ही हैं। किन्तु तथाकथित धार्मिकों ने इन गुणों को भूलकर अपने निजी स्वार्थों के वश बाह्याडम्बरों और ऊपरी कर्मकाण्डों को ही धर्म नाम दे दिया है, यही कारण रहा है कि धर्म मनुष्यों को जोड़ने के बजाय उन्हें एक दूसरे से विलग करने की दिशा में ही अधिक आगे बढ़ा है। इसी कारण से संसार में इतने सारे धर्म बनें और इन समस्त धर्मों में शाखा-प्रशाखाएँ फूट निकलीं। एक धर्म दूसरे धर्म को, एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय को अपने से बिलकुल अलग मानने लगा है।

यही धर्म अपने मूल उद्देश्य से हटकर गलत उद्देश्य की ओर अग्रसर हुआ है, और उसने धर्म के वास्तविक अर्थ को ही गलत साबित कर दिया है। किसी कवि ने कहा है कि—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संक्षिप्त परिचय

● अक्षयकुमार रांका

गवामनेकवर्णानां क्षीरस्यास्त्येकवर्णता ।
तथैव सर्वधर्माणां तत्वस्यास्त्येकवस्तुता ।।

अर्थात् गायें अनेक रंगों की है, पर उनका दूध एक ही रंग का होता है । धर्म और भाषाएं भी अनेक है पर तत्त्व सबका एक है । लेकिन इस सत्य और तथ्य को तब तक जाना नहीं जा सकता जब तक हमें दुनियाँ के विभिन्न धर्मों की सामान्य जानकारी न हो । इसलिए इस निबंध में दुनियाँ के विभिन्न धर्मों की अत्यन्त संक्षिप्त एवं मुख्य जानकारी देने का मैं प्रयास कर रहा हूं ।

दुनियाँ के समस्त धर्मों का उद्‌गम स्थान एशिया की पवित्र भूमि है, और एशिया में भी भारतभूमि ही आदि धर्मों का उद्‌गम स्थान है—यहीं से धर्मों का प्रचार प्रसार समस्त विश्व में हुआ है । संपूर्ण विश्व में कुल १२ धर्म हैं जिनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है —

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनधर्म

सिद्धान्त :—जैनधर्म विचार और आचार दोनों पर समान जोर देता है। विचारों का मूल है अनेकान्त या स्यादवाद् और आचार का मूल है अहिंसा और तपस्या।

पंच महाव्रत :—सिद्धान्तों की पूर्ति के लिए, अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और अस्तेय ये पांच महाव्रत पालने का विधान है।

संस्थापक :—जैनधर्म के संस्थापक आदिनाथ भगवान ऋषभदेव हैं, उनके पश्चात् विविध कालों में भगवान महावीर पर्यन्त २४ तीर्थंकरों ने इस धर्म को मार्गदर्शन दिया है।

सम्प्रदाय :—मुख्यरूप से दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी एवं तेरापंथ चार सम्प्रदाय है। इन चारों सम्प्रदायों के अतिरिक्त अन्य और भी कई छोटे-बड़े कितने ही सम्प्रदाय जैनधर्म में हैं।

धर्मग्रन्थ :—ये ग्रन्थ आगम कहलाते हैं और इनकी कुल संख्या ४५ है। ग्यारह अंगग्रन्थ, बारह उपांगग्रन्थ, १० प्रकीर्णग्रन्थ, ६ छेद ग्रन्थ, ४ मूलसूत्र, २ सूत्र। ये ग्रन्थ श्वेताम्बरों के हैं।

दिगम्बरों के ग्रन्थ हैं—षट्खण्डागम।

नित्य कर्म :—दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार गृहस्थों के देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये नित्यकर्म माने गये हैं

श्वेताम्बर :—सामायिक,प्रतिक्रमण, वन्दन, श्रावक के १२ व्रतों का पालन, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान ये ६ आवश्यक कर्तव्य मानते हैं।

जैन तीर्थ—गिरनार, राजगृह, पावापुर, चम्पापुर, पालिताणा, आबू, सम्मेदशिखर, श्रवण बेलगोला, देलवाड़ा, श्री महावीरजी आदि आदि।

जैन मंत्र :—**णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं,**
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।

माला १०८ मनकों की होती है, और माला फेरते समय मनकों को हथेली के भीतरी छोर की ओर ले जाने की पद्धति है।

पवित्र वस्तुएं :—जैन धर्म में रजोहरण, मोरपिच्छी, मुखवस्त्रिका, कटासन, माला, चंवर, स्वस्तिक स्थापना, तिलक आदि को बहुत पवित्र माना जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैदिक धर्म

वैदिक धर्म को सनातन धर्म या हिन्दू धर्म भी कहा जाता है।

सिद्धान्त :—एक ईश्वर में विश्वास और उसकी नाना रूपों में उपासना, वेदों को प्रामाणिक ग्रन्थ मानना, नैतिक आचरण पर जोर, वर्ण-व्यवस्था एवं चारों आश्रमों में आस्था।

चार पुरुपार्थ :—जीवन विकास के लिए धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति का सतत प्रयास।

संस्थापक :—ब्रह्म को आदि सृष्टिकर्ता माना गया है।

संप्रदाय :—वैदिक या हिन्दू धर्म वैष्णव, शाक्त, शैव, गाणपत्य, योगमार्गी आदि असंख्य विभागों का परस्पर अर्न्तभुक्त किया गया समूह है। हिन्दू धर्म में पहले उपरोक्त संप्रदाय वनें थे किन्तु शंकराचार्य आदि महापुरुषों ने समस्त सम्प्रदायों को परस्पर मिलाकर एक कर दिया। सभी लोगों को उपासना की खुली छूट है। साकार या निराकार की भावना मानने की भी सभी को स्वतन्त्रता है।

धर्म ग्रन्थ :—चार वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद इन चारों के चार उपवेद-आयुर्वेद, धनुर्वेद, गंधर्ववेद एवं अर्थशास्त्र।

अष्टादश पुराण, २९ उप-पुराण, ५ आरण्यक, १० उपनिषद, महाभारत एवं रामायण महाकाव्य।

तीर्थ :—बद्रीनाथ, केदारनाथ, रामेश्वरम्, द्वारिकापुरी, प्रयाग, काशी, मथुरा, जगन्नाथपुरी, गया, हरिद्वार, विश्वनाथ, चिदम्बरम्, तंजोर, कांजीवरम्, श्रीरंगम्, तिरुपति, मीनाक्षी आदि आदि।

नित्यकर्म :—संध्या करना,स्नान, वस्त्र, पुष्प, धूप, नैवैद्य, आरती, पूजा, आदि षोडशोपचार, अतिथि. गौ आदि को भोजन देना। दान करना आदि नित्यकर्म माने गये हैं।

१०८ मनकों की माला है, मंत्र भी विविध हैं, जिसकी जिस मंत्र में भावना, हो, वह उस मंत्र का जाप कर सकता है।

पवित्र वस्तुएं—गंगाजल, माला, स्वस्तिक, ओम्, शब्द, चन्दन, पुष्प, तिलक इत्यादि।

बौद्ध धर्म

सिद्धान्त :—चारों आर्य सत्यों की जानकारी, दुःख, दुख का हेतु, दुख से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुक्ति और दुख से मुक्ति की ओर ले जाने वाले अष्टांगिक मार्ग का पालन। मध्यम मार्ग। भोग विलास और शरीर को अत्यधिक पीड़ा देकर तपस्या करने का निषेध। बौद्ध धर्म में अहिंसा पर बहुत जोर दिया गया है।

संस्थापक—भगवान बुद्ध।

सम्प्रदाय :—हीनयान, महायान, तिब्वती एवं जापानी "झैन"।

धर्मग्रन्थ :—धम्मपद, त्रिपिटक, मिलिन्दपन्हो, जातक-कथाएँ उदान, थेर-गाथा, विमानवत्थु तथा पेतवत्थु।

तीर्थ :—कपिलवस्तु, बोधगया, कुशीनगर, ऋषिपत्तन, सारनाथ, राजगृह, वैशाली, श्रावस्ती, कौशाम्बी, नालन्दा और पाटलिपुत्र।

१०८ मनकों की माला पर बौद्ध लोग "बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि संघं शरणं गच्छामि" जपते हैं।

पवित्र वस्तुएँ—चक्र, स्तूप, पाद-चिन्ह, बोधि-वृक्ष इत्यादि।

यहूदी धर्म

सिद्धांत : - जीव और जगत् का रचने वाला ईश्वर एक है। वह प्रेममय, करूणामय, सर्वव्यापी, निकट से भी दूर, दूर से भी दूर अंधकार की तरह रहस्यमय, सूर्यप्रकाश की तरह सुस्पष्ट, सत्कर्म, प्रेम, और करुणा से सबके साथ स्नेह भरा व्यवहार करने वाला है। वह यहोवा के नाम से जाना जाता है। वह घमण्ड, असत्य, हिंसा, अनर्थ-कल्पनाओं, बुराई एवं परस्पर की फूट से नफरत करता है। हर प्राणी को उसका मार्ग अपनाना चाहिए।

संस्थापक :—हज़रत मूसा "मोसेज"

सम्प्रदाय :—कट्टरपन्थ, उदारपंथ एवं सुधारपंथ।

धर्मग्रन्थ :—पुरानी बाईविल (ओल्ड टेस्टामेण्ट), तोरा, नबी, नविस्ते, इनके अतिरिक्त तालमुद धर्मग्रन्थ का भी यहूदी धर्म में विशेष स्थान है।

कनफ्यूसियस धर्म

सिद्धान्त : मानव सेवा, पुर्नजन्म में विश्वास, निष्काम भाव तथा ईमानदारी से कर्तव्यपालन करना, प्रत्येक प्राणी के साथ सद्व्यवहार, माता-पिता की भक्ति एवं भक्ति के बनिस्वत बुराई से दूर रहने पर जोर।

संस्थापक :—कनफ्यूसियस अर्थात् कुंगफुतेज। जन्म-ईसा पूर्व ५०१

धर्म ग्रन्थ :—चार ग्रन्थ हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूल सूत्र—तुम्हें जो चीज नापसन्द है, वह दूसरे के लिए हर्गिज मत करो।

पांच मुख्य बातें :—प्रेम, न्याय, नम्रता, विवेक, और ईमानदारी।

ताओ धर्म

सिद्धांत :—निर्माण और संरक्षण करना, कर्तापन का अहंकार न करते हुए कर्म करना, कर्म करके फल की आशा रखना, बिना विनाश के विकसित होना—यही है परम धर्म। आत्मा अमर है, पुनर्जन्म में विश्वास, ताओ ब्रह्म है, विश्व का मूल है, स्वयंसिद्ध, असीम और अनादि है। उसे ग्रहण करना, उसका चिन्तन करना कठिन है। उसका कोई नाम, रूप नहीं। अच्छे लोगों के प्रति अच्छा व्यवहार करो, जो तुमसे बुरा व्यवहार करे तुम उससे भी अच्छा व्यवहार करो। वासना, इच्छा, कामना छोड़कर ही परमशांति प्राप्त की जा सकती है। जो कुछ होता है अपने आप होता है।

सस्थापक :— लाओत्से, जन्म ईसवी सन् से ६०४ वर्ष पूर्व।

धर्मग्रन्थ :—ताओ तेह किग, एवं योकिंग।

पवित्र चिन्ह :—पीली टोपी

इस धर्म के साधु और साध्वियाँ गाँव-शहरों से बाहर ही रहते है।

पारसी धर्म

सिद्धांत :—अहुरमज्दा में विश्वास करने वाले अग्नि-उपासक पारसी लोगों के धर्म के तीन स्तम्भ हैं—पवित्र विचार पवित्र वचन एवं पवित्र कर्म। ईश्वर एक है, अनादि है, अनन्त है, पूर्ण है, पवित्र है, शिव है, सत्य है, ऋत, प्रकाशमान है, सबका स्वामी है। वर्ण- व्यवस्था का विधान, ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के रूप में और कर्म के अनुसार। पंचतत्वों की पूजा। दान, दया, न्याय स्वावलम्वन पशुओं की रक्षा, पवित्रता, संयम, विद्या फैलाने पर गरीवों जोर, की सेवा। ये सब सिद्धांत मुख्य हैं।

संस्थापक :—प्रभु जरथुश्त्र

धर्मग्रंथ :—अवेस्ता, इस ग्रन्थ के अंक १—यस्न, २—वीस्परत् ३—यश्त ४—वेदीदाद या वीदेवदात ५—खर्दह अवेस्ता ६—हाघोख्त नस्क, विस्ताप शास्त नस्क ये ग्रन्थ पहलवी भाषा के हैं।

पारसी भाषा में भी धर्मग्रन्थ हैं—सददर, सद दरबन्दए हुश, जरतुश्तनामा, शाहनामा, दाबिस्तान आदि आदि।

मूलसूत्र :—सन्त का बाहरी प्रतीक अग्नि है, मृत्यु और अंधकार का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दाता है अहिरामन जो असत् का प्रतीक है। सद्वचन, सत्कर्म से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है।

मंत्र :—१०१ मनकों की माला पर 'अपम वोहू यथा अहू वईयों जपते' है।

पूजास्थान :—अगियारी, अग्निमंदिर-अतश-वहराम और जरथुश्त्र के चित्र के सामने पूजा करने का विधान है।

पवित्र वस्तुएँ :—अग्नि, चन्दन की लकड़ी, माला एवं श्वेतवस्त्र ।

ईसाई धर्म

सिद्धान्त :—परमेश्वर एक है जो निरन्जन, निराकार और ज्योतिरूप ईसा को परमेश्वर का पुत्र मानकर उनके चमत्कारों में निष्ठा। ईश्वराराधना बाईवल को सत्य मानना, सत्य वचन, करुणा, दान, चोरी आदि कुकर्मों से परहेज। ईसा मरकर भी अमर हुए हैं इस बात में निष्ठा। दुश्मन से भी प्यार करो, रोगी, पीड़ित दुखी,विधाव की सहायता करो। पाप से घृणा करो, पापी की सेवा करो। अहिंसा, त्याग का पालन करते हुए, ईसा का चरित्र पढ़ो।

संस्थापक :—महात्मा ईसा

धर्मग्रन्थ :—बाईविल। बाईविल के दो भाग हैं एक पुरानी, दूसरी नई। मार्च, मैंथ्यू और ल्यूक द्वारा लिखे सुसमाचार से जान रचित सुसमाचार थोड़ा भिन्न है। नए धर्म के नियम में इन सुसमाचारों के अतिरिक्त पौतुस तथा दूसरों की पत्रियां भी हैं।

बुनियादी निष्ठा :—यह अपनापन होता है तब, जब हम यह मानकर चलते हैं कि हम और दूसरे लोग एक हैं, एक खूनके हैं, एक वंश के हैं। एक पिता की सन्तान हैं। हम सब उस एक ही परमपिता की सन्तान है इसलिए हमें एक दूसरे के साथ भाईचारे का, प्रेम का, मुहब्बत का व्यवहार करना चाहिए।

पवित्र चिन्ह : क्रॉस

पूजा स्थान : गिरजाघर (चर्च) प्रमुख अधिकारी पोप कहलाता है।

सम्प्रदाय : ईसाईयों के प्रमुखतः तीन प्रधान भाग हैं :—१—प्रोटेस्टेट २—रोमन कैथोलिक एवं ३—ग्रीक कैथोलिक।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शिन्तो धर्म

शिन्तोधर्म जापान-निवासियों का राष्ट्रीय धर्म है, इसमें प्रकृतिपूजा एवं पूर्वजों की पूजा का विधान है। इस धर्म के अस्सी लाख देवताओं के समूह में प्रमुख स्थान 'अनाटेरा सुओमीकामो' अर्थात् सूर्यदेवी को प्राप्त है। शिन्तो धर्म बहुत अंश में हिन्दू-धर्म से मिलता जुलता है न कि निकटवर्ती चीन के कनफ्यूसियस अथवा ताओ धर्म से।

सिद्धान्त : हृदय पवित्र रखना चाहिए, मेकाड़ों के प्रति, जो सूर्यदेवी के प्रतिनिधिरूप समझे जाते हैं, पूर्ण राजभक्ति, पूर्वजों के प्रति आदर, माता-पिता के प्रति कर्तव्यनिष्ठा, बच्चों के प्रति स्नेह—इस धर्म का मूलाधार है।

संस्थापक : 'अनाटेरा सुओमीकामो' अर्थात् सूर्यदेवी।

पवित्र चिन्ह : दर्पण, तलवार तथा रत्न।

पूजा पद्धति : हराई मंत्रोच्चारण, मिसौगी "अभिषेक" इमी "मनोनिग्रह अर्थात् ध्यान। इस धर्म में पूजा का अर्थ होता है नमन, नैवेद्य और प्रार्थना।

शिन्तो प्रार्थना: हमारी आंखे भले ही अपवित्र वस्तु देखें, किन्तु हे भगवान्, हृदय में अपवित्र भावों का उदय न हो। हमारे कान भले ही अपवित्र बात सुनें, किन्तु हमारे चित्त में अपवित्र बातों का अनुभव न हो।

शिन्तो के अद्वैत आध्यात्मिक सिद्धान्त के अनुसार "अमेनोमी न कानुसी" सर्व शक्तिमान सर्वव्यापी आत्मा है।

इस्लाम धर्म

सिद्धान्त :—एक अल्लाह को मानना, सबसे भाईचारा रखना, पसीने की कमाई खाना, सदाचार का पालन करना, नम्रता, प्रेम और शांति का प्रचार। अल्लाह पर ईमान, अल्लाह की किताबों पर ईमान, रसुलों पर ईमान, रोजा, नमाज जकात और हज के नियमों का पालन करना।

संस्थापक :—हजरत मुहम्मद साहब।

सम्प्रदाय :—इस्लाम में वैसे तो कई सम्प्रदाय हैं किन्तु १—सुन्नी, २—सिया, ३—वहाबी ४—आगाखानी एवं ५—कादियानी मुख्य हैं।

१०० मनकों की माला पर अल्लाह का नाम जपा जाता है और माला के मनके माला फेरते समय बाहर की ओर निकलते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीर्थस्थान :—मक्का, मदीना, अजमेर-शरीफ, दिल्ली की जामा-मस्जिद, लखनऊ का इमामबाड़ा इत्यादि ।

धर्मग्रन्थ : कुरान शरीफ एवं हदीस ।

सिक्ख धर्म

सिद्धान्तः—एक सर्वशक्तिमान ईश्वर में विश्वास, ईश्वरेच्छा पर अपने आपको पूर्णतया निछावर कर देना, और सदाचार का पालन, ईश्वर को छोड़कर अन्य किसी की पूजा नहीं करना । भ्रातृभाव, ईश्वर द्वारा निर्धारित कर्मों को, विना फलेच्छा के आकांक्षारहित होकर पालन करना । मनुष्य मनुष्य के बीच की विभेद की दीवार को मिटाना । गौ और हिन्दुओं के देवालयों का सम्मान ।

संस्थापक :—गुरु नानकदेव ।

आदिगुरु नानकदेव से वाह गुर गोविन्दसिंह तक १० गुरु माने गए हैं ।

धर्मग्रन्थ :—श्री आदिगुरु ग्रन्थसाहिवजी, इस ग्रन्थ में दसों गुरुओं की वाणी के साथ-साथ कवीर, रैदास, नामदेव, धना, फरीद, भीखन वेगी, सूरदास आदि संतों की वाणियाँ भी संकलित हैं ।

जपुजी साहिव—इसके पांच खण्ड हैं—धर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, शरणकाण्ड, कर्मकाण्ड ...

मूल मंत्र—१ ओंकार सतिनामु करता पुरुरक निमउ । १०८ मनकों की माला पर 'सतनाम- वाह गुरु मंत्र जपा जाता है ।

पवित्र चिन्ह :—केश, कंघी, कृपाण, कड़ा और कच्छा ।

सम्प्रदाय :—मुख्य संप्रदाय तीन हैं १—खालसा, २—उदासी मत और ३—शुद्ध सिक्ख ।

प्रमुख तीर्थ :—अमृतसर का स्वर्ण मंदिर, आनन्दकर, पटनासिटी, हजौरी साहब, ननकाना साहब इत्यादि २ ।

इस प्रकार संसार के विभिन्न धर्मों में बाहरी अनेकता होते हुए भी सिद्धान्तों की आन्तरिक एकता है । मार्ग अलग अलग हैं किन्तु मजिल एक है । वह मंजिल है सत्य, अहिंसा करुणा एवं प्रेमपूर्ण चरित्र सम्पन्न जीवन जीना एवं आत्मा का विकास करना ।

(१५--ए हार्निमन सर्कल
भारत इन्श्युरेंस बिल्डिंग
दूसरा माला, बम्बई–१)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मतत्त्व सब धर्मों में व्याप्त एक मूल तत्त्व

पं० नरेन्द्र कुमार जैन भिसीकर
सोलापुर (महाराष्ट्र)

सब धर्मों का वाच्य विषय "वस्तु तत्व" एक ही है इसलिये सब धर्म एक मंच से ही वस्तुतत्व का प्रतिपादन कर सकते हैं।

सांख्य, बौद्ध, आदि दार्शनिकों ने जिस वस्तुतत्व का प्रतिपादन किया है, उसी वस्तुतत्व का जैनदर्शन ने भी प्रतिपादन किया है। प्रत्येक दार्शनिक का वाच्यविषयक वस्तुतत्व भिन्न-भिन्न है ऐसा नहीं है। सब दार्शनिकों ने अपने अपने मंच से एक ही विश्वतत्व का प्रतिपादन किया है इसलिये यद्यपिउनके प्रतिपादन-शैली के प्रकार भिन्न-भिन्न हैं तथापि वे एक ही मंच पर आकर यदि दूसरे पक्ष का कहना निष्पक्षपात से सुने तो उनमें परस्पर समन्वय शांति स्थापित हो सकती है।

आज तक किसी ने अपना मंच-पक्ष छोड़ा नहीं, मेरा सच, और दूसरे की मिथ्या इस पक्षपात बुद्धि से एक दूसरे के साथ लड़ते रहै। इसलिये उनका समन्वय होने के बजाय दुरन्वय होते रहा। परस्पर खींचा-तानी ही होता रही, क्योंकि उनके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मंचपक्ष अलग-अलग थे। यदि वे अपने भिन्न-भिन्न मंचपक्ष छोड़ कर एक मंच पर आने की सुबुद्धि रखें तो उनमें समन्वय हो सकता है। उनका एक मंच पर आना ही समन्वय का एक मार्ग है।

यहां पर प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि सब दार्शनिकों का वाच्य विषय एक ही विश्वतत्व है तो उनमें मतभेद कैसा और क्यों उत्पन्न हुआ ?

समाधान स्वरूप कहा जा सकता है: सब दार्शनिकों का वाच्यविषय वस्तुतत्त्व एक ही है, इसमें कोई विवाद नहीं है। लेकिन वह वस्तुतत्व केवल-ज्ञान के अनुभवकारी विषय है, वचन का विषय नहीं है, इस वस्तुस्वभाव ज्ञान का सर्वत्र अभाव है अत: उनमें मत-विभिन्नता उत्पन्न हो गई।

वस्तु, ज्ञान के द्वारा, प्रमाण के द्वारा युगपत् सम्पूर्ण अंगों से जानी जा सकती है लेकिन उसका—वचन के द्वारा कथन क्रम से एक-एक अंग के द्वारा ही किया जा सकता है। सब अंगों का युगपत् कथन करने का सामर्थ्य वचन में—शब्दों में नहीं है। इसलिये वस्तु के भिन्न प्रतिपादन शैली से सब दार्शनिकों में मत-विभिन्नता का विष निर्माण हुआ। यदि वे दूसरे के समझाने के पूर्व स्वयं समझने का प्रयास करते, वस्तुका स्वय अनुभव करते तो विश्व में यह मत विभिन्नता दीखने को नहीं मिलती।

"जावदिया वयणपहा तावदिया होंति णयवादा।
जावदिया णयवादा तावदिया होंति परसमया ॥"

वस्तु के कथन करने के जितने वचन प्रकार हैं वे सब नयवाद कहे जाते हैं। और जितने भी नयवाद हैं उतने सब भिन्न-भिन्न परसमय हैं। उतने एकान्तमत हैं।

यहां एकान्तवादी प्रश्न करता है कि यदि हमारे सब नयवाद मिथ्या-परसमय है, तो सब मिथ्या नयवादों का समूहरूप आपका अनेकान्तवाद भी मिथ्या ठहरेगा ? इस पर अनेकान्तवादी आचार्य उत्तर देते हैं :—

मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकांतताऽस्ति नः।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तुतेऽर्थंकृत् ॥

यदि मिथ्या नयसमूह-रूप हमारा अनेकान्त मिथ्या ठहरेगा यह आक्षेप उपस्थित करते हो तो हमारे अनेकान्त पक्ष में सब नयवादों को एकान्त से सर्वथा मिथ्या नहीं कहा है। यदि वे सब नयवाद परस्पर निरपेक्ष हों, सम्पूर्ण वस्तु को केवल एक-एक अंशात्मक ही मानते हों तो वे सब नयवाद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिथ्या ही है। यदि वे सब नयवाद परस्पर सापेक्षभाव रखते हों, वस्तु के दूसरे अंश-पक्ष को भी गौणरूप से स्वीकार करते हों तो वे सब नयवाद सम्यक् है। अर्थक्रियाकारी-परमार्थ वस्तु सिद्ध होते हैं। परस्परसापेक्ष सब अंश समूह का नाम ही वस्तु है। वस्तु उन अंशों से पृथक अन्य नहीं है। उन सब अंशमात्रों को ही "वस्तु" नाम दिया गया है। वे सब अंश खण्ड-खण्ड रूप पृथक् स्वतंत्र सत्‌रूप नहीं है। अखण्ड एक सत् रूप है, उसी को वस्तु कहते हैं, वस्तु स्वतः सिद्ध उन नाना अंशरूप विचित्र है। उस अखण्ड वस्तु का वस्तु-वैच्त्रिय समझने के लिए जो बुद्धि द्वारा विभक्त किये जाते हैं उनको अंश कहा है। अंश को "वस्तु को" समझने के लिये उसके अंशों का ज्ञान होना भी आवश्यक है। बिना अंशों के ज्ञान के अंशी का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये सब अंशवादों को सर्वथा मिथ्या कहना अनुचित है। प्रत्येक अंशवाद वस्तु में अपनी प्रतिष्ठा स्थापित कर सकता है यदि वह दूसरे के साथ समन्वय स्थापित करें।

यदि वह अंशवाद दूसरे अंशवाद के साथ समन्वय न रखता हो, तो उसको "स्व वैरी" कहा है। वह अकेला अपना पक्ष भी वस्तु में स्थापित नहीं कर सकता। "परवैरित्वात् स्ववैरिणस्ते" सब एकान्त नयवाद अन्य निरपेक्ष होने से अर्थात् परवैरी होने से स्ववैरी हैं। अपने पक्ष के भी घातक ठहरते हैं। पर की प्रतिष्ठा में ही अपनी प्रतिष्ठा स्थापित हो सकती है। पर के घात में अपना घात सुनिश्चित है।

वस्तु में अपनी अस्ति सिद्ध करने के लिये वस्तु में पर की नास्ति कदापि सिद्ध नहीं हो पाती। पदार्थ में अस्ति का नास्ति के साथ समन्वय-मैत्री भाव-अविनाभाव हो, तो ही वह अस्ति स्थापित हो सकती है।

इसी प्रकार नित्य, एक, आदि जो जो विशेषण वस्तु को दिये जाते हैं वे सब अपने प्रतिपक्षी धर्मों से समन्वय रखने पर ही अपनी प्रतिष्ठा रख सकते हैं। वस्तु का लक्षण कहते हुए "सद् द्रव्यलक्षणं" ऐसा कहकर उस सत् का स्पष्टीकरण करते हुये कहा है कि — "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्" वह सत् उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य इन परस्पर प्रतिपक्ष भूत दो धर्मों से युक्त है। अर्थात् जो सत् उत्पाद-व्यय रूप से परिणमनशील हो वही सत् ध्रुवरूप से अपरिणमनशील रह सकता है। बिना उत्पाद-व्यय के ध्रुवत्व स्थापित नहीं हो सकता। और बिना ध्रुवत्व के उत्पाद-व्यय नहीं हो सकते। पर के साथ समन्वय रखने पर ही "स्व" अपनी प्रतिष्ठा स्थापित कर सकता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। उत्पाद-व्यय रूप से परिणमनशील ध्रुवत्व ही वस्तु में अर्थ क्रियाकारित्व "वस्तुत्व" स्थापित कर सकता है।

आजकल जितने एकान्तवाद स्थापित हुए हैं उनका मूल प्राणभूत अन्तरंग स्वरूप गूढ़ होनें से प्रायः लुप्त हुआ है और उसके दृश्यभूत केवल बाह्य स्वरूप को ही लोग पकड़े हुए बैठे हैं।

ईश्वरकर्तृत्ववाद का सच्चा अभिप्राय यह है कि प्रत्येक वस्तु अपनी परिणमन सृष्टि निर्माण करने के लिये समर्थ है, ईश्वर है, स्वाधीन है, स्वतंत्र है। वस्तु का परिणमन अपने स्वयं उपादान सामर्थ्य से होता है। वस्तु अन्य निमित्ताधीन, ईश्वराधीन, परतन्त्र नहीं है। इस सच्चे ईश्वर कर्तृत्ववाद के अभिप्राय को भूलकर सब जगत् कल्पित ईश्वर को मान कर उसके अधीन अपना सुख-दुःख, जीवन-मरण मानता है। अपने को पराधीन अन्य निमित्ताधीन, ईश्वराधीन समझता है। ऐसे कल्पित ईश्वरवाद का निषेध करके भगवान महावीर ने प्रत्येक आत्मा को ईश्वर माना है। प्रत्येक वस्तु ईश्वर है। अपने वस्तु स्वभाव धर्म का अवलम्ब लेने से प्रत्येक प्राणी ईश्वर बन सकता है। इस स्वातंत्र्य ईश्वरवाद का पुरस्कार भगवान महावीर ने किया है।

अध्यात्म योगी श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है :—

भिन्न भिन्न मत देखिये, भेद दृष्टि नो एह।
एक तत्व ना मूल मां, व्याप्या मानो तेह ॥ १ ॥
तेह तत्वमय वृक्ष नुं, आत्मधर्म छे मूल।
स्वभावनी सिद्धि करे, धर्म ते ज अनुकूल ॥ २ ॥

केवल दृष्टिभेद से भिन्न भिन्न मत दीखने में आते हैं। सब धर्मों में व्यापक एक मूल तत्व है। वह आत्मतत्व है। वस्तु-स्वभाव का अवलम्ब लेने से उस आत्मधर्म की सिद्धि होती है। सब धर्मों का समन्वय एक आत्मधर्म के वस्तुस्वभाव धर्म के मंच पर से ही हो सकता है।

समन्वय दृष्टि में समभाव बसता है, समभाव में सबके प्रति प्रेम झलकता है। प्रेमभावना पत्थर को भी मोम बना देती है।

— **आचार्य श्री विजयवल्लभसूरिजी**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

युवाशक्ति का समन्वय में योगदान

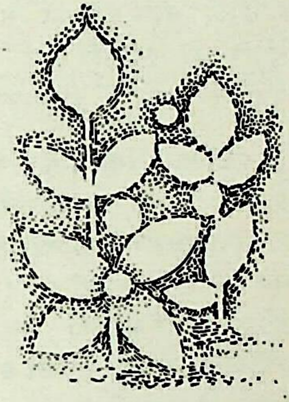

● साध्वी प्रमुखा श्री कनक प्रभाजी

मानवीय चेतना को विचार शक्ति सहज प्राप्त है। वैचारिक शक्ति का अभाव एक सीमा तक चेतना की कुण्ठा का प्रतीक है। चेतना के तीन स्तर हैं—अनावृत चेतना,आवृत चेतना और अर्धआवृत चेतना। अनावृत में विचार समाप्त हो जाते हैं क्योंकि वहाँ विचारका माध्यम ही मिट जाता है। आवृत चेतना मूक जगत् की होती है। इस जगत् में विचार शक्ति पैदा ही नहीं होती। अर्धावृत चेतना विचारों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। इसीलिए मानवीय चेतना के साथ विचारों का अनुबन्ध स्वाभाविक है।

जहाँ विचार है वहाँ भिन्नता भी स्वाभाविक है, किन्तु विचार भेद की अनिवार्य परिणति संघर्ष नहीं है। विचारों की भिन्नता में संघर्ष हो सकता है पर उसका सम्बन्ध विचार भेद की अपेक्षा मानसिक द्वैध से अधिक है। वैचारिक समता होने पर भी मन का द्वैध संघर्ष को निष्पन्न कर देता है इसलिए इस विन्दु पर गहराई से चिन्तन करना अपेक्षित है कि पारस्परिक कटुता और वैमनस्य का मूल विचार है या मन।

कुछ व्यक्ति आग्रह को संघर्ष का मूल मानते हैं। यह ठीक भी है क्योंकि समझौतावादी नीति से संघर्ष को टाला जा सकता है। किन्तु यहाँ भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञातव्य यह है कि आग्रह विचारों का नहीं, मन का होता है। मन में आग्रह नहीं हो तो वैचारिक अभिनिवेश बढ़ ही नहीं सकता। वैचारिक द्वैध विचारों के स्तर तक सीमित रहता है, पर मन का द्वैध व्यवहारों को भी प्रभावित कर लेता है। आग्रही मनोवृत्ति दूसरों के अस्तित्व, विचारों और कार्यों को सहन नहीं कर सकती। जहाँ दूसरे के अस्तित्व और उस के विचारों को स्वीकृति मिल जाती है वहाँ आग्रह के अंकुर फूट नहीं सकते। मानसिक बाध्यता में ही आग्रह की स्थिति पैदा होती है।

विविधता समन्वय में बाधक नहीं है। क्योंकि वह समाज द्वारा स्वीकृत है। जो जैसा है उसका उसी रूप में स्वीकरण कर लिया जाए तो किसी के लिए उलझन पैदा नहीं होती। किन्तु जहाँ भिन्नता के प्रति आग्रह के भाव पनप जाते हैं वहाँ तनाव होने लगता है। जहाँ तनाव है, वहाँ टूटन है। भिन्नताओं की स्वीकृति निकटता का हेतु बनती है इसी प्रकार उनकी अस्वीकृति दूरी का निमित्त बन जाती है। इस दूरी से मानवीय चेतना का विघटन होता है और संघटन की शक्ति क्षीण हो जाती है।

शक्ति का जहाँ तक प्रश्न है, वह युवा पीढ़ी से संपृक्त है। बुजुर्ग लोग शक्तिक्षीणता का अनुभव करते हैं और किशोरों में शक्ति का परिपूर्ण परिस्फोटन नहीं हो पाता है। इस स्थिति में हर युग को अपनी युवा शक्ति पर नाज रहता है। इससे युवा पीढ़ी पर बहुत बड़ा दायित्व आ जाता है कि वह समाज, देश और राष्ट्र के विकास में अपनी शक्ति का समुचित उपयोग करे। देश के आर्थिक स्तर को उन्नत बनाना युवकों का काम है तो उसके नैतिक और आध्यात्मिक स्तर को ऊँचा उठाना भी उनका ही काम है।

पिछले दो दशकों से धर्म सम्प्रदायों में समन्वय का प्रश्न बहुत महत्त्व पूर्ण बना हुआ है। बुर्जुआ पीढी के कुछ प्रतिनिधि इस प्रश्न को समाहित करने के लिए प्राण पण से जुटे हुए हैं। कुछ आचार्यों और मुनियों का ध्यान भी इस प्रश्न पर केन्द्रित है। इससे एक वातावरण बना है। धार्मिक कट्टरता के संस्कारों में परिमार्जन हुआ है। तथा पारस्परिक सौहार्द में वृद्धि हुई है। फिर भी इस दिशा में बहुत काम करना अवशेष है। यह काम किसी एक व्यक्ति या वर्ग विशेष से होने वाला नहीं है। इसलिए बुर्जुआ पीढ़ी के नेतृत्व में युवा पीढ़ी को भी अपना सक्रिय योग देना है। अब तक प्राप्त सफलता और असफलता के मूल में छिपे हुए रहस्यों का उद्घाटन कर आगे बढ़ना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूल को समझे विना चलने वाला व्यक्ति अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता। अब तक समन्वय के लिये जितने प्रयास हुए हैं, संभव है उनमें असमन्वय के मूल को न काट कर शाखाओं को काटा गया है। मूल जब तक सुरक्षित है, शाखाएं आती रहेंगी। असमन्वय का मूल है मानसिक द्वैध। जब तक यह नहीं मिटता है समन्वय की पृष्ठभूमि प्रशस्त नहीं हो सकती। युवा पीढ़ी इस मूल को पकड़े और इसके परिपार्श्व में होने वाली प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण करे। मनका आग्रह यदि समाप्त हो जाता है तो विचार की भिन्नता मात्र से किसी का अहित होनेवाला नहीं है। क्योंकि यह स्वाभाविक है। युवा पीढ़ी की विचार शक्ति उसकी कार्य शक्ति को गति दे और वह ऐसा प्रयास करे जिससे समन्वय का वातावरण और अधिक सशक्त हो सके।

व्यावहारिक वेदान्त :—

१ साहस पूर्ण आगे बढ़ने वाला परिश्रम, न कि जकड़ देने वाला आलस्य।

२ काम में आराम, न कि थकाने वाली बेगार वृत्ति !

३ चित्त की शांति, न कि संशयरूपी घुन।

४ संघटन, न कि विघटन।

५ समुचित सुधार, न कि लकीर के फकीर।

६ गंभीर और सत्य भावना, न कि लच्छेदार बातें।

७ सत्य और तथ्य भरी कविता, न कि कपोल-कल्पित कहानियां।

८ घटनाओं के आधार पर तर्क, न कि प्राचीन लेखकों के प्रमाण।

९ जीता जागता अनुभव, न कि जीवन शून्य वचन !

—स्वामी रामतीर्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नारी, तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नभ पगतल में।
पीयूष स्रोत-सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में॥

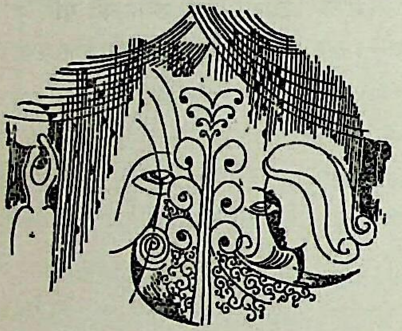

समन्वय में महिलाओं का योगदान

प्रमिला हेमराज बोहरा

एक जमाना था जबकि दार्शनिक सिद्धान्तों की सुन्दर बगिया भारतवर्ष में महकती थी। उसकी सौरभ सारे संसार में फैली थी। रसिक आते, सौरभ से सराबोर होते और लौटते तो फूलों की मधु भी साथ ले जाते। ये रंगविरंगे फूल थे: आध्यात्मिक धारणाएं, दार्शनिक विचार, जीवन सिद्धान्त। एक-एक का अपना पृथक अस्तित्व था, फिर भी ऐक्य-स्थापन था एक मनोहरी बगिया के रूप में। यही है हमारे समन्वयमूलक अस्तित्व की आधारशिला। किन्तु समय ने पलटा खाया, हवा बदली व बगिया सूखने लगी। कुछ बुद्धिमानों ने उसमें विलायती पौधे रोपे। इन नव रोपन में संभवतः किसी को इतना विरोध नहीं होता किन्तु इस रोपन की क्रिया में देशी पल्लवित पुष्पों को तहस-नहस करने का भी उपक्रम चला। हमारी समन्वयात्मक संस्कृति पर यह कुठाराघात था।

श्रद्धा और विवेक का आधार ही जब खिसक गया तो धर्म कैसे और कहां टिकता। जीवन के शाश्वत मूल्यों की निरंतर आहुति देकर अंधानुकरण ही हमारी प्रवृत्ति बन गई। इस विघटन से जैन समाज भी अछूता नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहा। धर्म का सच्चा अर्थ समझने और समझाने के लिए हमें समाज को नये रूप में ढालना होगा और गठन की क्रिया में नारी सदा से ही सिद्धहस्त रही है। सर्वप्रथम, सभी जैन तबके एक ही झण्डे के नीचे संगठित हो यह आवश्यक है। जब तक हम संप्रदायों में, फिरकों में बंटे हैं कोई कार्य स्तर नहीं पा सकता। सार्वजनीन एकता प्रथम ऐतिहासिक कदम होगा। महावीर भगवान का इससे महान स्मारक दूसरा नहीं हो सकता। इस असाधारण कार्य को फलीभूत करने के लिए महिलाओं पर भी बड़ा उत्तरदायित्व है। यह दायित्व पुरुषों से कम नहीं वरन् अधिक ही है। बच्चों और युवकों पर प्रभाव और संस्कार महिलाओं का ही अधिक होता है। यह जवाबदारी चार हिस्सों में से तीन हिस्से अर्थात् तीन चतुर्थांश महिलाओं पर है।

स्त्री के गुणों की गरिमा सभी जानते हैं। स्त्री का हृदय कोमल होता है। यह भावुक होती है। श्रद्धा का सरोवर होती है। समाज में जीवनरस का स्रोत स्त्री ही बहाती है। अगर वह श्रद्धालु नहीं होती तो सारे उत्सव-महोत्सव, पूजा-अर्चना, व्रत-वैकल्प कभी के नष्ट हो जाते और पीछे रहता शुष्क समाज। स्त्री त्याग, प्रेम, मांगल्य की प्रतिमूर्ति होती है। स्त्री, पुरुषों की जीवन प्रेरणा है। स्त्री के त्याग की महिमा से इतिहास भरा पड़ा है। स्त्री, विवाह के पूर्व माता-पिता व भाई-बहनों के प्रति, विवाह के पश्चात् पति के प्रति व प्रौढ़ावस्था में बच्चों के प्रति अपना प्रेम अर्पित करती है। स्त्री,पुरुषों के पराक्रम की स्फूर्ति है। इसके अलावा स्त्री की एक अनोखी भूमिका भी है: वह अपनी सन्तानों की शिक्षिका है। जो संस्कृति व संस्कारों की शिक्षा देती है। कीर्ति यानी अच्छी बातों की प्रसारक स्त्री होती है। संस्कृत में कहा है: **"नारिणी कीर्ति"**। इसी आधार पर नयी पीढ़ी को धर्म का नया मंत्र देने में स्त्री सक्षम है और उसे अपनी इस शक्ति का सदुपयोग करना चाहिए।

गुरु तभी पढ़ा सकता है जब वह स्वयं ज्ञानी हो। सम्यक् ज्ञान पाने के लिए पहले मन की खिड़कियां और दरवाजे खोलने होंगे, ताकि दुराग्रह और संकुचितता की दूषित हवा बाहर चली जाए, मन शुद्ध हो फिर एक-एक पाठ पढ़ना शुरू करना होगा।

पहला पाठ-सहिष्णुता। सर्व धर्म (जिसमें धर्मान्तर्गत पंथों का अंतर्भाव तो है ही) समानता को वह पहचाने, सभी धर्मों में उन शाश्वत तत्वों की पूजा है जो आदमी का आरंभिक उत्थान करते हैं। धर्म तो अंतिम सत्य तक पहुंचने का मार्ग है। वह साध्य नहीं, साधन है। कोई किसी भी मार्ग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से चले आखिर हम सब राही हैं। मंजिल की ओर आगे बढ़ने की चिन्ता हमने की नहीं,मार्ग के भले बुरे झगड़ों में ही हम बंधे रहे। काल आगे बढ़ता रहा, मनुष्य वहीं का वहीं रह गया। हम महिलाओं को चाहिए कि हम विशाल दृष्टिकोण रखते हुए आगे बढ़ें। नये और पुराने के बीच जो स्पष्ट रेखा है उसे हम मिटाकर नये और पुराने का सुन्दर, सुस्पष्ट समन्वय करना है।

घर-घर में विवेक की ज्योति जलाने का महान कार्य हम महिलाओं को ही करना है। हमारे सामर्थ्यंय व कर्तृत्व के बारे में किसी को भी शंका नहीं होनी चाहिए। नारी क्या कर सकती है उसका साक्षी इतिहास है। हमारी १६ सतियों के नाम आज भी दुहराए जाते हैं। वर्तमान युग में रानी पद्मिनी, अहिल्याबाई, झांसी की रानी, चांदबीबी, रजिया वेगम और रानी चैनम्मा की शौर्य-गाथा से इतिहास के पृष्ठ भरे पड़े हैं। ऋषभदेव भगवान के पुत्र बाहुवली को अहं के गज से उतरने के लिए "वीरा, म्हारा गज थकी उतरो" कहकर विनती करनेवाली ब्राह्मी, छत्रपति शिवाजी को शिक्षा देनेवाली जीजाबाई, महात्मा गांधी को विदेशगमन पर संयमित व शाकाहारी जीवन जीने की प्रेरणा देनेवाली माता आदि स्त्रीजाति के महान रत्न हैं। इजराइल जैसे पराक्रमी देश की महामत्री गोल्डा मावर, लंका की प्रधानमंत्री श्रीमती भंडार नायके व भारत जैसे विश्व के सबसे वड़े लोकतंत्र की प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरागांधी नारी की उसी महिमामय परम्परा की कड़ी है।

भारत में तो जीवन के सभी क्षेत्रों में नारियां आगे बढ़ रही हैं। लेकिन दुर्भाग्य से स्वयं को कमजोर समझने की हमारे मन की आदत नहीं गयी है। हमारी स्थिति पिछले कुछ काल से भेड़ों के समूह में रहनेवाले शेर की तरह है, जो अपने को पहचान नहीं सकता। हमें अपने गुणों का परिचय देना होगा। भारत में मुसलमान बहनों के बाद पिछडेपन में हमारा ही क्रम आता है। हाल ही पूना सम्मेलन में मुसलमान महिलाओं ने अपनी आवाज बुलन्द की है। हमारे समाज में बढ़ने के अवसर विद्यमान हैं केवल आवश्यकता है पहल करने की। हमारे अवरोध पुरुष नहीं, हमारे ही दकियानूसी विचार हैं। आइए, हम समाज की कमियों को समझें और उन्हें दूर करने के प्रयास में जुट जाएं। निराशा से भरे समाज को नई रोशनी प्रदान करें, युवा जोश के साथ उनमें होश भर दें। एकता का नारा बुलंद कर दें।

[—बंगाल चौकी, बसंत टाकीज रोड
अहमदनगर (महाराष्ट्र)]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विज्ञान और धर्म को एक दूसरे का दुश्मन न समझकर जीवन के बाह्य और आभ्यन्तरिक विकास के लिए अनुपूरक समझना होगा........

●●●

समन्वय का व्यावहारिक मार्ग

सौ० मीना साबद्रा

समन्वय से तात्पर्य क्या है ? झगड़ा-फसाद न करते हुए अन्य विकासशील तत्वों को ग्रहण करना या। आंख मूंदकर दूसरों का स्वामित्व स्वीकार कर लेना ? दूसरा अर्थ लिया तो आत्म-स्वातंत्र्य खोया ही समझिए। और आजादी को खोने का मतलब हुआ तानाशाही को बढ़ावा देना, जो किसी भी हालत में वांछनीय नहीं है। क्योंकि जिनके हाथों में धार्मिक, आर्थिक या राजनीतिक सत्ता की बागडोर है वे भला अपने स्वार्थों को और भी मजबूत बनाने वाले विचारों को लोगों पर लादने से क्यों बाज आयेंगे ? व्यक्ति के मुक्ति विकास पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही सम्पूर्ण स्वस्थ समाज का महल खड़ा हो सकता है। इसका मतलव यह नहीं कि व्यक्ति अपने मुक्त विकास के बहाने अन्य व्यक्ति पर अनुचित रोब डालकर अपना उल्लू साध लिया करे। अपने विकास के साथ ही साथ अन्य व्यक्ति का भी उचित विकास होता रहे, सम्यक् मार्ग ही समन्वय का व्यावहारिक पथ कहा जा सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति, समाज, धर्म, पंथादि में अवश्य ही विशिष्टतायुक्त स्वीकारणीय गुण होते ही है, इसे समझना होगा, मानना होगा। ऊपर से भले ही उन पंथों का स्वरूप अटपटा दीख पड़े। पर हमें सिर्फ ऊपरी आडम्वर ही को नहीं देखना है। उसके आंतरिक विकास पथ को देखना है। किसी पथ या मत. विचारधारा का सर्वांगीण विकसित रूप सम्भव भी नहीं है। क्योंकि हरएक की अपनी-अपनी मर्यादाएँ हैं। सीमाएँ हैं। दोषों की ओर माँ की ममता से ही देखना सीखना होगा। क्योंकि अन्ततोगत्वा प्रभाव हृदय के द्वार से ही पड़ता हैं,शुष्क नीरस काक-वुद्धि का कभी नहीं। इसीलिये तो जैनों का स्याद्वाद सिद्धांत समन्वय के लिए सुविख्यात है। जैसे हमें अपनी मर्यादाओं को पहचानना चाहिए वैसे ही अन्य व्यक्ति की मर्यादाओं की ठीक पहचान सहृदयता के साथ करने का तरीका सीखना होगा। तभी तो हम अपने आत्माभिमान को अक्षुण्ण रखते हुए उसका और भी विस्तार कर सकेंगे। और यह तो सभी जानते हैं कि 'आत्म-विस्तार' ही सुख की कुंजी है और 'आत्मसंकोच' दुख का सागर। तात्पर्य यह कि दुर्गुणों का वखान करने के वदले हम अपने गुणों को,दूसरों के गुणों से वढ़ाते जाय। इससे गुणों में वृद्धि होगी और आप से आप दुर्गुणों का उपेक्षा के द्वारा क्षय होगा।

शुष्क वौद्धिक विकास हमें तर्क-वितर्कों के जाल में उलझाकर रख देगा। अति तर्क हमें पागल भी वना सकता है। विज्ञान का सहारा लेकर हम सिर्फ प्रकृति के कार्य-कारण भाव को समझ सकेंगे। यह तो हमें सच्चा धर्म ही सिखायेगा कि जीने की कला के लिये इस कार्य-कारण भाव का कैसा उपयोग किया जाय और वह भी सरसता से। व्यक्ति-व्यक्ति का समन्वय इसी प्रकार हृदय के खुले द्वार से धर्म के द्वारा ही होगा। तभी व्यक्ति के व्यक्तित्व की सही पहचान हम कर सकेंगे। उसके विकास की सही दिशा को समझ कर उसे सही मोड़ दे पायेंगे। यह दायित्व हरएक माता-पिता, शिक्षक, आचार्य एवं नेता का है। व्यक्तित्व के बन्द डिव्वे को खोलकर उसके सार तत्व का समाज, राष्ट्र एवं सम्पूर्ण मानवजाति के लिए उपादेय वनाने का दायित्व उन पर है। अच्छे संस्कारों के 'केन ओपनर' द्वारा वे इसे कर सकते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह तो विचारकों को सोचना ही है कि चन्द्रमा पर पहुंचनेवाले भी तथा धार्मिक बाह्याचारों में लिप्त साधु-संन्यासी भी असंतोष की अग्नि में जल रहे हैं ? न इधर सुख दिखाई पड़ता है न उधर। जैसा पूरब वैसा पश्चिम। फिर जीवन की सही दिशा कौनसी है ? विज्ञान को बाह्य स्थूल जीवन के लिए खुले मन से स्वीकार कर धर्म को आंतरिक विकास के लिये आचरण में लाना ही जीवन में सन्तुलन स्थापित करेगा। विज्ञान और धर्म को एक दूसरे का दुश्मन न समझकर जीवन के बाह्य और आभ्यंतरिक विकास के लिए अनुपूरक समझना होगा। विज्ञान की सहायता से आज हम मनचाहे ढंग से पहनकर मनचाहे तरीके से सड़कों पर घूम जरूर सकते हैं, पर यह तो धर्म ही बतायेगा कि आपका इस प्रकार का मनचाहे तरीके से घूमना ठीक है या नहीं। यह तो एक उदाहरण हुआ। ऐसे अनेक उदाहरण 'रोजमर्रा' के जीवन से दिये जा सकते हैं। धर्म ही ऐसे समय पर आचरण द्वारा पड़ने वाले सही-गलत ढंग के प्रभाव की जानकारी प्रदान करता है। व्यक्ति को ठीक ढग से समाज में खड़ा करने के लायक बनाता है हमारे मनचाहे, मनमाने आचरण से किसी को बाधा न पहुंचे ऐसा ध्यान रखने की कला सिखाता है। विज्ञान हमें जमाने के साथ रखता है तो धर्म जमाने के साथ ठीक ढंग से कैसे और क्यों रहना चाहिए इसका व्यावहारिक मार्ग बताता है। जीवन का विकास विज्ञान और धर्म के उचित समन्वय में है। और मानव जीवन में संतुलन-बाह्य और आंतरिक में—स्थापित करने के लिये दोनों ही दृष्टिकोणों की कितनी आवश्यकता है इसे बताने की आवश्यकता नहीं।

समाज में रात-दिन बेचैन, अशांत करोड़पति भोगी भी दीख पड़ते हैं तो दूसरे छोर पर भगोड़े विरागी हवाई किले बनाते हुये देख पड़ते हैं। दोनों ही रास्ते व्यवहारिक सामाजिक के लिये एकदम गलत हैं। न तो दुनियां से भागने की आवश्यकता है, न पंचेन्द्रियों का गुलाम होने की। पंचेन्द्रियों का मालिक बनकर जीवन पर पूर्ण आस्था रखते हुए दुनियांदारी निभाने की आवश्यकता है। यह आस्था संकट में भी अटूट रहे इसलिये जरूरत है धर्म के द्वारा 'मैं कौन हूं' का असली स्वरूप समझने की। इसे मन-प्राण-चेतना से अनुभव करते ही आत्मविस्तार की प्रक्रिया आरम्भ होती है और हम औरों के प्रति सच्ची सहानुभूति रखने लगते हैं। हमारा आचरण भी अपने आप मानव मंगल के लिये तदनुकूल होने लगता है। और ऊँचे तत्वज्ञान की सिर्फ चर्चा मात्र से प्रत्यक्ष विशुद्ध आचरण ही हमारे लिए सदा वांछनीय चीज है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसी के साथ साथ हमें और विशेषरूप से हमारे बड़े-बूढ़ों को, धर्माचार्यों और नेताओं को इसका ध्यान रखना चाहिये कि सभी उम्र के लोगों से वे एक से आचरण की अपेक्षा न रखें। यह बात मानव मनोविज्ञान के विरुद्ध होगी। बालक को बालकोचित चेष्टाएँ ही करनी चाहिये, युवक को युवकोचित तथा वृद्ध को वृद्धोचित। वे बालक और युवक असमय ही वृद्ध बनाने का प्रयत्न न करें। जिस उम्र में जो बात स्वाभाविक है उसे होने देना ही उचित विकास की दिशा है। देखना इतना ही है कि उसके आचरण से किसी को हानि न पहुंचे। वृद्धोचित आचरण को युवकों पर धर्म के नाम पर थोपने की कोशिश हर्गिज न करें। न उन पर अपना आतंक फैलाकर रखें। हरएक का स्वाभाविक विकास सरल, सहज, सरस रीति से होने दें। कहने का मतलब यह है कि धर्माचार्य आज के युग की सामयिक आवश्यकताओं को समझें, विज्ञान के महत्व को समझें तथा धर्म को किसी अन्य लोक की अलौकिक चीज समझकर हाथी-दाँत की मीनारों में वन्द न करके व्यावहारिक सुलभ आचरणीय धरातल पर ले आएँ। धर्म के ऊँचे सिद्धांतों का समयोचित आचरण के साथ समन्वय स्थापित करें। इसी से सभी लोग अपने जीवन में ढालकर विकास की दशा की, मानवमंगल की जययात्रा के लिये प्रयाण कर सकेंगे। समन्वय का यही व्यावहारिक मार्ग है।

[—जामनेर, जिला-जलगांव (महाराष्ट्र)]

फूट मीठा होता है :—

महाराज गंगासिंह जी के समय में एक बड़ा अंग्रेज अधिकारी बीकानेर घूमने के लिए आया। वहां उन्हें बीकानेर का मतीरा (तरबूज) खिलाया गया। अंग्रेज साहब मतीरा खाकर बहुत खुश हुआ और बोला—"तुम्हारा इण्डिया में फ्रूट बड़ा मीठा होता है।"

एक चारण कवि पास में ही खड़ा था, उसने धीमे से चुटकी ली—"इण्डिया में फूट (कलह) मीठा नहीं होता तो आप यहां कैसे आते ?"

—'पहली किरण'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कमजोर और असंगठित समाज अधिक दिन जीवित नहीं रह सकता "असंगठित जातियां, और समाज आज विश्व के मानचित्र से नामशेष होगई हैं।"

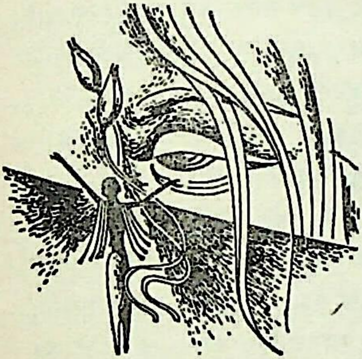

धर्म और समाज में संगठन से उन्नति संभव

● भंवर लाल पोल्याका

हमारे दैनिक जीवन में हमें कई प्रकार के अनुभव होते हैं। उनमें से एक अनुभव बड़े महत्व का है और वह है संगठन और एकता का। हमारे जीवन में हमें बार-बार अनुभव होता है कि बहुत से कार्य ऐसे हैं जिनकी सफलता एकता और संगठन में ही निहित है, एकाकी यदि कोई चाहे तो उन कार्यों को नहीं कर सकता। कुटुम्ब का कार्य भी तभी चलता है और वह कुटुम्ब ही सुख का अनुभव करता है जिसका प्रत्येक सदस्य दूसरे सदस्यों से सहयोग करता है। कोई उनमें कमाता है तो कोई परिवार के लिये भोजन बनाता है, कोई पानी की व्यवस्था करता है तो कोई कपड़े की। लेकिन उनका यह सारा परिवार के लिये होता है। बिना इस प्रकार की भावना के परिवार का, कुटुम्ब का कार्य एक दिन नहीं चल सकता।

जो बात ऊपर कुटुम्ब के लिये कही गई है वही बात समाज के लिये भी लागू होती है। समाज भी एक बड़ा परिवार है और समाज का प्रत्येक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यक्ति उसका सदस्य। समाज का निर्माण ही व्यक्तियों से होता है। व्यक्ति ही समष्टि का निर्माता है। व्यक्तित्वहीन समाज हो ही नहीं सकता। अतः व्यक्ति की उन्नति समाज की उन्नति और समाज की उन्नति व्यक्ति की उन्नति है। शरीर में जहां पूरे शरीर का महत्व है वहां उसके प्रत्येक अंग का भी महत्व है। शरीर का जो भी अंग विकृत होगा, शरीर उतने ही अंशों में विकृत माना जायगा। उसी प्रकार समाज के व्यक्ति जितने सुधरे होंगे, चरित्र की दृष्टि से, ज्ञान की दृष्टि से, अर्थ की दृष्टि से जितने आगे बढ़े होंगे समाज उतना ही उन्नत एवं अन्य समाजों की दृष्टि में आदर का पात्र होगा। यहां ही मानव जीवन का महत्व स्थापित होता हैं।

मानव इसलिए मानव कहलाता है कि उसमें मनन करने की विशेषता होती है। उसे विकसित मस्तिष्क प्रकृति द्वारा प्राप्त हुआ है। उसकी यही एक विशेषता उसे जगत् के अन्य जीवों से उच्चत्व प्रदान करती है। इसीलिए मानव जीवन को देवत्व से भी दुर्लभ माना गया है। पुराणों में एक आख्यान आता है। भगवान् ऋषभ का जब निर्वाण हुआ तो देवों और मानवों में इस बात पर झगड़ा हुआ कि उनके पार्थिव शरीर को कौन उठावे। देव अपने को श्रेष्ठ बतलाते थे और मनुष्य अपने को। मनुष्यों की दलील थी कि उनका जीवन कर्तव्यमय है। देवता केवल बाह्यसुख का ही अनुभव कर सकते हैं, मुक्ति का पुरुषार्थ नहीं कर सकते हैं जबकि मानव सुख और दुःख दोनों का अनुभव करते हैं और अपने पुरुषार्थ के वल पर जीव के चरम लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति कर सकते हैं। अतः मानव देव से श्रेष्ठ है। मानव की यह दलील मानी गई और आदि तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ के पार्थिव शरीर को उठाने का अधिकार उसे मिला। तुलसीदास जी ने रामायण में इस बात को स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है :—

"नर समान नहिं कौनहु देही,
सुर नर मुनि सब याचत एही।"

किसी वस्तु का बाजार में मूल्य इस पर निर्भर करता है कि उसमें उसके गुणों की मात्रा कितनी है। शुद्ध स्वर्ण का मूल्य अधिक होता है। ज्यों-ज्यों स्वर्णत्व की मात्रा उसमें कम होती जाती है त्यों-त्यों उसका मूल्य भी बाजार में कम होता जाता है। इसके लिए उसे कसौटी पर कसा जाता है। संसार के अन्य पदार्थों के सम्बन्ध में भी यह बात उतनी ही सच है जितनी कि स्वर्ण के सम्बन्ध में। मानव का मूल्य भी इस पर निर्भर करता है कि उसमें मानवत्व कितना है। पूर्ण मानव महात्मा होता है जिसका सब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्मान, आदर और पूजा करते हैं। ज्यों ज्यों मानव में मानवत्व की कमी होती जाती है, उसकी प्रतिष्ठा भी उतनी ही कम हो जाती है। सच्चा मानवत्व यह है कि वह अपने प्रति एवं दूसरों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करे। यदि हम चाहते हैं कि दूसरे हमारे प्रति मनुष्यत्व का व्यवहार करें तो हमारे लिये यह आवश्यक होगा कि हम दूसरों के प्रति मनुष्यत्व का व्यवहार करें। जिस प्रकार कूऐ में झांक कर हम बोलें तो उसमें से हमारी हो बोली प्रतिध्वनित होगी, यदि हम गाली का शब्द उच्चारण करेंगे तो वही गाली प्रतिध्वनित होकर हमें सुनाई देगी, ठीक यही बात हमारे व्यवहार के सम्बन्ध में है।

सच्चा मनुष्य यह है कि दूसरों के प्रति हमारा व्यवहार सहानुभूतिपूर्ण हो। हम दूसरों के दुःख में दुःखी और दूसरों के सुख में अपने को सुखी अनुभव करें। यह बात अनुभव तक ही केवल सीमित न हो, अपितु, हमारा आचरण भी ऐसा हो जो दूसरों को पीड़ाकारक न हो तथा दूसरों की पीड़ा को दूर करने में हम सदा यथाशक्ति तत्पर रहें। जब यह बात हमारे जीवन में उतरेगी तब एक प्रकार की कोमलता हममें आवेगी। इस कोमलता के हमारे जीवन में उतरने पर प्रत्येक प्राणी हमारी ओर खिंचता चला आवेगा। उसको हमारे से किसी भी प्रकार का कोई भय नहीं होगा। यह आचरण ही हमारे जीवन में सम्यग्दर्शन लावेगा जो मुक्ति महल की पहली सीढ़ी है।

सम्यक् दर्शन के आठ अंग भगवान महावीर ने बताये हैं और कहा है कि उनमें से एक भी अंग की कमी होने पर सम्यकत्व जीवन में नहीं उतरता। उन अंगों में एक महत्वपूर्ण अंग है वात्सल्य। अपने जाति भाइयों के प्रति, सहधर्मियों के प्रति गोवत्सवत् प्रीति करना ही सच्चा वात्सल्य है। कहने लिखने की आवश्यकता नहीं कि सम्यकत्व के इस महत्वपूर्ण अंग की ओर हमारा कतई ध्यान नहीं है। परिणाम सामने है। आज हममें एकता नहीं के बराबर है। न केवल दिगम्बर, श्वेताम्बर, तेरापंथी आपस में लड़ते हैं। आपसी वैमनस्य का यह दानव जितना खुलकर हमारी समाज में नृत्य कर रहा है उतना शायद देश के किसी भी अन्य समाज में नहीं। स्थिति इतनी शोचनीय और दयनीय है कि छोटे-छोटे गांव जहां केवल दो-तीन की संख्या में हीं जैनों के घर है वहां भी पार्टियां बन रही है। कहीं तो वे मंदिर जो हमारे पूजास्थान है और जहां से हमें धर्मतत्व लेकर आना चाहिए, आपसी फूट और लड़ाई के अखाड़े बने हुए है। कहीं हमारी आम्नाय हमें आपस में लड़ाती है तो कहीं हमारा सम्प्रदाय मोह। अनेकता के इस गर्त में हम इतने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

डूबे हैं कि कभी कभी तो ऐसा मालूम होता है कि शायद ही कभी हम इससे बाहर निकल सकें। समाज का हित चाहने वाले विचारक इस स्थिति से आज बड़े चिन्तित हैं।

इस वैमनस्य, कलह अथवा फूट का कारण सहसा समझ में नहीं आ सकता। सभी अपने आपको भगवान् महावीर का अनुयायी घोषित करते हैं लेकिन भगवान् महावीर द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर हम कितना चलते हैं? भगवान् महावीर ने कभी भी अपने उपदेशों में संप्रदाय-वाद और जातिवाद को प्रश्रय नहीं दिया। जीवन भर वे इस बुराई को हटाने में लगे रहे। उनके उपदेश सार्वजनीन होते थे और जो कुछ वे कहते थे उसे अपने जीवन में करके दिखाते थे। उनके सच्चे अनुयायी तो वे ही हो सकते हैं जो उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चले। दुनियां की फूट, विचार-भेद को मिटाने के लिए, उनका समन्वय करने के लिये ही उन्होंने अनेकान्त के मार्ग का प्रवर्तन किया था। अनेकान्त कभी दूसरों को गलत नहीं कहता। वह उनके दृष्टि-कोण को समझकर उसमें निहित सच्चाई को ग्रहण करता है। लेकिन आज हमने इस अनेकान्त का भी उलटा प्रयोग प्रारम्भ कर दिया है। जो कुछ हम करें सो सही और जो दूसरे करें वह गलत।

आज संसार में एक प्रकार की दौड़ चल रही है। प्रत्येक जाति इस दौड़ में सबसे आगे निकलना चाह रही है और दूसरी जातियों को पीछे ढकेलना। अगर इस धक्कापेली में हमें अपने आपको सुरक्षित रखना है तो हमें इसके लिये घोरतम प्रयत्न करना होगा और वह प्रयत्न हमारा तब ही सफल हो सकेगा जबकि हम संगठित हों। एक संस्कृत कवि ने क्या ही अच्छा कहा है :—

"न वै भिन्ना जातु- वरन्तीह धर्मं,
न वै सुखं प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः।
न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति,
न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति॥"

अर्थात्—असंगठित लोगों के जीवन में धर्म नहीं उतर सकता और न वे कभी जीवन में सुखी हो सकते हैं, किसी प्रकार का गौरव भी उन्हें प्राप्त नहीं हो सकता और न जीवन में उन्हें कभी शान्ति मिल सकती है।

संगठित समाज ही शक्तिशाली हो सकता है। अनन्त परमाणुओं ने मिलकर ही इस सृष्टि का निर्माण किया है। कई ईंटें मिलकर महल खड़ा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर देती है और छोटे-छोटें तन्तु मिलकर ही कपड़े का निर्माण करते हैं। वृन्द ने कहा है—

बहुत निबल मिल बल करैं, करैं जु चाहे सोय।
तिनकन की रसरी करी, करी, निबंधन होय।।

कमजोर और असंगठित समाज कभी जीवित नहीं रह सकता। प्रकृति भी उसकी सहायता करती है जो स्वयं अपनी सहायता करता है, अपने पैरों पर खड़ा होता है। संसार के इतिहास में ऐसी जातियां आज नाम शेष ही रह गयी है जो असंगठित थी। विश्व के मानचित्र पर उनका कहीं पता नहीं। अतः हमें जीवित रहने के लिये दो बातें करनी होंगी। व्यक्तिगत जीवन में हम धर्म उतारे और सामाजिक जीवन में हम संगठित हों। जैसा कि मैंने पहले भी कहा है ये दो बातें पृथक् पृथक् न होकर एक ही हैं क्योंकि जो साम्प्रदायिक होगा यह धर्मात्मा नहीं होगा और धर्मात्मा साम्प्रदायिक नहीं हो सकता।

सामाजिक एकता के प्रयत्न पहले भी हुए हैं और अब भी चालू हैं किन्तु वे अधिक फलदायी नहीं हुए इसका एक कारण हमारी दृष्टि में यह रहा कि जब भी हम इस हेतु एक मंच पर बैठे साम्प्रदायिकता का शैतान हमारे मन के एक कोने में सदा ही दुबका रहा। हमने अपने आपको दिगम्बर, श्वेताम्बर और तेरापंथी पहले समझा और जैन बाद में। जब भी कोई इस प्रकार की बात आई, हमारे मन में छुपा शैतान बोल उठा - ऐसा नहीं हो सकता। एक छोटा सा उदाहरण क्षमावणी कब मनाई जावे ? इस प्रश्न पर हम कभी भी एकमत नहीं हुए क्योंकि पक्ष व्यामोह का शैतान तत्काल ही हमारे सामने आ खड़ा होता है। प्रत्यक्ष में क्षमावाणी का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। वर्तमान में, कौन नहीं जानता, कि वह केवल दिखावा मात्र रह गया है। इस दिखावे को, बाह्याचार को ही महत्व देने की सबसे बड़ी भूल आज तक हम करते आए हैं जबकि मायाचार का हमारे यहां प्रबल विरोध किया गया है। उसे एक शल्य माना है जो जीवन में धर्म तत्व को आने नहीं देती। एक ओर तो हमारे आचार्यों ने गुणों को महत्व दिया उन्होंने चीख कर कहा—

"ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो वा जिनो वा नमस्तस्मै,"
"बुद्धं वा वर्धमानं, शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा।"

अथवा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर, ब्रह्मा, या उसको स्वाधीन कहें" और एक और दूसरे के सम्प्रदाय के मंदिर में घुसते ही हमारा सम्यकत्व समाप्त होने लगता है। सच बात यह है कि कुछ को छोड़ अधिकांश में हम अब भी पक्षपात के भूत से ग्रस्त हैं, बातें हम बड़ी बड़ी बनाते हैं, मंच पर लम्बे लम्बे भाषण झाड़ते हैं, पत्रों में लम्बे लम्बे लेख लिखते हैं किन्तु समय पर हम ही लड़ने में भी सबसे आगे रहते हैं। यदि यही स्थिति रही तो किसी भी सम्प्रदाय का इससे भला होनेवाला तो निश्चय ही नहीं है। बुरा भले ही हो जावे। संक्षेप में यदि हम चाहते हैं कि हमारी इस जैन जाति का कल्याण हो, दुनियां में जैनधर्म का प्रचार और प्रसार हो तो हमें सबसे पहले अपने आपको केवल जैन समझना होगा, आपस में प्रीतिभाव और भ्रातृभाव बढ़ाना होगा, दूसरों के मत का आदर करना हमें सीखना होगा, अपना दृष्टिकोण खण्डनात्मक से मण्डनात्मक और समन्वयात्मक बनाना होगा, विचारों में उदारता लानी होगी, अपने हित के साथ साथ दूसरों का हित चिन्तन भी हमें करना होगा, समाज की शक्तियों का विकास इस तरह करना होगा कि वे विध्वंसात्मक न होकर निर्माणकारी हों। तभी हमारा कल्याण होगा और हम आगे बढ़ सकेंगे।

—(जोशी भवन के सामने मणिहारों का रास्ता
जयपुर--३। राज०।)

धर्म अपने आप में अखण्ड है। प्राणिमात्र की एकता और अखण्डता की साधना ही उसका प्रयोजन है। किन्तु आज वह जैन, वैष्णव, वैदिक, बौद्ध, इस्लाम, क्रिश्चियन और पारसी, पता नहीं कितने टुकड़ों में बाँट दिया गया है। मैं चाहता हूं कि धर्म इन सब व्यवछेदक रेखाओं से मुक्त हो।

—आचार्य श्री तुलसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आज के युग की एक अत्यन्त आवश्यकता

दो पीढ़ियों का समन्वय

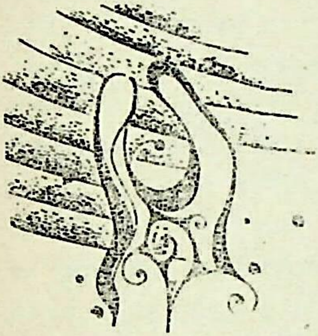

—रघुवीर सी० शर्मा

आजादी के पूर्व देशवासियों ने कल्पना स्वरूप मधुर स्वप्न को संजोया था, किन्तु वे स्वप्न केवल स्वप्न ही बनकर रह गये। आजादी के बाद आजादी का उपयोग केवल चन्द लोगों के हाथों में होने लगा, जिसके फलस्वरूप देश में जहां उन्नति होनी थीं वहां वेरोजगारी बढ़ी। कुछ स्वार्थियों के द्वारा सामाजिक क्षेत्रों में हस्तक्षेप किया गया, जिससे समाज में भी फूट के अंकुर पनपे। इस समय हमें कोई भी ऐसा समाज नजर नहीं आ रहा है जहां परस्पर एकता का विगुल वज रहा हो। समझ में नहीं आ रहा है कि यह कैसा अद्‌भुत जमाना है जहां पिता पुत्र का नहीं, पुत्र पिता का नहीं, माता पुत्री की नहीं, पुत्री माता की नहीं, भाई वहिन की नहीं, बहिन भाई की नहीं।

आज हमारे सम्मुख "युवाशक्ति का समन्वय में योगदान" का प्रश्न सदैव प्रश्नचिन्ह बने हुए रहते हैं, किन्तु उनका समाधान कम होता है। आज समाज फूट के दलदल में बिखरा हुआ है उसे कौन उबारे। बुजुर्ग शासन व समाज दोनों पर हावी है तथा भविष्य में भी रहना चाहते हैं। वे युवा वर्ग को केवल उपदेशों के अतिरिक्त कुछ भी देना नहीं चाहते हैं, ऐसी स्थिति में समन्वय कैसा ? यह विचारणीय प्रश्न है। यदि हमें समाज को एकता के सूत्र में पिरोना है तो पहले बुजुर्ग का समन्वय करना आवश्यक होगा। आज के इस भौतिक युग में युवा पीढ़ी केवल उपदेश, आश्वासन नहीं चाहती। उसे एक दिशा चाहिए, कार्यक्षेत्र चाहिए, योग्यता के आधार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर समाज में स्थान चाहिए। समाज द्वारा युवापीढ़ी की उपेक्षा का ही परिणाम है कि देश में बढ़ती हुई अराजकता, नक्सलपंथी जैसी संस्थाओं का प्रादुर्भाव तथा हिंसात्मक प्रवृत्तियों का प्रोत्साहनात्मक रूप उभरा। यदि ऐसी स्थिति में यह हिंसा-प्रिय हो जाती है तो उसमें उसका क्या दोष है? जब समाज की पुरानी पीढ़ी युवकों के उन्नति के रास्ते में अवरोध पैदा करती है तो युवा आक्रोश स्वाभाविक ही है। समय की तेज गति से जो दूर पड़ गये हैं—वे अपनी भावी सन्तान के लिए प्रेरणास्रोत तो बन ही नहीं सकते अपितु स्वयं उनको पहले से ही दूर करने की कोशिश करते हैं। ऐसा कौन युवक है जो पाषाण की तरह कठोर बनकर अपने माता-पिता तथा बुजुर्गों से दूर रहना चाहे। परन्तु कुछ मजबूरियां उसको दूर कर रही हैं। युवाओं में रचनात्मक कार्य करने के लिए तड़प है, किन्तु उस पिपासा को कौन बुझाए। बुजुर्ग स्वयं आपसी कलह से तो निवृत्त हो ही नहीं पाते, पर अपनी हुकूमत बनाए रखना चाहते हैं। यह समझ से बाहर है कि आखिर वे युवकों से क्या चाहते हैं। बदलते परिवेश में यदि समाज आपसी कलह से मुक्त नहीं हुआ तो क्या गति होगी? इस समय हर समाज एवं हर क्षेत्र में समन्वय की अपेक्षा है तथा जो समन्वय के मार्ग में बाधक तत्व है उनका निवारण कर उनको एकता के धागे में पिरोया जाना है।

आज विचारों का युग है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार प्रस्तुत करने का अधिकार है। किन्तु विचारों को लेकर जो यह विषमता की रेखा पनप रही है वह हमारे लिए घातक है। बुजुर्ग तथा युवावर्ग में संघर्ष का युग है। वर्तमान में कोई व्यक्ति दूसरे को बड़ा मानने के लिए तैयार नहीं है। तथा किसी का हस्तक्षेप भी उन्हें सहन नहीं। किन्तु सहअस्तित्व का सिद्धान्त विरोधियों में समन्वय करवा सकता है, पर यह तभी सम्भव है जब मनुष्य स्वयं को दर्प के बोझ से हल्का करे। समय एक क्रांति के दौर से गुजर रहा है। क्रांति का सूत्रधार है युवावर्ग। क्रांति की प्रेरक शक्ति है आर्थिक विषमता, असमानता, अन्याय, उन्नति के मार्ग में अवरोध। एक ओर जहां अर्थ का अनावश्यक दुरुपयोग हो रहा है तथा दूसरी ओर आवश्यकताओं की पूर्ति का अभाव। जहां सत्य की उपेक्षा तथा असत्य की प्रबलता हो, इस स्थिति में युवक के मन में विद्रोह की भावना प्रज्वलित नहीं होगी तो क्या होगी? आखिर युवकों को भी तो अपना अस्तित्व कायम रखना है यदि वह अनावश्यक तत्वों के प्रति विरोध नहीं करे तो समाज में और ज्यादा अराजकता फैल जायेगी। समाज के लोग युवा वर्ग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को प्रोत्साहन दें जिससे वह उनके निकट रहे। समाज का निर्माता युवक ही है, यदि समाज उनकी आशाओं पर पानी फेरता है तो कदापि उसका शुभचिन्तक नहीं रह सकता। समाज आज उनकी अपेक्षित आवश्यकताओं की ओर ध्यान दे :—

१—समाज युवकों को बेरोजगारी से उबारे।

२—समाज युवकों को उनकी योग्यता के अनुसार स्थान दिलाये।

३—समाज युवकों को कोरे आश्वासन ही नहीं दे, अपितु रचनात्मक कार्य में सहयोगी बनाये।

४—समाज मूल नीतियों में परिवर्तन कर युवकों को सामाजिक सन्तोष प्रदान करे।

५—समाज युवको को सामाजिक उत्तरदायित्व सोंपे।

६—समाज युवको की उन्नति में बाधक न बनें।

७—समाज के बुजुर्ग लोग युवकों को अपने से पृथक् नहीं माने।

यदि समाज इन अपेक्षाओ की ओर अपना ध्यान आकृष्ट करता है तो समाज में जो परस्पर खाइयां पड़ी हुई हैं, एकता का अभाव है उसे युवावर्ग सहज की अपनी अदम्य शक्ति से एकता के धागे में पिरो सकता है। युवकों में जो अनन्त शक्ति है समाज को चाहिए कि वे उनकी शक्ति का रचनात्मक कार्यों में सहयोग लें। आज जो समन्वय की अपेक्षा है, वह युवकों से सहज ही हल हो सकती है। युवाशक्ति का समन्वय की दिशा में उपयोग नहीं किया गया तो मुख्यतः ये तीन परिणाम समाज के सम्मुख प्रश्नचिन्ह बन कर रहेंगे, जिसका वर्तमान में तो क्या, भविष्य में भी समाधान नहीं हो सकेगा और युवा-पीढ़ी की रचनात्मक शक्ति को सदैव के लिए हम खो बैठेंगे। वे तीन परिणाम है :—

१—समाज में अराजकता की तीव्रता।

२—समाज तथा धर्म के प्रति अनास्था।

३—बुजुर्गों की उपेक्षा।

समाज को सुदृढ़ बनाने में युवकों का प्रमुख स्थान होता है। उसकी संगठित शक्ति समाज को अनेक महत्वपूर्ण, उपलब्धियां दे सकती है। संक्षिप्त में उपलब्धियां ये हो सकती है :—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१—धर्म और समाज में आस्था :—

इस भौतिक युग में प्रत्येक युवक उसके वातावरण से प्रभावित है। उसी के कारण वह प्रतिदिन धर्म तथा समाज से दूर होता जा रहा है। उसकी इन दोनों में बढ़ती अनास्था हमारे लिए घातक सिद्ध हो सकती है। युवावर्ग संगठित होकर समन्वय की दिशा में कार्य करता है तो सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि यह होगी कि वह स्वयं इस भौतिक वातावरण से बचता हुआ अपने युवक साथियों को भी धर्म और समाज के निकट लायेगा। जिसकी आज अपेक्षा भी है। जब युवक धर्म तथा समाज के वातावरण में आएगा तब सहज ही मजबूत बनेगा।

२—अनुशासनमय समाज :-

आज प्रत्येक समाज अनुशासन विहीन बनता जा रहा है, उसी का परिणाम है कि हम जहां दृष्टिपात करें प्रत्येक समाज छिन्न-भिन्न नजर आ रहा है। जब समाज में ही अनुशासन नहीं होगा तो उसमें जी रहे लोगों को वह क्या देगा ? अपेक्षा है अनुशासन की। अनुशासन के अभाव में युवा-पीढ़ी उच्छृंखल बनती जा रही है, जिसका हम साक्षात् कर ही रहे हैं। युवा पीढ़ी धर्म और समाज के निकट आएगी तब सहजतया वह अनुशासन-बद्ध होगी, जब वह अनुशासन बद्ध होगी तो उसमें इतनी समता है कि वह समाज को भी एक आदर्श समाज बनाने के लिए अनुशासन को प्रमुखता देवें। उस प्रमुखता का परिणाम होगा कि समाज सुदृढ़ बनेगा और आज की युवा-पीढ़ी जो उच्छृंखल बन रही है बनती जा रही है, वह उससे सदैव के लिए विमुख बन जाएगी।

३—स्वस्थ समाज का निर्माण :—

जो अनुशासनबद्ध समाज होगा उसका विकास निरन्तर होता जाएगा। आज प्रत्येक समाज में अनेक बुराइयां, कुरीतियां व्याप्त हैं तथा उससे सब आक्रांत है। आज उनका शुद्धीकरण नहीं हुआ तो समाज केवल जड़ बनकर रह जाएगा। बुजुर्ग वर्ग जिस समाज में पलता आ रहा है, वह उसी को योंही रखना चाहता है, किन्तु आज भी युवा पीढ़ी उसमें परिवर्तन की अपेक्षा समझती है। युवापीढ़ी समाज के सर्वांगीण विकास के लिए तत्पर है, उसकी तत्परता समाज को एक नई चेतना, नई दिशा देगी। जिससे मुरझाता हुआ समाज पुनः खिल उठेगा।

४—समर्पित एवं शिक्षित समाज :—

जिस समाज का वातावरण स्वस्थ रहता है, उसमें कभी बुराइयों का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रादुर्भाव न हो जाए इसके लिए समाज के लोगों में एकता एवं समर्पण की आवश्यकता होती है, बिना समर्पण एवं एकता के समाज फलीभूत नहीं हो सकती है। आज की युवा पीढ़ी में समाज में एकता वनाए रखने के साथ-साथ उसमें समाज के प्रति समर्पण की भावना है। समर्पण की भावना समान शक्तिशाली वनने के लिए जरूरी है।

५—बुजुर्ग-वर्ग का सम्मान :—

आज का समाज दो भागों में विभाजित है। बुजुर्ग वर्ग तथा युवा वर्ग। इन दोनों में प्रतिदिन संघर्ष बढ़ रहा है। पुरातन पीढ़ी के लिए उसके मन में अव आदरभाव नहीं है, जो पहले था। वह पुरानी पीढ़ी की माया से मुक्त होना चाहता है। उसके लिए पुराने संस्कार कष्टप्रद है। प्राचीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण उसके लिए असुविधाजनक है। वह नये वातावरण में जीना चाहता है। यदि बुजुर्ग-वर्ग समय की परिस्थिति को देखते हुए समाज में युगानुकूल परिवर्तन करेगा तो युवा पीढ़ी उसका हृदय से सम्मान करेगी और उसे वही पुरातन आदर सत्कार देगी। क्योंकि उनके दिल में आदर का भाव है।

६—सुशिक्षित एवं सुसंस्कारी पीढ़ी का निर्माण :—

युवा पीढ़ी जव धर्म तथा समाज के निकट आयेगी, अनुशासनवद्ध होगी तव सहज ही उसकी भावी सन्तान सुशिक्षित एवं सुसंस्कारी वनेगी। युवा पीढ़ी नैतिकता के धरातल पर जीना चाहती है। जव पिता नैतिक होगा तो वह अपनी सन्तान को भी वैसा ही वनाना चाहेगा। सुसंस्कारी एवं शिक्षित भावी पीढ़ी समाज के सर्वांगीण विकास में अवश्य ही उपयोगी होगी तथा युवा पीढ़ी से हमें अनेक महत्वपूर्ण उपलब्धियां प्राप्त होंगी।

मुझे विश्वास है कि युवा पीढ़ी की शक्ति समन्वय की दिशा में महत्वपूर्ण होगी और वह समाज की एकता वनाये रखने के लिए अपनी शक्ति को हर समय प्रस्तुत करने के लिए तैयार रहेगी। उसकी शक्ति समाज का तथा स्वयं का सर्वांगीण विकास करेगी।

—[अ० भा० तेरापंथ युवक परिषद्
लाडनूं (नागोर-राजस्थान)]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समन्वयवादी उपादेय : स्याद्वाद–अनेकान्तवाद

● श्री रंजन सूरिदेव

अनेकान्तवादी जैन धर्म वस्तुतः जनधर्म है। इस स्याद्वादी धर्म के अनेकान्तवाद में मानवता का जैसा मूल्यांकन किया गया है, वैसा अन्यत्र कदाचित नहीं !....

आर्हत भावना के अनुसार, किसी भी तत्त्व की अवाच्यता या अनिर्वाच्यता के रूप में एकान्त मान्यता तर्कसंगत नहीं है। जो तत्त्व अनिर्वचनीय है, उसके प्रतिपादन में पोथियों का पहाड़ फिर क्यों खड़ा किया जाता है ? एकान्ततः अनिर्वचनीय बोध के लिए वाणी की बरबादी क्यों की जाती है ? इसलिए,तत्त्व को 'एकान्त अनिर्वचनीय' न कहकर 'कथंचित् अनिर्वचनीय' कहना अधिक तर्कसंगत होगा। क्योंकि, सत्त्व और असत्त्व, भाव और अभाव, विधि और प्रतिषेध तथा एक और अनेक-रूप तत्त्व का एक समय में, एक साथ प्रतिपादन शब्दशक्ति से परे है, इसलिए तत्त्व एकान्त अनिर्वचनीय न होकर वचनीय और अनिर्वचनीय (स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति) के बीच की वस्तु है, ऐसा मानना अतार्किक नहीं होगा, यदि विधि-निषेध, अर्थात् अस्ति-नास्ति की यह परिकल्पना विरोधात्मक न हो।

यहां यह स्पष्ट जानलेना चाहिए कि स्याद्वाद वेदान्तियों का अनिर्वचनीयतावाद नहीं है। वेदान्त-दृष्टि एकान्त-रूप होने के कारण वह 'स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति' की परिकल्पना को अस्वीकार करती है। किन्तु, स्याद्वाद के कथंचित् अनिर्वचनीयतावाद में अस्तित्व-नास्तित्व आदि सप्तभंगी-न्याय की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रत्यक्ष अवस्थिति पाई जाती है। तत्त्व के अस्ति-नास्ति-रूप आदि धर्मों के एक साथ कहने की असमर्थता के कारण ही उसे 'कथंचित् अनिर्वचनीय' कहा गया है।

'स्यात्' शब्द का अर्थ 'शायद' करके स्याद्वाद को सन्देहवाद समझना निरा सन्देह ही है। वस्तुतः स्याद्वाद का 'स्यात्' शब्द कथंचित् (किसी दृष्टि से) अर्थ का बोधक है। 'वाद' शब्द का तात्पर्य कथन से है। इसका भाव यह है तत्त्व किसी दृष्टि से इसप्रकार का है,किसी दृष्टि से दूसरे प्रकारका है। इसतरह तत्त्व के अनेक धर्म गुणों को अपनी दृष्टि में गौण बनाते हुए उसके गुण-विशेष की प्रमुखता का प्रतिपादन करना 'स्याद्वाद' है। स्पष्ट यह कि 'स्यात्' शब्द का अर्थ 'शायद' नहीं, वरन् तत्त्व की असलियत को समझने का सुनिश्चित और सुलझा हुआ एक दृष्टिकोण है।

तत्त्व के स्वरूप-चिन्तन के समय यह नहीं भूलना चाहिए कि समन्वय-कर्त्री तथा पारस्परिक मैत्री-मर्यादा को कायम रखने वाली दृष्टि से ही तत्त्व का स्वरूप सम्यक्तया हृदयग्राही हो सकता है। यह स्याद्वाद मानव के नित्य व्यवहार की वस्तु है। इसकी उपादेयता स्वीकार किये बिना मानव का लोक-व्यवहार एक क्षण भी नहीं चल सकता। लोक-व्यवहार में यह देखा जाता है कि एक ही व्यक्ति अपने पिता की दृष्टि से पुत्र, भानजे की दृष्टि से पिता आदि कहलाता है। स्पष्ट है कि पुत्रत्व, मातृत्व, पितृत्व आदि विशेषताएँ पृथक्-पृथक् हैं, किन्तु उनका एक व्यक्ति में भिन्न दृष्टियों की अपेक्षा बिना विरोध के सुन्दर 'समन्वय' पाया जाता है। इसी प्रकार तत्त्व के विषय में भी सापेक्षता की दृष्टि से अविरोधिता या समन्वय पाया जाता है। यहां यह उल्लेख करना असमीचीन नहीं होगा कि प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टाइन ने अपने 'सापेक्षतावाद' सिद्धान्त द्वारा स्याद्वाद का ही समर्थन किया है। तो, उक्त समन्वयता के समायोग के कारण ही स्याद्वाद, समन्वयवाद की एक अन्यतर संज्ञा से भी अभिहित होता है।

निष्कर्ष यह कि स्याद्वाद द्वारा तत्त्व के यथार्थ रूप को समझा जा सकता है। यद्यपि स्याद्वाद मिथ्या एकान्तों का समूह है, तथापि उससे सत्यता का सम्यक्तया उद्‌मावन सम्भव है; क्योंकि उसमें 'ही' का दुराग्रह न होकर 'भी' का सत्याग्रह रहता है। स्याद्वाद-शैली से लौकिक लाभ यह है कि अन्य व्यक्ति या धर्म या तत्त्व के दृष्टिकोण को समझने के प्रयास में पारस्परिक भ्रममूलक दृष्टिजनित विरोध-विवाद का अन्त होकर धार्मिक तथा लौकिक भिन्नता में एकत्व (Unity in diversity) की सृष्टि होती है। आधुनिक युग में स्याद्वाद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शैली के प्रकाश में भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय वाले एकान्त की हठवादिता छोड़ अनेकान्त की ओर आग्रही हों, तो समन्वयवाद का सौरभ विश्व के विषम वायुमण्डल को निस्सन्देह निर्विकार कर देगा, ऐसी आशा की जा सकती है।

'चर्पटपंजरिकास्तोत्र, में शंकराचार्य ने कहा है : **'अर्थमनर्थं भावय नित्यं नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्।'** अर्थात् 'अर्थ एवं अनर्थ का विचार बराबर करते रहो। बिना इसके सुखप्राप्ति सम्भव नहीं है।' अर्थ और अनर्थ की पहचान तभी हो सकती है, जब आत्मा कर्म-मोह की संकीर्ण परिधि से निकलकर असंकीर्ण हो जाती है। ज्ञातव्य है कि संकीर्णता ही अनर्थों की जड़ है। संकीर्णता से ग्रस्त आत्मा तत्त्वज्ञान लाभ करने में असमर्थ है।

संकीर्णता या साम्प्रदायिकता भेदगन्धी भावनाओं की जननी हैं। उस संकीर्णता के दो-एक रोचक उदाहरण तो वस्तुतः ध्यानतव्य हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि बिहार-प्रदेश बौद्ध एवं जैनधर्मों के उद्गम और विकास की भूमि है; किन्तु अधुना यह किंवदन्ती प्रचलित है कि मगह में मरने वालों का गर्दभ-योनि में जन्म होता है। यह किंविदन्ती उस समय प्रचलित हुई,जब मगह में बौद्धधर्म बढ़ती पर था और बौद्धधर्म के किसी विखन्डक ने ऐसा दुष्प्रचार किया। इसी प्रकार, जैनधर्म की अभिवृद्धि देखकर किसी ईर्ष्यालु कृतविद्य ने यह अपवाद प्रसारित किया :

'हस्तिना पीड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्।'

इसे तो संकीर्णता की ही अभिधा दी जा सकती है। जब उक्तिमात्र की ही बात है, तो कोई व्यक्ति यह भी तो कह सकता है :

'सिंहेन दार्यमाणोऽपि न विशेद्विष्णुमन्दिरम्।'

स्पष्ट है कि इस प्रकार की बातें अनर्थमूलक हैं एवं एकांगी रूप से विचार करने से स्थिति सुलझने के बजाय उलझती ही चली जाती है। सम्प्रति आवश्यकता है संकीर्णता से ऊपर उठकर सोचने की। कोई भी सम्प्रदाय हो, कोई भी धर्म हो, सभी एकोद्देश्य हैं। सबका लक्ष्य है—आत्मज्ञान की प्राप्ति। हां, प्रक्रिया में थोड़ा-बहुत अन्तर सम्भव है। किन्तु, यह तो असन्दिग्ध है कि भारत में, उसकी अपनी सहज परम्परा के अनुसार, अनाचारयुक्त विचार कभी प्रश्रय नहीं पा सकता। और, जिस धर्म का लक्ष्य आत्मज्ञान है, वह आचारहीन विचारों का प्रचार कभी कर ही नहीं सकता।

धर्माचरण में अन्तर का कोई विशेष महत्त्व नहीं है; क्योंकि वह तो धर्म का बाह्य आचरणमात्र है। जैसे, मनुष्य अपनी-अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकार के कपड़े पहनते हैं; किन्तु देह की रक्षा सबका एकमात्र लक्ष्य है। गायें भिन्न-भिन्न रंग वाली होकर भी दूध उजले रंग का ही देती हैं। मिठाइयां सर्वत्र बनती हैं : सम्भव है, उनकी आकृतियां भिन्न हों, किन्तु स्वाद में मिष्टता तो सभी मिठाइयों का असली गुण-धर्म हैं। तो, किसी धर्म के केवल बाह्य आचरण से आतंकित या आशंकित होने के बजाय उसकी सूक्ष्मता और आन्तरिकता पर ध्यान देना ही श्रेयस्कर है। तभी, तद्गत अर्थ और अनर्थ का सच्चा अभिज्ञान अवगत किया जा सकता है।

आज देश में भाषा और लिपि के नाम पर भी संकीर्णता प्रत्यक्ष और उदग्र हो उठी है। यदि केवल विद्या सीखने की बात मानी जाय, तो हम किसी भी भाषा और लिपि को सीखकर उसके द्वारा ज्ञानार्जन कर सकते हैं। हिन्दी के नाम पर होने वाले विरोध में भी यही संकीर्णता काम कर रही है। अँग्रेजी, बँगला, असमिया, तमिल, कन्नड आदि भाषाओं के पक्षपाती ज्ञान के व्यावहारिक रूप—केवल भाषा और लिपि के पचड़े में पड़कर ज्ञान की असलियत को सचमुच नजर अन्दाज कर रहे हैं। तो, इन सब संकीर्णताओं से ऊपर उठने का उपाय भगवान् महावीर ने जन-जन को बताया है। वह उपाय है—अनेकान्त की स्याद्वादी पद्धति का अंगीकरण। जैनधर्म और बौद्धधर्म या वैदिक धर्म में कोई एक धर्म ही श्रेष्ठतर है, ऐसा मानना केवल संकीर्णता का ही परिचय देना है। अपनी-अपनी जगह धर्म सापेक्ष हैं। प्रत्येक धर्म का मन्थन करने के बाद उसके निष्कर्ष पर ही ध्यान देना अभिवांछित है। केवल बाह्याचार पर ध्यान देने और उसी को आधार मानने से सही वस्तुस्थिति की उपलब्धि सम्भव नहीं है। इसलिए, सम्प्रदाय-बहुल आज के युग में अनेकान्तवाद की समन्वय-साधना अनिवार्य है।

वैदिक परम्परा आत्मा को एक मानती है। किन्तु जैन परम्परा के अनुसार, आत्मा अनेक है। जितने जीव हैं, उतनी आत्माएँ हैं। प्रत्येक देही के विभिन्न-देहत्व की अपेक्षा आत्माएँ भी विभिन्न हैं। यहां जिस आत्मा के भिन्नत्व की चर्चा की जा रही है, वह धर्मात्मा से सम्बद्ध है। कर्म-कषाय से मुक्त होकर चैतन्य प्राप्त कर लेने ने बाद तो आत्मा एकरूप हो जाती है। किन्तु, प्रक्रिया के क्रम में आत्मा का भिन्नत्व स्वीकार्य होगा ही। अन्यथा हम तत्त्व की सही पहचान में असफल रहेंगे। प्रत्येक आत्मा भिन्न होते हुए भी मोक्ष प्राप्ति के बाद समानधर्मा हो जाती है। तो, एकत्व में अनेकत्व और फिर अनेकत्व में एकत्व का दर्शन ही अनेकान्त है। इस प्रकार, यह अनेकान्त-योग गीता के ज्ञान या कर्मयोग से नातिदूर प्रतीत होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आज जब समस्त ससार में अनेक मतवाद फैलाकर वातावरण को विषाक्त किया जा रहा है, अनेकान्त की परम आवश्यकता है। यही स्याद्वादी अनेकान्त जैनदर्शन का वैशिष्ट्य है। कुछ एकान्तवादियों ने त्वरा में आकर जैनदर्शन को इसलिए, नास्तिक-दर्शन घोषित कर दिया कि उसकी धारा वैदिक परम्परा से जुड़ी नहीं है। जैन दार्शनिक वेद को नहीं मानते। किन्तु थोड़ी बारीकी से विचार किया जाय, तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि जैनधर्म की परम्परा वैदिक धर्म से, परोक्ष रूप से ही सही, संयुक्त भी है, सर्वथा असंसक्त नहीं। अर्थात्, कथंचित् असंसक्त है। आत्मा और मोक्ष का जहाँ तक प्रश्न है, उसका वेदों से सम्बन्ध प्रच्छन्न नहीं। फिर, आत्मा और मोक्ष की व्याख्या करने वाला जैनदर्शन वेद से असंसक्त कैसे माना जा सकता है ? दोनों के पार्थक्य का मूलकारण केवल वैचारिक है। धर्मों के सम्बन्ध में यह कहावत अक्षरशः चरिचार्थ है : **'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः।** 'यानी, मोक्षप्राप्ति का लक्ष्य सभी धर्मों में समान है। स्पष्ट यह कि आत्मा को कर्म-बन्धन से मुक्त करना सभी धर्मों का एकमात्र परम एवं चरम लक्ष्य है।

इस युग में मूर्तिपूजा भी जैनधर्म या जैनेतर धर्म के नेताओं के लिये एक समस्या बनी हुई है। जैन वर्ग भी मूर्ति की परिकल्पना इसलिए अपेक्ष्य मानता हैं कि देवताओं की मूर्ति के द्वारा उनके गुणों की उपलब्धि में साधकों को सहूलियत होती है। हम राम की मूर्ति इसलिए आवश्यक मानते हैं कि इनके चित्र-दर्शन में इनमेंनिहित मातृपितृ-भक्ति, भ्रातृत्व-स्नेह, आत्मत्याग आदि गुणों की उपलब्धि का एक प्रतीक हमें मिल जाता है।

कतिपय सम्प्रदायवादी मूर्ति के प्रचण्ड निषेधक हो गये हैं। इसीलिये कि मूर्तियों की पूजा में अनेक, अलंकार, वस्तु आदि के प्रयोग होते हैं, जो प्रपंच और परिग्रह का प्रत्यक्ष प्रकार है। किन्तु, विचारणीय है कि वस्त्रालंकार के परिग्रह का दोषी कौन है। मूर्ति या मूर्तिपूजक दोषी है। ऐसा न सोच कर एक बारगी मूर्ति पूजा का खण्डन अशोभन है। मूर्ति शिल्प कला का स्मारक भी होती है। इस दृष्टि से भी मूर्ति की सुरक्षा आवश्यक है। मूर्ति की पूजा न कर मूर्ति के द्वारा ईश्वर-पूजा करने पर उक्त सारे विवाद स्वतः छिन्नाधार हो जायेंगे। निस्सन्देह यहाँ भी अनेकान्त दृष्टि से ही विचार अपेक्षित है।

अनेकान्तवादी जैनधर्म वस्तुतः जनधर्म है। इस स्याद्वादी धर्म के अनेकान्तवाद में मानवता का जैसा मूल्यांकन किया गया है, वैसा अन्यत्र कदाचित् नहीं। जैनदार्शनिकों ने ईश्वर नाम की जगत्सर्जकत्व-रूप में कल्पना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही नहीं की है। ईश्वर से जगत् का कोई सम्बन्ध नहीं है। मनुष्य को सुख-दुःख देनेवाला ईश्वर नहीं, वरन् स्वयं मनुष्य का कर्म ही उसके सुख-दुख के लिए उत्तारदायी है। यहां भी गीता की आत्मा से आत्मा के उद्धार की बात के साथ प्रत्यक्ष समता है। मनुष्य अपनी साधना और तपस्या के प्रभाव से स्वयं ईश्वरत्व प्राप्त कर सकता है। और, जगत्-चक्र अनादि काल से चलता आ रहा है, चलता रहेगा। जो कुछ है, मनुष्य ही है। मनुष्यता ही सबसे ऊपर है। मनुष्यता समन्वय-भावना का ही पर्याय है। इस मनुष्यता या समन्वय-भावना की प्राप्ति स्याद्वादी आचार पद्धति और अनेकान्तवादी विचार-धारा से ही सम्भव है। मनुष्यता संकीर्णता की समाधि या भस्मावशेष पर पनपती है और संकीर्णता या भेद-भावना की मूलतः समाप्ति का एकमात्र निदान है—स्याद्वाद या अनेकान्त। अनेकान्त, अद्यतन सन्त्रासजीवी युग का सबसे बड़ा उपादेय है, निर्भयता का रहस्य-मन्त्र है।

भक्ति : निष्काम हो....

एक बार गांधीजी सूरत गए। वहां उनके प्रवचनों का बोहरा समाज पर बड़ा प्रभाव पड़ा। एक दिन उनके प्रवचन के बाद एक मुस्लिम बोहरा उनके पास पहुंचा और उसने गांधीजी को ५०) रु० भेंट किये। बोला—"आप सचमुच पैगम्बर हैं। कल मुझे ज्वर आया था। मेरे मन ने कहा कि यदि आज ज्वर उतर गया तो गाँधीजी को ५०) रुपये भेंट करूँगा। सचमुच ही ज्वर रात को ही उतर गया, जब कि हमेशा तो वह आने पर कई-कई दिन तक नहीं उतरता था। इसलिए मैं आपको यह भेंट देने आया हूं।"

गांधीजी ने कहा—"भाई! यह ठीक है कि आपने मुझे याद किया और आपका ज्वर उतर गया। पर यदि ज्वर नहीं उतरतां तो फिर आप गांधी को गालियाँ देते न ? अतः ऐसी भेंट मुझे नहीं चाहिए। तुम्हें भी ऐसी अंध-भक्ति करना उचित नहीं हैं। भक्ति स्वार्थ के लिये नहीं होनी चाहिये।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टूटा हुआ आदमी

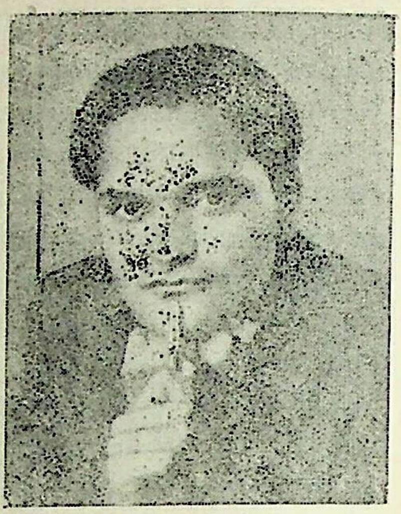

मैं टूटा हुआ आदमी
जुड़ने की कोशिश करता हूँ,
परंतु कोशिशें और भी तोड़ जाती है
और मैं रेतीले कणों की-
तरह विखर जाता हूं,
आँख की किरकिरी-सा अखर जाता हूं।

युग की देन मानवी बुद्धि ने,
समाज, सभ्यता और संस्कृति का विकास किया,
शताब्दियों के श्रम से दीवारों को अवकाश दिया।
दीवार सभ्य और असभ्य के वीच
दीवार छोटे बड़े और के बीच
दीवार कल्चर्ड और गंवार के वीच
इन दीवारों ने मनुष्य को अहं दिया,
इन दीवारों ने श्रेष्ठता का बहम दिया।
अहं शर्म के कारण टूट नहीं पाता
और आदमी बहम में टूटता जा रहा है।
मैं शर्म से टूटा हुआ आदमी
वेशर्मी से जुड़ने का प्रयत्न करता हूँ।
परन्तु मेरी दृष्टि दीवारों के पार नहीं जाती,
स्वयं को पहचान नहीं पाती।
इसलिए मैं अंधे की तरह दीवारों से टकराता हूं।
अपने आप से भी घबराता हूं।

● चन्दनमल 'चाँद'
अणुव्रत सभागार
राजहंस बिल्डिग, मेरिनड्राइव
बम्बई—२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

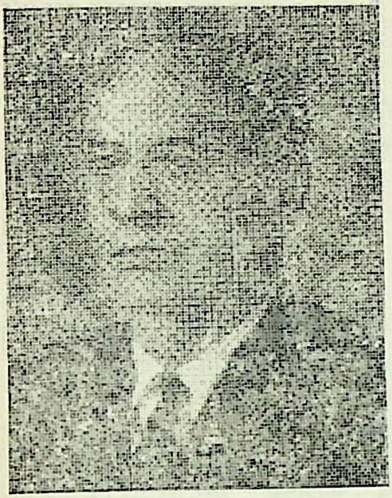

समन्वय :

भगवान्महावीर के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि

● श्री शादीलाल जैन

[भारत जैन महामंडल के अध्यक्ष श्री शादी-लाल जी जैन विचारों से ही केवल समन्वय एवं एकता के समर्थक नहीं, बल्कि स्वयं इस क्षेत्र में अपना उदाहरण प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति हैं। वे समग्र जैन समाज के प्रिय व्यक्ति हैं, उनके विचार प्रस्तुत लेख में पाठकों के लिए विशेष रूप से दिये जा रहे हैं। —सम्पादक]

धर्म के टिके रहने की पहली शर्त है आपस का भाईचारा। अगर हम आपस में मिलकर नहीं रह सकते तो कोई वजह नहीं कि हमारी इज्जत बनी रहे। सम्प्रदाय, किसी भी धर्म के समझने-परखने से जुदा-जुदा खयालों से पैदा होते हैं। वैसे ही जैसे अलग-अलग स्वभाव के लोगों से जुड़कर एक परिवार बनता है। आपसी झगड़ों से समाज का बहुत नुकसान होता है। हर एक की ताकत, साहस कम हो जाता है। मतलब यह कि जो खुद ही ताकतवर नहीं, वह एक बड़ी ताकत यानी धर्म, एक दर्शन, एक संस्कृति को कैसे बरकरार रख सकेगा ?

कोई भी विचारक ऐसा नहीं कहता कि सबके विचार बिल्कुल एक हो जाएं। सब एक समान सोचे और एक ही तौर तरीके से जिन्दगी गुजारे। हर एक आदमी को अपनी एक अहमीयत होती है और वह किसी भी कीमत पर अपनी वह अहमीयत छोड़ नहीं सकता। ऐसी हालत में यह जरूरी है कि हर एक अपनी-अपनी खसूसीयत को बरकरार रखते हुए समाज को ताकत दे, उसे ताकतवर बनाये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कभी-कभी किसी आदमी को वक्त के साथ, हालात के साथ थोड़ा समझौता करना पड़ता है। थोड़ा बहुत उसे छोड़ना पड़ता है। यह कुछ छोड़ देने का नजरिया एक तरह से एडजस्ट होने का नजरिया है। अगर इसे ही हम समन्वय कहें तो गलत नहीं होगा। जब आदमी कुछ छोड़ता है तो वह कुछ पाता भी है। नहीं छोड़ने का नज़रिया आदमी को हल्का बनाता है, उसे संकुचित बनाता है।

आदमी की आदमीयत इसी में है कि वह जरा-जरा सी बात पर अपना बिगाड़ करने के बजाय ठण्डे दिमाग से सोचे। अपने स्वार्थ को भूल जाए और इन्सानियत के लिए जीना सीखे। अपने लिए तो हरएक जिन्दा रहता है लेकिन एक बड़े आदर्श के लिए अपनी जिन्दगी को खत्म कर देना कहीं ज्यादा मुनासिब है।

हमने देखा है कि अपने एक छोटे से दायरे से तसल्ली कर लेने वाले लोग, उसको ही दुनियां भर में सबसे बड़ा कहने वाले लोग थोड़े ही वक्त में खत्म हो गये। अगर वे ओरों का भी ख्याल रखते, उनकी अच्छाइयों को भी स्वीकार करते, उनके कंधों से कंधा मिलकर चलते तो ज्यादा समय तक जिन्दा रहते। मैं देख रहा हूँ कि फिरकेबाजियों ने आज तक जैनधर्म को एक छोटे से दायरे में बांध रखा है। आज यह धर्म अगर जिन्दा भी है तो सिर्फ अपनी महान् विचारधारा के कारण। भगवान महावीर के उपदेशों में और हमारी पुरानी जैन परम्परा में आज भी इतनी ताकत है कि वह सारी दुनियां को तसल्ली दे सकती है, संतोष दे सकती है। हम लड़-झगड़कर उस ताकत का गलत इस्तेमाल करते हैं। हम अच्छी तरह जानते हैं कि कोई भी ताकत दो तरह से इस्तेमाल हो सकती है। या तो उससे अपने आपको खत्म करलें या उससे अपने विकास के रास्ते खोल लें।

भारत जैन महामंडल ने जैन एकता के लिए नये नये कदम उठाए हैं। भाई रिषभदासजी रांका ने बड़े संकल्प लिए हैं जिन्हें पांच हिस्सों में बांटा है। भारत जैन महामण्डल के अध्यक्ष के नाते मैं इस लेख द्वारा यह अपील करता हूं कि हर जैन हमारी ताकत बढ़ाएं और उन संकल्पों को पूरा करने में मदद करें। इतने बड़े और सम्पन्न जैन समाज को देखते हुए यह कोई बहुत बड़ी मांग नहीं है। भगवान महावीर का २५ सौवां निर्वाण समारोह करीब ही आ रहा है। अगर हम उस वक्त तक एक होकर, मिलजुलकर रहने के लिए तैयार हो सकें तो भगवान महावीर के प्रति इससे बढ़कर कोई श्रद्धांजलि नहीं होगी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन्टरव्यू

धर्म में नये मूल्यों का निर्माण हो रहा है

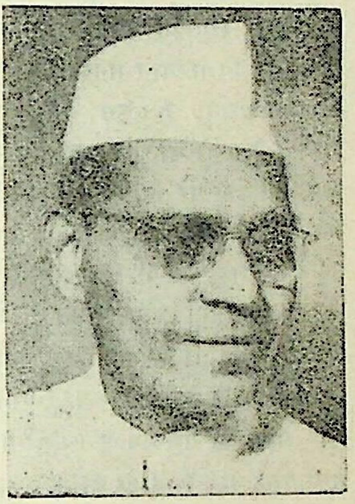

● चिमनलाल सी. शाह

प्रस्तोता : चन्दनमल 'चांद'

जैनसमाज के सुप्रसिद्ध नेता एवं प्रबुद्ध चिन्तक श्री चिमनलाल सी० शाह के धर्म एवं जैन समाज के सन्दर्भ में मौलिक चिन्तन की भेंट वार्ता समन्वय विशेषांक के लिए विशेष रूप से प्राप्त की गई है, जो पाठकों के चिन्तन को नया आयाम एवं नई दिशा देने में सक्षम हैं। —सम्पादक]

सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक क्षेत्र के सुप्रसिद्ध नेता तथा चिन्तक सालीसीटर श्री चिमनलाल सी० शाह के धर्म एवं समन्वय सम्बन्धी विचार जानने के लिए २५ मार्च ७२ को उनके आफिस में संध्या-समय पहुँचने पर भावभरी मुस्कान के साथ उन्होंने स्वागत किया। आफिस की व्यस्तता से आई थकान को चाय की चुस्कियों से दूर भगाते हुए श्री चिमनभाई ने आँखों ही आंखों में प्रश्नों के उत्तर देने की तैयारी का संकेत किया और मैंने तीर की तरह पहला प्रश्न छोड़ा—

"आधुनिक वैज्ञानिक युग में धर्म का प्रभाव जन जीवन पर कम होता जा रहा है और धर्म

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की व्यक्ति पर पकड़ ढीली हो चली है, इस सम्वन्ध में आपका क्या चिन्तन है ?"

कुछ क्षणों के लिए मौन छा गया और फिर गंभीरतापूर्वक प्रत्येक शब्द पर जोर देते हुई चिमनभाई ने कहा—"मैं यह नहीं मानता कि धर्म का प्रभाव कम हुआ है अथवा उसकी व्यक्ति पर पकड़ ढीली हो गई है। धर्म के दो रूप हैं—स्थापित ऐस्टेबलिश्ड़ चर्च और मानव जीवन के नैतिक मूल्य। व्यक्ति पर स्थापित अर्थात् सम्प्रदायगत धर्म की पकड़ कम हो रही है, वेसिक मूल्यों की विचारवान मनुष्यों के लिए पकड़ कम हो ही नहीं सकती। लेकिन स्वरूप बदलता है। इस समय में बुद्धिवादी एप्रोच ज्यादा है। बुद्धि की मर्यादा है। जो अंतिम प्रश्न है उनका आधार श्रद्धा रहती है। लेकिन यह श्रद्धा बुद्धि से परे है, यानि जहां बुद्धि नहीं पहुंच सकती, वहां है। लॉजिक का सिद्धान्त What must be and what can be, that is व्हाट मस्ट वी एंड व्हाट केन बी—जो होना ही चाहिए और जो हो सकता है—देट इज —यह है। वहां श्रद्धा आती है जैसे जगत में मंगलमय शक्ति होनी हो चाहिए न हो तो जगत धारण नहीं हो सकता, और हो सकती है—यह असम्भव नहीं है तो फिर "है" ऐसी श्रद्धा बुद्धिगम्य श्रद्धा है। इसमें बुद्धि और श्रद्धा का समन्वय है। ऐसा बेसिक धर्म विचारवान मनुष्य के जीवन में तथा दूसरे सब में आता ही है—आना चाहिए।

प्रश्न लेकिन वेसिक धर्म अर्थात् मानव जीवन के मूल्यों का भी तो ह्रास हो रहा है ?

उत्तर—मानवीय प्रवृत्ति में दो तत्व हैं—दैविक और आसुरी। इतिहास का परिवर्तन सीधी लकीर में नहीं होता है, सदा चक्र में होता है। जैसा कालिदास ने कहा है—**नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा, चक्रनेमिक्रमेण** चक्र की भांति इतिहास की दशा होती है। जगत के इतिहास में भी कभी नैतिक मूल्यों की अवनति अधिक दिखाई देती है तो कभी कुछ कम। किन्तु सत् असत् का द्वन्द्व सनातन है। कभी ऐसा नहीं होगा कि एक या दूसरे तत्व का अभाव हो। मानव जीवन की हस्ती का आधार सद् है, भले ही उसका एकवार ह्रास दिखाई दे, किन्तु अन्तिम विजय सत् की ही है। इस समय नैतिक मूल्यों का ह्रास ज्यादा दीखता है क्योंकि मानवीय जीवन की समस्याएँ बहुत जटिल हो गई हैं और इन जटिल समस्याओं का समाधान मानवी बुद्धि अव तक सोच नहीं सकी है। लेकिन जो वेसिक मूल्य हैं उनका प्रभाव क्रमशः बढ़ेगा। विज्ञान ने जो मीन्स आफ कम्यूनिकेशन एण्ड ट्रांसपोर्ट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(Means of Communication and Transport) दिये हैं उससे भौगोलिक दृष्टि से दुनियां एक हुई है। परन्तु भावना से मानव एकता की जितनी वृद्धि होनी चाहिए उतनी नहीं हुई। इस कारण नैतिक मूल्यों का ह्रास दिखाई दे रहा है। मैं तो यह मानता हूँ कि **नये मूल्यों का निर्माण हो रहा है– नई संस्कृति का निर्माण हो रहा है जिसे विश्व संस्कृति कहा जाय।**

प्रश्न—क्या धर्म विभिन्न सम्प्रदायों एवं विचारधाराओं के कारण व्यक्ति को खंडित नहीं करता ? अतीत और वर्तमान में इसके दुष्परिणाम युद्धों एवं साम्प्रदायिक झगड़ों के रूप में हमारे सामने हैं।

उत्तर—स्थापित धर्म का सचमुच वहुत ही दुष्परिणाम आया है। जव टालस्टाय को चर्च ने बहिष्कृत किया उस समय टालस्टाय ने जो जवाब दिया उसमें ऐस्टेवलिश्ड़ क्रिश्चेनिटि— स्थापित धर्म का भारी दूषण पूरे जोर से दिखाया है और उन्होंने क्रिश्चेनिटि के बारे में जो कहा है वही अन्य धर्मों के बारे में भी लागू पड़ता है। स्वतंत्र विचारशक्ति बहुत कम लोगों में होती है और प्रत्येक मनुष्य सामान्यतया आधार मांगते हैं। धर्म के नाम पर यह आधार उनको मिल जाता है और धर्म की जो क्रियाएं होती हैं उनमें अपना व्यक्तित्व डुबा देते हैं। एवं एक प्रकार के सन्तोष की भावना दिल में अनुभव करते हैं।

प्रश्न—धर्म के नाम पर इतने मतभेद, सम्प्रदाय और बाड़ेबन्दी क्यों बनी ? आपकी दृष्टि में विग्रह के कारण क्या हैं ?

उत्तर—प्रश्न की गम्भीरता समझते हुए चिमन भाई ने कुर्सी पर पीठ टिकाकर एक क्षण के लिए आंखें बन्द की और फिर उत्तर दिया — प्रीस्ट हूड (Preesthood) (महंताई) इसका मूल कारण है। सच्चे धर्म में जो विशालता है वह है प्रीस्टहूड के कारण सम्प्रदायों में नहीं रहती, फलतः विग्रह वढ़ते हैं। दूसरा कारण मनुष्य का स्वभाव है। मनुष्य का हृदय और दृष्टि इतनी विशाल नहीं होती है। उसकी दृष्टी क्रमशः परिवार, जाति या देश तक ही सीमित होती है जहां उसे अपना ढंग चाहिए। यह सब धर्म के नाम पर सम्प्रदाय में ही हो सकता है। सच्चा धर्म क्रांतिकारी है, वह नित्य नये मूल्य लाता है। वह रूढ़ि और परम्परा को निकालने वाला होता है। विश्व के प्रत्येक अवतार, तीर्थंकर या पैगम्बर क्रांतिकारी हुए हैं।

प्रश्न—क्या सभी धर्मों का एक मंच होकर एकता हो सकती है ?

उत्तर—नहीं, विभिन्न धर्मों की एकता नहीं हो सकती है—सभी धर्म

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्प्रदाय एक नहीं हो सकते हैं। सम्प्रदायों में परस्पर वैमनस्य न हो, यह संभव हो सकता है। समभाव या सहिष्णुता हो सकती है और यही जरूरी है। सारी दुनियाँ में एक ही धर्म हो, यह संभव नहीं और जरूरी भी नहीं है।

प्रश्न—जैनधर्म जो अनेकान्तवादी और स्याद्वादी है उसमें इतने सम्प्रदाय बनने का क्या कारण, आपकी राय में हो सकता है ?

उत्तर—जब जब प्रभावशाली आचार्य होते हैं वे अपना सम्प्रदाय बनाना चाहते हैं और उनके अनुयायी भी जुट जाते हैं। सही बात तो यह है कि जैनधर्म का स्याद्वाद जैनों के वास्तविक जीवन में आया ही नहीं है। दिगम्बर, श्वेताम्बर परम्परा तो शायद महावीर के समय से ही है, लेकिन उसके बाद जैनों में जो अन्य सम्प्रदाय हुए हैं वे बहुत करके प्रभावशाली व्यक्तियों के संघर्ष का परिणाम है। मनुष्य की प्रवृत्ति में भी अपना अपना सम्प्रदाय हो, यह सहज भावना रहती है फलतः अनेक सम्प्रदाय बनते जाते हैं।

प्रश्न—क्या जैनों में एकता सम्भव है ? यदि हां तो किस प्रकार और नहीं तो क्यों ?

उत्तर—एकता का अर्थ यदि सम्प्रदाय न रहे, यह हो तो एकता संभव नहीं है क्योंकि संम्प्रदायों की जड़ बहुत गहरी है। मानव प्रकृति भी ऐसी है कि वह अपनी सीमा में धर्म को भी बांधना चाहती है। केवल जैनधर्म में ही नहीं बल्कि सभी धर्मों में सम्प्रदाय है।

प्रश्न—सभी सम्प्रदाय एक नहीं हो सकते लेकिन उनके बीच समन्वय का सेतु तो हो सकता है ?

उत्तर—अवश्य हो सकता है। सम्प्रदायों के बीच समन्वय का सेतु बन सकता है— होना ही चाहिए। यह आसानी से हो सकता है। मेरे ख्याल से वर्तमान समय में वातावरण अच्छा हो रहा है और २५-५० वर्षों पूर्व जो कट्टरता थी उसमें काफी कमी हुई है। एकता होनी चाहिए यह भावना अब प्रबल हो गई है। जनता में समन्वय की भावना बहुत प्रबल है और समन्वय नहीं होता है, उससे जनता दुःखी है।

प्रश्न—समन्वय की दिशा में क्या ठोस कदम उठाये जा सकते हैं ?

उत्तर—एक साथ मिलकर काम करने का प्रसंग जितना ज्यादा हो सके, उतना बढ़ाना एक महत्वपूर्ण कदम होगा। दूसरा कार्य जैन समाज का साम्प्रदायिक संस्थाओं की अपेक्षा सारे जैन समाज की जितनी संस्थाएं निर्माण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की जा सके, उतनी संस्थाओं का निर्माण करना समन्वय का महत्वपूर्ण कार्य होगा। जहां एकता को भंग करने वाला प्रसंग हो वहां प्रमुख व्यक्ति को हिम्मत से सामना करते हुए समन्वय की दिशा में कदम उठाना चाहिए। छोटी मोटी बातों में कुछ छोड़ना पड़े तो सम्प्रदाय के आगेवान व्यक्ति अपने सम्प्रदाय के लोगों को मार्गदर्शन देकर तैयार करें।

समन्वय की दिशा में साधुओं का महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है। त्याग और तपस्या के कारण जैन आचार्यों, साधुओं एवं साध्वियों का जनता पर काफी प्रभाव है। यदि साधु साध्वियों का सहयोग हो तो समन्वय की दिशा में तुरत सफलता मिल सकती है। और यदि साधओं का सहयोग न हो अथवा विरोध हो तो वे काफी बाधा उपस्थित कर सकते हैं।

प्रश्न—समन्वय होने से क्या कुछ साधुओं और आचार्यों का महत्व कम नहीं हो जायगा ?

उत्तर - जो साधु एकता की दिशा में निष्ठापूर्वक काम करने वाले हैं उनकी प्रतिष्ठा बढ़ने वाली है, जो नहीं करते हों उनकी पकड़ मर्यादित क्षेत्र में भले ही हो लेकिन जन समुदाय पर प्रभाव नहीं रहेगा। इस युग में जनता इसे सहन नहीं करेगी।

प्रश्न—पिछले कई वर्षों से जैनधर्म के सभी सम्प्रदाय के साधु एक मंच पर आने लगे हैं, इससे क्या समन्वय की संभावनाएँ उज्ज्वल नहीं लगती ?

उत्तर—ऐसे कार्यक्रमों से वातावरण अच्छा हो रहा है, लेकिन भावना इतनी दृढ़ नहीं हुई है, एक मंच पर नहीं आना, अब शर्मजनक लगने लगा है इसलिए भावना हो चाहे नहीं, आना जरूरी लगता है परन्तु निष्ठापूर्वक जो काम होना चाहिए वह अभी तक नहीं हो रहा है। किन्तु ऐसे एक मंच के कार्यक्रम और प्रयास अच्छे हो रहे हैं—होने चाहिए।

प्रश्न—जैन धर्म भारत में भी सीमित रहा और विदेशों में तो गया ही नहीं, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—इसमें जैन समाज की ही कमी रही है। जैन समाज को अपने धर्म का जितना प्रचार करना चाहिये उतना नहीं किया। साधु-साध्वियों की मर्यादा के कारण भी इतना प्रचार नहीं हुआ। एक बड़ा कारण यह भी रहा कि बहुत सदियों से जैनसमाज में तात्विक दृष्टि से स्वतन्त्र चिन्तन बहुत कम हुआ है। रूढ़िगत जीवन के कारण उनमें जितनी चेतनता होनी चाहिये, वह नहीं रही। हां, अभी कुछ अन्तर आ रहा है, चेतनता जागी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

घड़ी की सुई बहुत तेजी से आगे बढ़ती जा रही थी और निर्धारित आधा घण्टा समाप्त हो चला था। श्री चिमनभाई से अन्य मिलने वाले बाहर प्रतीक्षा में थे अत: मैंने अन्तिम प्रश्न किया—

"जैन धर्म विश्वव्यापी बने—इस सन्दर्भ में आपकी राय में क्या ठोस उदम उठाये जाने चाहिए ?"

उत्तर— विश्वव्यापी का अर्थ यह नही होता कि जैनियों की संख्या सारे विश्व में वढ़े। धर्मान्तर करने की ऐसी वृत्ति जैनधर्म में कभी नहीं रही है। विश्वव्यापी इस अर्थ में हो सकता है कि उनके सिद्धान्त की जगत को जानकारी हो और वर्तमान जीवन की समस्याओं को हल करने में उसकी उपयुक्तता है—वहुत है, यह दिखावें। उदाहरण के लिए अहिंसा, अनेकांत और अपरिग्रह। तीनों सिद्धांत ऐसे हैं कि जिनकी जरूरत या मानव समाज के लिए उनकी उपयुक्तता महावीर के समय में जो थी उससे भी ज्यादा आज है। समर्थं विचारक और वैज्ञानिक भी अहिंसा की दिशा में अब सोच रहे हैं। समाजवाद एक प्रकार से कम या सही अपरिग्रह भावना में है। "असविभागी न ह्‌ तस्स मोक्खो"--असंविभागी को मोक्ष नहीं मिलता। जो आदमी अपनी सम्पत्ति का संविभाग—सम्यक् विभाग नहीं करते हैं वे मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं। स्वेच्छा से सम्पत्ति का संविभाग करना यही सच्चा समाजवाद है। संविभाग के साथ अपरिग्रह हो, संग्रह न हो। दोनों साथ होने चाहिए। वर्तमान समाजवाद की दृष्टि भौतिक है। जीवन की जरूरत कम करना या अपरिग्रह करना यह भावना उसमें नहीं है। भावना अपरिग्रह और जीवन की जरूरतें बढ़ाने की है। लेकिन कुछ थोड़े व्यक्तियों के लिए नही बल्कि सारे समाज के लिए है। जैन धर्म की दृष्टि संविभाग परिग्रह और जरूरतें कम करने की है। उसमें नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि है और उसमें अहिंसा है। अनेकान्त वैचारिक अपरिग्रह है। ये सब जैन धर्म के सिद्धान्त वर्तमान की समस्याओं को कैसे हल कर सकते हैं, यह समझाकर जगत के सामने जैनियों को रखना चाहिए। जैन धर्मं इसी से विश्वव्यापी हो सकता है।

लगभग ४५ मिनिट का यह वार्तालाप अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा और श्री चिमनभाई को धन्यवाद देता हुआ मैं खड़ा हुआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी

की

अध्यक्षता में

भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव राष्ट्रीय समिति

की

प्रथम बैठक

१२ अप्रेल १९७२ का दिन है, लगभग साढ़े तीन वजे का समय है। भारतीय संसद्भवन के एक भव्य और विशाल कक्ष में एक अनोखी चहल-पहल देखी जा रही है। विश्रुत आचार्यों व मुनियों का आगमन हो रहा है। विश्रुत साहित्यकारों व विद्वानों का आगमन हो रहा है। प्रसिद्ध उद्योगपति भी वहां देखे जा रहे हैं। देश के कौने-कौने से समागत चारों जैन परम्पराओं के अग्रणी भी प्रस्तुत वातावरण की शोभा वढ़ा रहे हैं।

एक के वाद एक अपना-अपना नामांकित स्थान ग्रहण कर रहे हैं। प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी का भी कक्ष में आगमन हो गया है। स्मितहास्य के साथ सबका अभिवादन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर उन्होंने अपनी चेयर भी ग्रहण कर ली है। विशाल मेज के चारों और लगभग ८० आदमियों की यह मालाकार उपस्थिति बहुत ही भव्य प्रतीत हो रही है। प्रधानमंत्री जी के दांई और क्रमशः उपशिक्षा मंत्री श्री डी० पी० यादव, शिक्षा सचिव श्री टी० एन० सिंह, मुनि श्री नगराजजी, मुनिश्री सुशीलकुमार जी, मुनिश्री महेन्द्रकुमार जी 'द्वितीय' प्रभृति दिखाई दे रहे हैं। प्रधानमंत्री जी के बाईं और शिक्षा राज्यमंत्री श्रीनुरूल हसन, गृह राज्य मंत्री श्री रामनिवास मिर्धा, आचार्यश्री देशभूषण जी प्रभृति दिखाई दे रहे हैं। प्रधानमंत्रीजी के सामने माननीय श्रीकस्तूरभाई, साहू श्रीश्रेयांसप्रसादजी, साहू शांतिप्रसाद जी जैन, श्री चिमनभाई, डा० डी० एस० कोठारी, श्री रिषभदास जी रांका, भदन्त आनन्द कौशल्यायन, प्रभृति दिखलाई दे रहे हैं। प्रधानमंत्रीजी ने कहा—'अच्छा हो, सभी सदस्य अपना-अपना परिचय दे दें।' परिचय-प्रदान शुरू हुआ। सभी ने अपना-अपना परिचय दिया। मुनिजनों का क्रम आया तो प्रधानमंत्री जी ने कहा—'आप लोग बैठे रहें परिचय है ही।'

प्रधानमंत्री जी ने अपना उद्घाटन भाषण आरम्भ कर दिया है, नितांत नीरव वातावरण है। केमरा-मैनों के व टेलीविजन वालों के प्रकाश-पात से सारी सभा जगमगा उठी है। पर, श्रोताओं की एकाग्रता पर न तो इस प्रकाश-पात का ही कोई प्रभाव है और न कैमरों मैनों की उछल-कूद का ही।

प्रधानमन्त्री जी—'मुझे आप सबका स्वागत करते हुए प्रसन्नता है। भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाण-महोत्सव का अवसर हमारे सम्मुख आ रहा है। भगवान् महावीर ने जो सन्देश अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व दिया था, वह आज भी उतना ही सामयिक है। आज सारे विश्व में युवापीढ़ी में एक असन्तोष एवं अनास्था का वातावरण है। उसका कारण है—अहिंसा आदि जिन महान् आदर्शों व सिद्धान्तों का उपदेश उन्होंने दिया था, उस पर अमल नहीं हो रहा है। भगवान महावीर ने अहिंसा का जो रूप बताया था, वह सारे संसार के साथ प्रेम एवं मैत्री रूप था। अहिंसा का अर्थ केवल हत्या न करना नहीं, अपितु दूसरों की कमजोरी का अनुचित लाभ न उठाना, शोषण न करना भी है। अहिंसा का पालन व्यक्ति-व्यक्ति के बीच और राष्ट्र-राष्ट्र के बीच भी किया जाये। हिंसा सदा ही हानिकर होती है।

भगवान महावीर की अहिंसा केवल मनुष्य तक सीमित नहीं थी। वह प्राणीमात्र व पेड़-पौधों तक भी व्याप्त थी। उनके मन में समस्त ब्रह्माण्ड के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रति एक समान भावना थी। आज पुनः उसी श्रद्धा को स्थापित करना हमारा कार्य होना चाहिए।

प्रधानमंत्री जी का वक्तव्य समाप्त हुआ कि केन्द्रीय उपशिक्षा मंत्री श्री डी० पी० यादव ने संयोजन कार्य संभाल लिया। एक के पश्चात् एक वक्ताओं के नाम घोषित होने लगे। सर्व प्रथम केन्द्रीय शिक्षामंत्री श्री नुरूल हसन ने कहा—'भगवान महावीर की २५०० वीं निर्वाण जयन्ती के उपलक्ष में भारत सरकार ने पचास लाख रुपये व्यय करने का निश्चय किया है। मैं आशा करता हूँ एतदर्थ गठित यह राष्ट्रीय समिति उचित कार्यों की योजना बनायेगी। जिस पर उक्त राशि व्यय की जायेगी।'

प्रो० नुरूल हसन की इस घोषणा का राष्ट्रीय समिति के सदस्यों ने करतल ध्वनि से स्वागत किया। प्रधानमंत्री ने पुनः अपनी भावना को स्पष्ट करते हुए कहा —'निर्वाण-जयंती के लिए दो प्रकार के कार्यक्रम सोचे जा सकते हैं—एक तो स्मारक के रूप में भवन आदि का निर्माण और दूसरा जनता के जीवन में उपयोगी हों ऐसे समाज-कल्याण के कार्य, जिससे गरीबों के लिए कुछ किया जा सके। इन सब बातों पर विचार करना जरूरी है, पर इतनी बड़ी समिति में इसे सुविधापूर्वक नहीं किया जा सकता। मेरा सुझाव है, कि इसके लिए एक छोटी कार्य-समिति बनाई जाये।'

श्री डी० पी० यादव ने कहा—प्रधानमंत्री जी के इस सुझाव के अनुसार एक छोटी कार्य समिति का गठन हमें करना है। इसके लिए जैन समाज की ओर से कुछ नाम मेरे पास आये हैं जो व्यक्ति कार्यसमिति के रूप में आई हुई योजनाओं पर विचार करेंगे।

श्री कस्तूरभाई लालभाई ने अपने लिखित वक्तव्य में कहा—'समस्त जैन समाज की ओर से प्रधानमंत्री को धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने भगवान महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी को मनाने के लिए राष्ट्रीय समिति बनाई। मैं आशा करता हूँ कि भगवान महावीर के महान सन्देशों से समस्त विश्व को अवगत कराने के लिए यह स्वर्णिम अवसर सिद्ध होगा।'

सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् डा० ए० एन० उपाध्ये ने अपने अंग्रेजी वक्तव्य में भगवान महावीर के युग की ऐतिहासिक स्थितियों पर प्रकाश डालते हुए बताया कि किस प्रकार भगवान महावीर ने उस युग में एक नई सामाजिक-धार्मिक प्रगति का सूत्रपात किया था और आज किस प्रकार भगवान महावीर के अनुयायियों ने देश के विकास में अपना महान् योगदान दिया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बम्बई के विख्यात सोलिसीटर श्री चिमनभाई चकुभाई शाह ने समस्त जैन समाज द्वारा तैयार किये गये योजना के प्रारूप को संक्षेप में बताया और आशा व्यक्त की कि राष्ट्रीय समिति इसे कार्यान्वित करेगी।

दिगम्बर आचार्य श्री देशभूषण जी ने इस महान कार्य में सफलता हेतु अपने आशीर्वचन प्रस्तुत किये।

"अणुव्रत परामर्शक मुनिश्री नगराजजी डी० लिट्० ने अपने वक्तव्य में कहा—"राष्ट्रीय समिति के निर्माण की चर्चा पिछले कुछ वर्षों से चलती रही है। उसकी संपन्नता का अध्याय आज हमारे सामने है। इस बीच माननीय प्रधानमंत्रीजी के सामने कितने संसदीय संघर्ष और कितने राजनीतिक ज्वार एक के बाद एक आते रहे। चुनावों की अनिर्वचनीय व्यस्तताएं भी आपके सामने रहीं और इसी बीच युद्ध के भयानक बादल मंडराये, गरजे व बरसें हैं। पर, महत्व की बात यह है कि इन सब परिस्थितियों में भी राष्ट्रीय समिति के निर्माण का विषय आपके दिल व दिमाग से दूर नहीं हुआ। अस्तु, प्रधानमंत्रीजी की जागरूकता का ही भव्य व मनोरम फलित आज हमारी आंखों के सामने है।

मुनिश्री नगराजजी ने आगे कहा—"महावीर महान् थे। राष्ट्रीय समिति की अध्यक्षा प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरागांधी जी भी महान है, पर, भारत सरकार द्वारा निर्धारित ५० लाख का बजट अवश्य अमहान् है। प्रधानमंत्री जी उसे भी अपने जितना महान् बना देंगी, तभी तीनों बातों की संगति बैठ सकेगी।"

स्थानकवासी मुनिश्री सुशीलकुमारजी ने कहा—"आज देश में अहिंसा के वातावरण को बनाने का अवसर आया है। भगवान महावीर ने पिछड़ी जातियों के लिए, नारी-उत्थान के लिए समाजवाद के लिए जो प्रयास किये थे, उन्हें आज हमें पुनः करना है। अपरिग्रह के आदर्श को धनी जैन लोग जीवन में उतारें और परिग्रह का अधिकाधिक विसर्जन करें। प्रधानमंत्रीजी ने समानता का जो एक नारा उठाया है, उसे चरितार्थ करने में सहयोगी बनें।"

तत्पश्चात् क्रमश :—श्री लक्ष्मीमल सिंघवी, श्री अक्षयकुमार जैन, प्रो० के० एम० लोढ़ा, श्री यशपाल जैन और साहू शांतिप्रसाद जैन ने अपने संक्षेप वक्तव्यों में भगवान महावीर के निर्वाणोत्सव की व्यापकता पर प्रकाश डाला तथा अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के महान् सिद्धान्तों के प्रसार पर बल दिया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ईसाई धर्म का प्रतिनिधित्व करते हुए संसद सदस्य श्री जोकिम आल्वा ने जैन साहित्य व कला की प्रशंसा की और राष्ट्रीय समिति द्वारा निर्धारित होने वाले कार्यक्रम में पूर्ण सहयोग देने का आश्वासन दिया।

बौद्ध धर्म का प्रतिनिधित्व करते हुए भदंत आनंद कौशल्यायन ने कहा—"जिस प्रकार कुछ वर्षों से पूर्व भगवान बुद्ध का २५००वां निर्वाणोत्सव मनाया गया था उसी प्रकार भगवान महावीर की २५००वीं निर्वाण-जयंती हमें मनानी है। भारत और विदेश के समस्त बौद्धों की ओर से इस कार्य में पूर्ण सहयोग समर्पित करता हूँ।"

अंत में श्री डी० पी० यादव ने जैन समाज द्वारा कार्य समिति के लिए प्रस्तावित नामों को पढ़कर सुनाया। प्रधानमंत्री जी ने कहा—"प्रस्तुत नामों पर विचार करना होगा।"

साहू श्री श्रेयांसप्रसादजी जैन के धन्यवाद-ज्ञापन के साथ राष्ट्रीय समिति की यह प्रथम एवं ऐतिहासिक बैठक समाप्त हुई।

१२ अप्रैल के कार्यक्रम का १३ अप्रैल के राजधानी के समाचार पत्रों में भरपूर प्रकाशन हुआ। १२ अप्रैल के सायं टेलीविजन पर भी कार्यक्रम की झलक दिखाई गई तथा रेडियो पर संबंधित समाचार प्रसारित किये गये।

जो संविभागशील है—प्राप्त साधनों का ठीक तरह वितरण करता है, संग्रह और उपग्रह में—साथियों के लिए यथावसर भोजन आदि साधन जुटाने में कुशल है, वही अचौर्य व्रत की अच्छी प्रकार आराधना कर सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टाइम्स आफ इंडिया बिल्डिंग में 'जैन संसद्' की दो बैठकें

११ अप्रैल का दिन भी जैन समाज के इतिहास में कम महत्व का नहीं रहा। चारों जैन समाजों के इतने वरिष्ठ लोग इससे पूर्व कहीं शायद मिले हों। चारों जैन समाजों के १२-१२ प्रतिनिधि राष्ट्रीय समिति में लिए गए हैं और लगभग सभी वहां पहुंचे।

सरकार के सामने सारा जैन समाज एक रूप रह सके तथा एक ही कार्यक्रम प्रस्तुत कर सके इस हेतु से ११ अप्रैल के प्रातः ११ बजे टाइम्स आफ इंडिया बिल्डिंग में माननीय साहू श्रीशांतिप्रसादजी जैन के निजी कार्य-कक्ष में रखी गई थी। माननीय साहूजी श्रेयांसप्रसाद जैन ने सभा की अध्यक्षता की।

माननीय श्री रिषभदासजी रांका ने उपस्थित जैन प्रतिनिधियों का एक-एक कर परिचय दिया।

लगभग ३ घण्टा की इस बैठक में राष्ट्रीय-समिति के भावी-कार्यक्रम पर सुविस्तृत चर्चाएं हुईं।

साध्वीश्री प्रीतिसुधाजी के सरस णमोक्कार संगान से कार्यक्रम का आरंभ हुआ। आचार्यश्री देशभूषणजी के मंगलवचन के साथ प्रातःकालीन कार्यक्रम संपन्न हुआ।

इस बीच मुनिश्री नगराजजी, मुनिश्री सुशीलकुमारजी, श्री चिमनभाई, साहूशांतिप्रसाद जैन, संसद् सदस्य सेठ अचलसिंह, श्री प्रभुदयाल डाबडीवाल, डा० ए० एन० उपाध्ये, डा० नथमल टांटिया, श्री यशपाल जैन, श्री श्रीचंदरामपुरिया, श्री मनीचन्द भंडारी, श्री के० एम० लोढ़ा, सेठ चन्द्रकांत बी० सेठ प्रभृति वक्ताओं ने भाषण किए। अगली बैठक उसी दिन और वहीं ३ बजे होनी निश्चित हुई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२५०० वीं निर्वाण जयन्ती बंबई-समिति के अध्यक्ष श्री कस्तूरभाई भी मध्यान्ह के प्लेन से दिल्ली पहुँचे और उन्होंने ही इस दूसरी वैठक की अध्यक्षता की ।

आरम्भ में सुप्रसिद्ध साहित्यकर श्री जैनेन्द्रकुमार जी का संभाषण हुआ। उन्होंने कहा—जैन समाज का इतना प्रभावशाली प्रतिनिधित्व पहली बार ही केन्द्रित हुआ है । अच्छा हो निर्वाण समारोह के पश्चात् भी चारों जन समाजों की यह संयुक्त संसद अपना कार्य करती रही ।

प्रस्तुत वैठक में राष्ट्रीय समिति के कार्यक्रमों की एक सर्वसम्मत रूपरेखा निश्चित की गई, जिसमें अनेकानेक लोगों ने विचार— चर्चा में भाग लिया ।

१५ व्यक्तियों की एक्जीक्यूटिव कमेटी बना देने का निश्चय हुआ । ३-३ नाम एक-एक समाज से मांगे गए ।

लगभग ५ बजे सायं प्रस्तुत वैठक सानन्द सम्पन्न हुई ।

श्रीमान रिषभदासजी रांका अपने सहयोगी श्री चन्दमल 'चाद' सहित मिटिंग में कुछ दिन पूर्व ही दिल्ली आ गए थे । श्रीमान रांकाजी का आगमन सम-सामयिक परिस्थितियों में सामंजस्य लाने की दृष्टि से बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ ।

११ अप्रैल के सायं भारत जैन महामण्डल की ओर से समागत अतिथियों को भोज दिया गया ।

१२ अप्रैल के सायं जैन निशि मंदिर नई दिल्ली की ओर से अतिथियों को भोज दिया गया ।

भगवान महावीर ने कहा है

• जब तक जीवन है, सद्‌गुणों की आराधना करते रहना चाहिए ।

• सद्‌गुणों को अपनाना चाहिए, दुर्गुणों का निवारण करना चाहिए । आदमी गुणों से ही जगत में गुणी व पूज्य बनता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

BHAGWAN MAHAVIR 2500TH NIRVANA MAHOTSAVA

NATIONAL COMMITTEE

The following programme is proposed for the Nirvana Mahotsava :

1. **Time of Celebrations**

   (a) The Celebrations will extend for one year from 13th November, 1974.

   (b) Public Meetings will be held on 13th to 15th November, 1974 according to convenience.

   (c) The Celebrations will conclude on 15th November, 1975. Public Meetings will also be held on the conclusion of the celebration's.

2. **Organisational Set Up**

   (a) An Executive Committee consisting of 21 members will be constituted to plan and carry out the programmes of the National Committee. The Prime Minister will be the Chairman of the Executive Committee. The Executive Committee will appoint other Office Bearers.

   (b) The Executive Committee will form necessary Sub-Committees for various programmes.

   (c) State Governments should be requested to form State Committees and Districts Committees on the pattern of the National Committee to implement the programme of the National Committee.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Governors will be Patrons and the Chief Ministers Presidents with leading Jains and non-Jains as members on such committees. Members of the National Committee from each State will also be members of the State Committees or District Committee's as may be convenient.

(d) A separate office of the Executive Committee should be set up in the Ministry of Education and Social Welfare with adequate staff.

3. Plans and Projects

I. *Bhagwan Mahavir Memorial* :

(a) To establish a Bhagwan Mahavir Memorial at Delhi and also at other Metropolitan Centres. This memorial will be a multi-purpose complex with a Centre for Advance Studies in Jainology and in comparative Philosophy and Religion.

(b) The Memorial will also have a Museum on Jaina Art, Architecture and manuscripts. It will also have a Public Library particularly on Jaina Literature, Religion and Philosophy.

(c) The Memorial will also have an annexe to provide accomodation to Indian and Foreign Scholars to carry on Research and Studies in Jainology and comparative Religion and Philosophy.

II. *Educational and Academic* :

(a) To establish Centres of Advanced Studies on Jainism, Departments and Chairs in Universities in India and abroad.

(b) To establish Jain Sadhna Kendra.

(c) To publish Encyclopaedia of Jainism.

(d) Some leading Jain Organisations propose to undertake similar programmes in connection with the

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Nirvana Mahotsava such as Jain Vishwa Bharati, Virayatan, Bhagwan Mahavir Kendriya Sanskrit Vidyapith and Bhagwan Mahavir Kendra for higher studies in Prakrat languages and to establish Museums. The National Committees welcomes these efforts and will extend its co-operation to them.

III. *Literature and Publications* :

(a) To publish Literature pertaining to Jainism and on the life and Teachings of Bhagwan Mahavir.

(b) To publish books on Heritage of Jainism in art, architecture and literature.

(c) To publish in different languages Standard Works of Jainism with Texts and Commentaries.

(d) Series of Translations of important works of Jain Literature, Philosophy and Religion.

(e) Popular series of Booklets and Pamphlets on various aspects of Jainism and its folk literature.

(The Assistance of National Book Trust, Sahitya Akademy and other Organisations should be taken for publication work. A detailed programme of these Publications will be worked out by a Sub-Committee.)

4. Celebrations

(i) To organise mobile exhibition on Jain Art, Literature, Paintings, Sculpture and Manuscripts.

(ii) Talks, Features, discussions and such other items on Jainism and Life and Teachings of Bhagwan Mahavir should be broadcast regularly during the Celebration year on Akashvani, T. V. and through other International Agencies.

(iii) Documentary films on Jain Art, Architecture, Paintings and places of pilgrimage should be prepared

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi